'अभिधावृत्तिमातृका' तथा 'शब्दव्यापारविचार' का तुलनात्मक अध्ययन

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डॉक्टर ऑफ फिलॉसफी (संस्कृत) डिग्री हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

निर्देशकः-
डॉ० सुरेशचन्द्रपाण्डे
अवकाशप्राप्त प्रोफेसर एवं अध्यक्ष

शोधकर्त्रीः-
निरुपमा त्रिपाठी

संस्कृत विभाग,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद - २११ ००२

मई, १९९८

पञ्जीयन सख्या : D ८५२१५४४

इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।

यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते॥

'काव्यादर्श'

भूमिका

शब्द ही इस ससार मे शरीरधारियो के सकल व्यवहार का आधार है। यद्यपि विविध प्रकार के सङ्केतो से मनोभावो को प्रकट तो किया जा सकता है किन्तु अर्थो की अभिव्यक्ति शब्दो के माध्यम से ही होती है। भारतीय-चिन्तन-परम्परा मे शब्द-विवेचन का अति गम्भीर प्रतिपादन इसकी महत्ता को ही दर्शाता है।

भारतीय साहित्य मे शब्दविषयक विशद चर्चा व्याकरण, न्याय तथा मीमासा इन तीन शास्त्रो मे विशेष रूप से मिलती है। इन्ही को आधार बनाते हुए सस्कृत काव्याशास्त्र मे भी इस विषय पर विस्तृत चर्चा की गई है।

इन विचारधाराओ से पूर्व वैदिक परम्परा मे तो शब्द की उत्पत्ति सृष्टि से भी पूर्व मानी गई है। समस्त वैदिक साहित्य मे शब्द या वाणी को अपौरुषेय माना गया है। 'वाग्वै ब्रह्म च सुब्रह्मचेति' (ऐ० ब्रा०, ६/३) 'वागिति सर्वेदेवा.' (जै० उ०, १/६/२११), तथा -

सर्वाणि च भूतानि वाचैव सम्राड्ज्ञायन्ते

वाग् वै सम्राट् परम ब्रह्म । (बृहदा० उ०, ४/१,२)

इत्यादि वैदिक वाक्यो मे वाणी को ब्रह्म कहा गया है।

'छान्दोग्योपनिषद्' मे वाणी की महत्ता इस प्रकार बतायी गई है -

'यद् वाङ् नाभविष्यत् न धर्मो नाधर्मो न्याज्ञापयिष्यत न सत्य नानृत न साधु नासाधु न हृदयज्ञो नाहृदयज्ञो वागेवैतत् सर्व विज्ञापयति वाचमुपास्वेति। (छान्दोग्यो०, ७/२/६) ।

शब्द के स्वरूप और उसकी उत्पत्ति के विषय मे प्राचीन महर्षियो ने जो सिद्धान्त सहस्रो वर्ष पूर्व निश्चित किया था वह आज भी वैज्ञानिक तथा प्रामाणिक माना जाता है।

वैयाकरणो मे आचार्य भर्तृहरि के अनुसार लोक मे कोई भी ज्ञान शब्द के विना सम्भव ही नही है। इन्होने 'शब्दाद्वैत' नाम से एक नवीन प्रस्थान की स्थापना की तथा शब्द को 'अनादिनिधन ब्रह्म' कहते हुए समस्त ससार को इसी का विवर्त माना है -

अनादिनिधन ब्रह्म शब्दतत्त्व यदक्षरम्।

विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत.।। (वा० प०, १/१) ।

इसके अतिरिक्त भर्तृहरि ने शब्द को नित्य मानते हुए समस्त ज्ञान को उससे अनुविद्ध माना है -

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके य शब्दानुगमादृते।

अनुविद्धमिव ज्ञान सर्व शब्देन भासते॥ (वा० प०, १/११४) ।

शब्द क्या है इस विषय मे महाभाष्यकार पतञ्जलि की उक्ति है -

'प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते। तद्यथा शब्द कुरु मा शब्द कार्षी शब्द कार्यय माणवक इति ध्वनि कुर्वन्नेवमुच्यते। तस्माद् ध्वनि· शब्दः। (म० भा०, (१), १ १.१, पृ० १६) ।

नैयायिको ने भी शब्द को ध्वनि ही कहा है किन्तु उनके मत मे शब्द नश्वर ध्वनि रूप होता है। वक्ता द्वारा घट पटादि के उच्चारण के अनन्तर वे शब्द आकार्श मार्ग से विचरण करते हुए 'वीचितरङ्गन्याय' अथवा 'कदम्बमुकुलन्याय' से श्रोता की कर्णशष्कुली से उपहत आकाश-प्रदेश मे व्यक्त हो जाते है।

प्रत्येक शब्द किसी न किसी अर्थ का बोधक होता है इस विषय मे सभी विद्वान् एकमत है तथा नैयायिको को छोडकर प्राय सभी विचारक शब्द के साथ अर्थ के सम्बन्ध की नित्यता को भी स्वीकार करते है।

शब्द से अर्थ की प्रीतीति किसी न किसी 'व्यापार' के माध्यम से ही होती है। शब्द के व्यापार को ही 'शक्ति' तथा 'वृत्ति' के नाम से भी जाना जाता है। शब्द की यह शक्ति अथवा वृत्ति कितने प्रकार की होती है इस पर विद्वानो मे मतभेद पाया जाता है। मुख्य रूप से अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना नाम की तीन शब्द-शक्तियाँ ही मानी गई है। कही-कही तात्पर्य नामक चौथी शक्ति भी मानी गई है।

इन शक्तियो मे अभिधा शक्ति तो निर्विवाद रूप से सर्वत्र स्वीकृत है तथा लक्षणा भी प्राय· सभी विचारधाराओ मे मान्य है, किन्तु व्यञ्जना शक्ति वैयाकरणो तथा काव्यशास्त्र, मुख्यत आलङ्कारिको को छोड़कर अन्यत्र कही नही मानी गई है। शब्द की एक पृथक् वृत्ति के रूप मे इसका प्रादुर्भाव सर्वप्रथम आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' मे ही हुआ है। यद्यपि आनन्दवर्धन से पूर्व भी काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो मे प्रतीयमानार्थ अथवा व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता के सङ्केत मिलते है तथापि व्यङ्ग्यार्थ की बोधिका शक्ति 'व्यञ्जना' की वृत्यन्तर के रूप मे स्थापना का श्रेय आनन्दवर्धन को ही है। इसके पश्चात् आचार्य अभिनवगुप्त, आचार्य मम्मट, विश्वनाथ, पण्डितराजजगन्नाथ इत्यादि प्रबल समर्थको के विचारो मे व्यञ्जना पूर्णरूपेण प्रतिष्ठित हुई।

काव्यशास्त्रियो की इस 'व्यञ्जनावृत्ति' को अत्यधिक विरोध का भी सामना करना पड़ा। किन्ही आचार्यों ने अभिधा से ही प्रतीयमानार्थ की भी प्रतीति मान ली है। इस मत को मानने वाले दीर्घदीर्घतरअभिधावादी है जिनमे

भट्टलोल्लट प्रमुख है। कतिपय आचार्य व्यङ्ग्य कहे जाने वाले अर्थ की प्रतीति लक्षणा से ही मान लेते है। महिमभट्ट प्रभृति अनुमानवादियो ने तो अनुमान के द्वारा ही व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति मानी है।

व्यञ्जना-विरोधी विचारको मे आचार्य मुकुलभट्ट का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। इन्होने लक्षणा मे ही व्यञ्जना का अन्तर्भाव माना है। मुकुलभट्ट के अनुसार तो लक्षणा भी शब्द की पृथक् शक्ति नही है। इन्होने अभिधा के दस भेदो मे अन्तिम छ भेदो को ही लक्षणा कहा है। 'अभिधावृत्तिमातृका' नामक अपने ग्रन्थ मे मुकुलभट्ट ने अभिधा के दस भेदो की विशद विवेचना की है तथा आनन्दवर्धन एव मम्मट आदि ध्वनिवादी आचार्यो को मान्य वस्तु, अलङ्कार एव रसादि ध्वनि को इन्होने लक्षणा मे ही अन्तर्भूत मान लिया है।

'अभिधावृत्तिमातृका' की प्रतिक्रिया स्वरूप ही आचार्य मम्मट ने 'शब्दव्यापारविचार' नामक आलोचनात्मक ग्रन्थ की रचना की। यद्यपि मुकुलभट्ट के स्वमत विरोधी विचारो का खण्डन आचार्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' मे भी किया है तथापि 'शब्दव्यापारविचार' का प्रणयन 'अभिधावृत्तिमातृका' के सिद्धान्तो के परीक्षणार्थ ही हुआ है। इस प्रक्रिया मे मम्मट ने इसके विचारो को ग्रहण करने मे भी सकोच नही किया है। यही कारण है कि 'शब्दव्यापारविचार' मे कुछ ऐसे विषयो पर भी चर्चा हुई है जो कि 'काव्यप्रकाश' मे अविचारित है। जैसे - लक्ष्यार्थ की सापेक्षता, रूढा एव प्रयोजनवती लक्षणा के साथ-साथ अकार्या अथवा त्याज्य लक्षणा का प्रसङ्ग, अभिहितान्वयवाद, अन्विताभिधानवाद, समुच्यवाद तथा अखण्डार्थवाद, इन चारो के अन्तर्गत अभिधा तथा लक्षणा का पौर्वापर्य इत्यादि।

स्नातकोत्तर कक्षा के पाठ्यक्रम मे आचार्य मम्मटकृत 'काव्यप्रकाश' के अध्ययन का अवसर प्राप्त हुआ था। इसके द्वितीय उल्लास मे मम्मट ने पूर्वपक्ष के रूप मे उपस्थापना करते हुए उपादान लक्षणा के 'गौरनुबन्ध्य' तथा 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' उदाहरणो एव 'ताटस्थ्य सिद्धान्त' का खण्डन किया है। इसी प्रसङ्ग मे यह सहज ही जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि ये सिद्धान्त किस आचार्य अथवा ग्रन्थ के है ? इसके समाधान स्वरूप मुकुलभट्ट एव उनकी 'अभिधावृत्तिमातृका' का सक्षिप्त परिचय प्राप्त हुआ।

शोध के विषय का चयन करते समय मम्मट के द्वितीय ग्रन्थ 'शब्दव्यापारविचार' के विषय मे भी ज्ञात हुआ जिसे अधिकाश विचारको एव व्याख्याकारो ने 'काव्यप्रकाश' के द्वितीय उल्लास का विस्तृत रूप मानकर महत्त्वहीन सिद्ध करने का प्रयास किया है। 'शब्दव्यापारविचार' की उपादेयता 'अभिधावृत्तिमातृका' के साथ इसके तुलनात्मक अध्ययन से ही सिद्ध हो सकती थी, किन्तु इन दोनो ग्रन्थो का तुलनात्मक अध्ययन नही हुआ है इसी कारण 'अभिधावृत्तिमातृका तथा शब्दव्यापारविचार का तुलनात्मक अध्ययन' विषय पर शोध कार्य करने का विचार उत्पन्न हुआ।

प्रस्तुत शोधप्रबन्ध मे छ अध्याय है। प्रथम अध्याय है - 'विषय-प्रवेश'। इसके अन्तर्गत आचार्य मुकुलभट्ट एव आचार्य मम्मट का जीवन परिचय, काल, इनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा इनके पूर्ववर्तियो का दोनो आचार्यों पर प्रभाव की विवेचना की गई है।

द्वितीय अध्याय 'अभिधावृत्ति-विवेचन' है जिसमे अभिधावृत्ति के सक्षिप्त इतिहास के साथ-साथ मुकुलभट्ट तथा मम्मट के अनुसार अभिधा का स्वरूप, सङ्केतग्रह के प्रकार, जातिवादी वाजप्यायन, व्यक्तिवादी व्याडि का मत, महाभाष्यकार की 'चतुष्टयी शब्दप्रवृत्ति' इत्यादि विषयो का निरूपण है।

'लक्षणावृत्ति-विवेचन' नामक तृतीय अध्याय मे जिन विषयो पर चर्चा की गई है वे है - मुकुलभट्ट के पूर्व लक्षणा का स्वरूप, मुकुलभट्ट एव मम्मट के अनुसार लक्षणावृत्ति-विवेचन, मम्मट के परवर्ती कतिपय प्रमुख काव्यशास्त्रियो के अनुसार लक्षणावृत्ति तथा मुख्यार्थबाध मे अन्वयानुपपत्ति एव तात्पर्यानुपपत्ति पर विचार ।

चतुर्थ अध्याय के अन्तर्गत लक्षणा-भेदो की व्याख्या की गई है। इसमे मुकुलभट्ट एव मम्मट के लक्षणा भेदो की विस्तृत विवेचना सहित मम्मट के परवर्ती उल्लेखनीय आचार्यो के अनुसार लक्षणा-भेदो का सक्षिप्त-विवरण भी प्रस्तुत किया गया है।

मुकुलभट्ट की दृष्टि मे व्यञ्जनावृत्ति की स्थिति पञ्चम अध्याय मे प्रतिपादित की गई है। इसके अतिरिक्त इसमे आचार्य मम्मट के अनुसार व्यञ्जना का स्वरूप तथा व्यञ्जनाविरोधी मतो के खण्डन का विस्तृत विवेचन है।

षष्ठ अध्याय उपसहार है जिसमे मुकुलभट्ट एव मम्मट के मतो के साम्य एव वैषम्य को को क्रमानुसार दर्शाया गया है।

अन्त मे तीन परिशिष्ट भी है। परिशिष्ट 'क' मे 'अभिधावृत्तिमातृका' की विविध पाण्डुलिपियो का वर्णन है। परिशिष्ट 'ख' मे मुकुलभट्ट के ग्रन्थ का नाम 'अभिधावृत्तिमातृका' है अथवा 'अभिधावृत्तमातृका', इस पर चर्चा है। दो भिन्न सस्करणो से प्राप्त 'अभिधावृत्तिमातृका' के पाठ-भेदो की सूची परिशिष्ट 'ग' मे दी गई है।

परम पूज्य गुरु प्रोफेसर सुरेशचन्द्रपाण्डे (अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एव अध्यक्ष, सस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) के कुशल- निर्देशन मे यह शोध-प्रबन्ध पूर्ण हुआ है। गुरूदेव के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन मे मेरी लेखनी असमर्थ है। विषय-सामग्री के सङ्कलन से लेकर शोध-प्रबन्ध के लेखनपर्यन्त विद्वत्तापूर्ण परामर्शो, मार्ग-निर्देशन एव आशीर्वाद के रूप मे मुझे उनकी जो कृपा प्राप्त हुई है उसके लिए मै आजन्म उनकी ऋणी रहूँगी ।

डॉ० ज्ञानदेवीश्रीवास्तव (प्रोफेसर एव अध्यक्ष, सस्कृत विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) का आभार प्रकट करती हूँ जिन्होने शोध-काल मे मुझे विभागीय सुविधाएँ प्रदान की।

डॉ० रेवाप्रसादद्विवेदी (अवकाश प्राप्त प्रोफेसर एव अध्यक्ष, साहित्य-विभाग, प्राच्यविद्याधर्मविज्ञानसकाय, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) की हृदय से आभारी हूँ जिन्होने न केवल अपना बहुमूल्य समय देकर मेरी विषयगत

शङ्काओ का समाधान किया अपितु 'अभिधावृत्तिमातृका' तथा 'शब्दव्यापारविचार' नामक ग्रन्थो की निर्णयसागरीय सस्करण वाली वह दुर्लभ प्रतियाँ भी प्रदान की जिसका टङ्कण मूलग्रन्थो से उन्होने स्वय किया था ।

कु० पूर्णिमाचतुर्वेदी (प्रवक्ता, सस्कृत, क्रास्थवेट गर्ल्स इण्टर कॉलेज, इलाहाबाद) के प्रति भी श्रद्धावनत हूँ जिन्होने माध्यमिक कक्षाओ से ही सस्कृत के प्रति रुचि उत्पन्न की तथा उनके प्रेरक-वचनो की स्मृति आज भी सदैव सम्बल प्रदान करती है।

मै उन सभी गुरुजनो के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ जिनकी सतत शिक्षा के फलस्वरूप मेरी गति इस शोध-कार्य की पूर्ति मे बनी रही ।

मै उन विद्वानो के प्रति भी आभारी रहूँगी जिनके ग्रन्थो के अध्ययन से लाभान्वित हुई हूँ ।

मेरा शोध-प्रबन्ध पूर्ण होने मे मेरे परिवारजनो की उत्कट इच्छा ही मेरी सबसे बडी प्रेरणा रही है। शोध-प्रबन्ध के पूर्णत्व मे परिवार के प्रत्येक सदस्य की अहर्निश प्रेरणा मुझे शक्ति प्रदान करती रही है। एतदर्थ मै उन सबके प्रति अपना आभार प्रकट करती हूँ ।

विभिन्न पुस्तकालयो, विशेष रूप से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय स्थित केन्द्रीय पुस्तकालय तथा गङ्गानाथ झा केन्द्रीय सस्कृत शोध-सस्थान, इलाहाबाद स्थित पुस्तकालय के कर्मचारियो के प्रति भी मै धन्यवाद ज्ञापित करती हूँ जिन्होने दुर्लभ ग्रन्थो एव अन्य अपेक्षित शोध-पत्रिकाओ आदि को समुपलब्ध कराकर मुझे सहयोग प्रदान किया है।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग से कनिष्ठ तथा वरिष्ठ शोध-अध्येतावृत्ति के रूप मे प्राप्त आर्थिक सहायता हेतु उसके प्रति भी मेरा धन्यवाद ज्ञापित है।

अन्त मे मै इस शोध-प्रबन्ध के टङ्कणकर्ता श्री जयसिह को भी धन्यवाद देती हूँ जिन्होने पूर्ण मनोयोग से यथा सम्भव शुद्ध टङ्कण कार्य सम्पन्न किया है ।

निरुपमा त्रिपाठी
9. 5. 1998
(निरुपमा त्रिपाठी)

संक्षिप्त-सङ्केत-सूची

अ० को०	-	अमरकोष
अ० म०	-	अलङ्कारमहोदधि
अ० सर्व०	-	अलङ्कारसर्वस्वम्
अ० वृ० मा०	-	अभिधावृत्तिमातृका
आ०	-	आनन
उ०	-	उद्योत/उल्लास
ऐ० ब्रा०	-	ऐतरेयब्राह्मण
का० प्र०	-	काव्यप्रकाश
का० प्र०, बा० बो०	-	काव्यप्रकाश बालबोधिनी
का० मी०	-	काव्यमीमासा
काव्या० सा० स०	-	काव्यालङ्कारसारसग्रह
काव्या० ल० वृ०	-	काव्यालङ्कारसारसग्रह एव लघुवृत्ति की व्याख्या
काव्या० सू०	-	काव्यालङ्कारसूत्र
कोवि०	-	कोविदानन्द
च०	-	चतुर्थ
जै० उ०	-	जैमिनीय उपनिषद्
जै० सू०	-	जैमिनीय सूत्र
त० भा०	-	तर्कभाषा
त० वा०	-	तन्त्रवार्तिक
तृ०	-	तृतीय
द्वि०	-	द्वितीय
ध्व०	-	ध्वन्यालोक
ध्व० लो०	-	ध्वन्यालोक लोचन
न्या० भा०	-	न्यायभाष्य
न्या० म०	-	न्यायमञ्जरी
न्या० सि० मु०	-	न्यायसिद्धान्तमुक्तावली
न्या० सू०	-	न्यायसूत्र
प०	-	पञ्चम
प० ल० म०	-	परमलघुमञ्जूषा
परि०	-	परिच्छेद
पा० सू०	-	पाणिनिसूत्र
पृ०	-	पृष्ठ
प्रता० रु०	-	प्रतापरुद्रीयम्
प्र०	-	प्रथम/प्रदीप
प्रस्ता०	-	प्रस्तावना

प्रा० भा०	-	प्राचीन भारत
भा० काव्या०	-	भामह काव्यालङ्कार
भा० द०	-	भारतीय दर्शन
भा० द० सर्वे०	-	भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण
म० भा०	-	महाभाष्य
मी० द०	-	मीमासादर्शनम्
मी० द० विवे० इति०	-	मीमासादर्शन का विवेचनात्मक इतिहास
मी० सू०	-	मीमासा-सूत्र
व्य० वि०	-	व्यक्तिविवेक
व० जी०	-	वक्रोक्तिजीवितम्
वा० प०	-	वाक्यपदीयम्
वा० मा०	-	वाक्यार्थमातृका
वा० मा० वृ०	-	वाक्यार्थमातृका-वृत्ति
वि०	-	विमर्श
वे० परि०	-	वेदान्तपरिभाषा
वे० सा०	-	वेदान्तसार
वै० सि० ल० म०	-	वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा
वृ० वा०	-	वृत्तिवार्तिकम्
वृ० समु०	-	वृत्तिसमुच्चय
वृहदा० उ०	-	वृहदारण्यकोपनिषद्
र० गङ्गा०	-	रसगङ्गाधर
रा० त०	-	राजतरङ्गिणी
रु० काव्या०	-	रुद्रट काव्यालङ्कार
स० का० इति०	-	सस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास
सा० द०	-	साहित्यदर्पण
सि० को०	-	सिद्धान्त कौमुदी
श्लो० वा०	-	श्लोकवार्तिक
श० व्या० वि०	-	शब्दव्यापारविचार
शा० भा०	-	शाबरभाष्य

विषयानुक्रमणिका

विषय - प्रवेश

व्याकरण, मीमासा तथा न्याय शास्त्र से किसी न किसी रूप मे प्रभावित 'साहित्यशास्त्र' 'काव्यशास्त्र' का ही दूसरा नाम है। काव्य के सौन्दर्यभूत विविध मौलिक सिद्धान्तो की विशद विवेचना करने वाला शास्त्र ही काव्यशास्त्र के नाम से जाना जाता है। प्राचीन काल मे 'काव्यशास्त्र' के लिए 'काव्यालङ्कार' शब्द का प्रयोग होता था। भामह, उद्भट, वामन आदि प्राचीन आचार्यो के ग्रन्थो के नाम भी इसी आधार पर थे। 'अलङ्कार' 'सौन्दर्य' का बोधक था जैसा कि आचार्य वामन ने लिखा है- 'सौन्दर्यमलङ्कार'। सम्भवत इसी कारण सौन्दर्य का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र को ही 'काव्यालङ्कार' कहा जाता था।

प्रारम्भिक काल मे 'साहित्य' शब्द 'काव्य' के अर्थ मे प्रयुक्त होता था। जैसे 'साहित्यसङ्गीतकलाविहीन' मे 'साहित्य' पद काव्य के लिए ही है। वस्तुत 'साहित्य' शब्द 'सहित' से बना है जिसका तात्पर्य है 'सहभाव'। काव्य मे शब्द एव अर्थ का सहभाव होता ही है, इसी कारण शब्द और अर्थ के माध्यम से भावो की सुन्दरतम अभिव्यक्ति 'काव्य' अथवा 'साहित्य' कहलायी। सर्वप्रथम आचार्य भामह ने शब्द एव अर्थ के सहभाव को स्वीकारते हुये काव्य की परिभाषा दी - 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्'।[1] भामह के पश्चात् आचार्य रुद्रट[2] एव आचार्य कुन्तक[3] ने भी शब्द तथा अर्थ के साहित्य को ही काव्य कहा। इसके पश्चात् परवर्ती आचार्यो मे तो शब्द तथा अर्थ को काव्य-लक्षण मे महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करने की एक परम्परा ही बन गई।

राजशेखर की 'काव्यमीमासा' मे 'साहित्य' एव 'साहित्यविद्या' शब्दो के प्रयोग मिलते है।[4] इसमे 'साहित्यविद्या' की व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है-

---

[1] शब्दार्थौ सहितौ काव्य गद्य पद्य च तद्द्विधा।
सस्कृत प्राकृत चान्यदपभ्रश इति त्रिधा।। (भा० काव्या०, पृ० ६)।

[2] ननु शब्दार्थौ काव्य शब्दस्तत्रार्थवाननेकविध। (रु ० काव्या०, २/१, पृ० १७)।

[3] शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्य तद्विदाह्लादकारिणि।। (व० जी०, १/७, पृ० १८)।

[4] पञ्चमी साहित्यविद्या इति यायावरीय। सा हि चतसृणामपि विद्याना निस्यन्द। (का० मी०, पृ० ८)।

शब्दार्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या।[1]

आचार्य मुकुलभट्ट ने अपने ग्रन्थ मे स्पष्ट रूप से साहित्य शब्द का प्रयोग 'साहित्यविद्या' अथवा 'काव्यशास्त्र' के अर्थ मे ही किया है।

सस्कृत साहित्य अथवा काव्यशास्त्र के अपने विविध सिद्धान्त है जिन पर दार्शनिक प्रभाव भी मिलता है। अनेक महत्वपूर्ण काव्यशास्त्रीय विषयो को भली-भाँति समझने के लिए दार्शनिक सिद्धान्तो का आश्रय लेना अनिवार्य हो जाता है। सस्कृत काव्यशास्त्र के कई ऐसे आचार्य हुए है जिनकी ख्याति 'दार्शनिक काव्यशास्त्री' के रूप मे है जैसे- भामह, दण्डी, धर्मकीर्ति, मुकुलभट्ट, महिमभट्ट, अप्पयदीक्षित भट्टनायक, अभिनवगुप्त, भोजराज, हेमचन्द्र, धनञ्जय, धनिक पण्डितराजजगन्नाथ इत्यादि।

इन दार्शनिक काव्यशास्त्रियो मे आचार्य मुकुलभट्ट प्रमुख माने जाते है। इनका एकमात्र ग्रन्थ है - 'अभिधावृत्तिमातृका'। पन्द्रह कारिकाओ वाले इस संक्षिप्त ग्रन्थ की वृत्ति भी स्वय मुकुलभट्ट ने लिखी थी। शब्दशक्ति विवेचन इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय है। मुकुलभट्ट ने शब्द की एक ही वृत्ति अथवा व्यापार को माना है और वह है- अभिधा। इस अभिधा के दस भेद होते है। लक्षणा इनके अनुसार पृथक् वृत्ति न होकर अभिधा का ही भेद है। ध्वनिवादियो को मान्य व्यञ्जना नामक शक्ति का अन्तर्भाव इन्होने लक्षणा मे ही करने का प्रयास किया है। यही कारण है कि मुकुलभट्ट की गणना ध्वनि-विरोधी आचार्यों मे भी प्रमुखता से होती है।

मुकुलभट्ट का 'शब्दशक्ति-विवेचन' काव्यशास्त्रीय जगत् मे विशेष महत्व रखता है। इसकी महत्ता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि वाग्देवतावतार आचार्य मम्मट ने अपने ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' मे इनके कतिपय सिद्धान्तो का खण्डन किया है। उपादान लक्षणा के 'गौरनुबध्य' तथा 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' उदारण और शुद्धा लक्षणा के प्रसङ्ग मे ताटस्थ्य - सिद्धान्त इत्यादि का मम्मटकृत खण्डन प्रमुख माना जाता है। आचार्य मम्मट के खण्डन की विशिष्ट शैली रही है कि इन्होने इस प्रक्रिया मे यथासम्भव किसी आचार्य का नाम नही लिया है। यही कारण है कि मुकुलभट्ट का खण्डन करते हुए भी इन्होने कही भी इनका नाम उल्लिखित नही किया है। मम्मट के पूर्व तो कितने ही आचार्य ऐसे होगे जिनका मत इनके मतो का विरोधी रहा होगा किन्तु इनके समक्ष मुकुलभट्ट ही शब्दशक्ति के ऐसे निष्णात आचार्य रहे होगे जिनके विचारो का खण्डन किये विना ये अपने सिद्धान्तो की स्थापना नही कर सकते थे। इस प्रकार इससे भी मुकुलभट्ट की महत्ता ही सूचित होती है।

श्रेष्ठ व्यक्तियो का उल्लेख स्तुतिपरक हो अथवा खण्डनात्मक गौरव के लिए ही होता है जैसा कि आचार्य महिमभट्ट ने ध्वनिकार के लिये लिखा भी है-

---

[1] का० मी०, पृ० ११ ।

इह सम्प्रतिपत्तितोऽन्यथा वा ध्वनिकारस्य वचो विवेचन न।

नियत यशसे प्रपत्स्यते यन्महता सस्तव एव गौरवाय॥[1]

मुकुलभट्ट की 'अभिधावृत्तिमातृका' से प्रभावित होकर ही आचार्य मम्मट ने 'शब्दव्यापारविचार' नामक एक प्रकरण ग्रन्थ की रचना की। अन्यथा जिस शब्दशक्ति का विस्तृत विवेचन वे 'काव्यप्रकाश' मे कर चुके थे उसके ही पुन सक्षिप्त वर्णन का क्या औचित्य था ? आचार्य मम्मट ने मुकुलभट्ट का खण्डन तो किया है किन्तु केवल उन्ही अशो का जिनसे वे असहमत थे। जिन सिद्धान्तो मे कोई विरोध नही था, उसे अपनाने मे भी इन्होने कोई सकोच नही किया है। 'अभिधावृत्तिमातृका' के अनेक विचारो को आधार बनाते हुए मम्मट ने उसी के अनुसार वर्णन भी किया है। इसके स्पष्ट प्रमाण 'काव्यप्रकाश' तथा 'शब्दव्यापारविचार' मे देखे जा सकते है।

'काव्यप्रकाश' एव 'शब्दव्यापारविचार' के अनेक स्थल ऐसे है जिनमे पूर्वपक्ष के रूप मे उपस्थापित किये गये तर्कों को 'अभिधावृत्तिमातृका' के परिशीलन के विना भली-भॉति नही समझा जा सकता। इस कारण से यह कहा जा सकता है कि 'अभिधावृत्तिमातृका' आचार्य मम्मट के शब्दशक्ति सिद्धान्त की आधार भूमि है।

१ १ मुकुलभट्ट का जीवन-परिचय

मुकुलभट्ट ने अपने ग्रन्थ मे अपने जीवन-वृत्तान्त की कही कोई स्पष्ट चर्चा नही की है और न इनके जीवन के विषय मे किसी प्राचीन ग्रन्थ से ही कोई सूचना मिलती है। इनके विषय मे जो कुछ भी कहा जा सकता है उसका आधार इनकी 'अभिधावृत्तिमातृका' तथा इनके शिष्य प्रतीहारेन्दुराज कृत इनकी प्रशसा ही है। इस कारण इनके जीवन का परिचय सक्षिप्त ही है।

अपने ग्रन्थ की अन्तिम कारिका मे मुकुलभट्ट ने अपने पिता का नाम उल्लिखित किया है[2] जिससे ज्ञात होता है कि उनका नाम भट्ट कल्लट था। मुकुलभट्ट कश्मीर के निवासी थे। अन्तिम कारिका के वृत्तिभाग मे इन्होने स्वय को शारदा देवी के चरण-कमल की धूलि से पवित्र भूमि का निवासी कहा है।[3] शारदा कश्मीर की अधिष्ठात्री देवी मानी जाती है।[4]

---

[1] व्य० वि०, १/३, पृ० ५ ।

[2] भट्टकल्लटपुत्रेण मुकुलेन निरूपिता।
सूरिप्रबोधनायेयमभिधावृत्तिमातृका॥ अ० वृ० मा०, पृ० ७३ ।

[3] शारदाचरणरज कणपवित्रितस्थलवास्तव्यश्रीकल्लटात्मजभट्टमुकुलविरचिता – । (अ० वृ० मा०, पृ० ७३) ।

[4] विल्हण ने कश्मीर को शारदा-देश कहा है -
सहोदरा कुड्कुमकेसराणा भवन्ति नून कविताविलासा।

कल्हण की 'राजतरङ्गिणी' मे कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के शासन-काल मे (८५४ ई०-८८३ ई०) कल्लट नामक व्यक्ति के अवतीर्ण होने का उल्लेख है।[१] इसमे कल्लट का अवतार सिद्ध पुरुष के रूप मे माना गया है। प्रो० पी० वी० काणे ने कल्लट को शैव सम्प्रदाय की स्पन्दशाखा से सम्बन्धित माना हे।[२]

कश्मीर मे शैव-दर्शन का अत्यन्त महत्त्व है। शिवसूत्र ही इस दर्शन का आधार है। इन सूत्रो की रचना साक्षात् शिव द्वारा मानी जाती है। शैव-शास्त्र मे भी 'स्पन्दशाखा' को विशेष महत्त्व प्राप्त है। कल्लट ने शिवसूत्र पर स्पन्द सूत्र लिखे थे। इसका प्रमाण है स्पन्द-कारिका के अन्त मे इसके रचनाकार के रूप मे कल्लट का नाम उल्लिखित होना -

समाप्त स्पन्दसर्वस्व प्रवृत्त भट्टकल्लटात्

स्वप्रकाशैकचित्तस्वपरिग्म्भरसोत्सुकात्।

डॉ० के०सी० पाण्डेय ने अपने ग्रन्थ 'अभिनवगुप्त' मे भट्ट कल्लट की चार कृतियो का उल्लेख किया है - स्पन्दसर्वस्व, तत्त्वार्थचिन्तामणि, स्पन्दसूत्र तथा मधुवाहिनी।[३]

कश्मीर के प्रसिद्ध यही भट्टकल्लट मुकुलभट्ट के पिता थे। इनके द्वारा अपने पिता का नामोल्लेख भी उनकी प्रसिद्धि का ही सूचक है। कश्मीर की परम्परा मे इतने प्रसिद्ध व्यक्ति का पुत्र होना भी इनके लिए गौरव का ही विषय था। सम्भवत यही कारण है कि इन्होने अपने विषय मे अधिक कुछ भी लिखने की आवश्यकता नही समझी होगी। अपने परिचय हेतु अपने पिता का नामोल्लेख मात्र कर दिया है।

मुकुलभट्ट के शिष्य थे प्रतीहारेन्दुराज। इन्होने उद्भट के 'काव्यालङ्कारसारसग्रह' पर 'लघुवृत्ति' नामक टीका लिखी है। इस टीका के प्रारम्भ मे ही प्रतीहारेन्दुराज ने स्वय को मुकुलभट्ट का शिष्य बताया है[४] तथा उसके अन्त मे मुकुलभट्ट की अत्यधिक प्रशसा की है।[५] इससे ज्ञात होता है कि द्विजश्रेष्ठ मुकुलभट्ट मीमासा, व्याकरण, तर्क तथा

न शारदादेशमपास्य दृष्टतेषा यदन्यत्र मया प्ररोह ॥

[१] अनुग्रहाय लोकाना भट्टश्रीकल्लटादय
अवन्तिवर्मण काले सिद्धा भुवमवातरन्॥ (रा० त०, ५/६६)।

[२] स० का० इति०, काणे, पृ० २७२ ।

[३] 'अभिनवगुप्त', डॉ० के० सी० पाण्डेय, पृ० १५७।

[४] विद्वदग्र्यान्मुकुलादधिगम्य विविच्यते।
प्रतीहारेन्दुराजेन काव्यालङ्कारसग्रह ॥ (काव्या० ल० वृ०, पृ० २४८)।

[५] मीमासासारमेघात्पदजलधिविधोस्तर्कमाणिक्यकोशात्
साहित्यश्रीमुरारेर्बुधकुसुममधो शौरिपादाब्जभृङ्गात्।
श्रुत्वा सौजन्यसिन्धोर्द्विजवरमुकुलात् कीर्त्तिवल्ल्यालवालात्
काव्यालङ्कारसारे लघुवृत्तिमधात् कौङ्कण श्रीन्दुराज ॥ (काव्या० ल० वृ०, पृ० ४३२)।

साहित्य के पण्डित थे। इन विविध प्रकार के शास्त्रो मे इनके पाग्ङ्क्त होने का सङ्केत तो 'अभिधावृत्तिमातृका' मे भी मिलता है। इसमे दस प्रकार की अभिधा का विस्तार से वर्णन करने के पश्चात् इसे समस्त जागतिक व्यवहार मे व्याप्त माना गया है। मुकुलभट्ट अभिधा का प्रसार पद, वाक्य, प्रमाण तथा साहित्य, इन सभी शास्त्रो मे मानते है।[१] ये सभी शास्त्र धर्म, अर्थ आदि चारो पुरुषार्थों के लिए उपयोगी सभी विद्याओ की प्राप्ति के उपाय है। इससे यही प्रतीत होता है कि उपर्युक्त शास्त्रो को जीवन मे उपयोगी मानने वाले मुकुलभट्ट को स्वय भी इन शास्त्रो का अगाध ज्ञान था।

इन शास्त्रो मे 'पदशास्त्र' व्याकरण को कहा जाता है क्योकि उसमे पदो का ज्ञान होता है।[२] 'वाक्य' का तात्पर्य मीमासा-शास्त्र है क्योकि उसमे वाक्य के समन्वय का निश्चय होता है।[३] प्रमाण के ज्ञान का हेतु होने से तर्क अथवा 'न्याय' को ही 'प्रमाण' कहा जाता है।[४]

१. २ मुकुलभट्ट एक दार्शनिक काव्यशास्त्री

आचार्य मुकुलभट्ट की प्रसिद्धि साहित्य जगत् मे एक दार्शनिक काव्यशास्त्री के रूप मे है। यद्यपि ये व्याकरण, न्याय तथा साहित्य के भी विद्वान् थे, तथापि मीमासा-दर्शन के प्रति इनका विशेष झुकाव था। प्रतीहारेन्दुराज ने भी इनकी प्रशसा मे जो पक्तियाँ लिखी है उनमे इनके लिए प्रथम विशेषण ही 'मीमासासारमेघ' प्रयुक्त हुआ है। मुकुलभट्ट ने शब्दार्थविवेचन को अपने ग्रन्थ का विषय बनाया है। 'वाक्यशास्त्र' होने के कारण मीमासा-दर्शन मे भी शब्द, अर्थ तथा इनके नित्य सम्बन्ध की विस्तृत चर्चा मिलती है। 'अभिधावृत्तिमातृका' के कतिपय उदाहरण पूर्ववर्ती मीमासा ग्रन्थो से ही लिये गये है जैसे - 'गौरनुबन्ध्य', 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इत्यादि। इसके अतिरिक्त इन्होने शबरस्वामी तथा कुमारिलभट्ट का मत भी आदर सहित उद्धृत किया है[५] साथ ही भर्तृमित्र की कारिका भी उद्धृत की है।[६] भर्तृमित्र को प्रो० पी० वी० काणे ने मीमासा का लेखक बताया है।[७] प० राधाकृष्णन ने भी भर्तृमित्र को शबर स्वामी के

---

[१] दशविधेनानेनाभिधावृत्तेन समग्रस्य वाक्परिस्पन्दस्य व्याप्तत्वादनेन व्याकरणमीमासातर्कसाहित्यात्मकेषु चतुर्षु शास्त्रेषूपयोगात् तद्द्वारेण च सर्वासु विद्यासु सकलव्यवहारमूलभूतासु प्रसारणादस्य दशविधस्याभिधावृत्तस्य सकलव्यवहारव्यापित्वमाख्यातम्। (अ० वृ० मा०, पृ० ७३) ।

[२] पदावगतिहेतुत्वात् पद व्याकरणम्। (अ० वृ० मा०, पृ० ७२)।

[३] वाक्यसमन्वयावसायहेतुत्वाद् वाक्य मीमासा। (अ० वृ० मा०, पृ० ७२)।

[४] प्रमाणप्रतिपत्तिकारित्वात् प्रमाण तर्क। (अ० वृ० मा०, पृ० ७२)।

[५] (क) यदुक्तमाचार्यशबरस्वामिना - कथ पुन ---।
(ख) तदुक्त भट्टकुमारिलेन - निरूढा लक्षणा ---। (अ० वृ० मा०, पृ० २५)।

[६] --- आचार्यभर्तृमित्रेण प्रदर्शितम्- अभिधेयेन सबन्धात् ---। (अ० वृ० मा०, पृ० ५०)।

[७] स० का० इति०, काणे, पृ० २७२ ।

पूर्ववर्ती जैमिनि-सूत्र के भाष्यकार के रूप मे स्वीकार किया है। भर्तृमित्र का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नही है।[1] इतना होते हुए भी मुकुलभट्ट ने मीमासको से भिन्न मत भी प्रस्तुत किया है। मीमासक गौणी को लक्षणा से पृथक् वृत्ति के रूप मे स्वीकार करते है किन्तु इन्होने इसे लक्षणा से भिन्न नही माना है। शब्द का अर्थ केवल जाति को मानने के सिद्धान्त का खण्डन किया है। यह भी मीमासको का ही मत है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि मुकुलभट्ट पर दार्शनिक प्रभाव, विशेषकर मीमासा-दर्शन का, अधिक था। मीमासा के सूक्ष्म से सूक्ष्मतम विषयो का ज्ञान इन्हे था किन्तु इसके साथ ही न्याय, व्याकरण तथा साहित्यशास्त्र के भी ये उच्चकोटि के पण्डित थे। अपने पूर्ववर्ती वैयाकरणो तथा साहित्यशास्त्रियो से भी ये प्रभावित रहे है।

१ ३ मुकुलभट्ट का काल

सस्कृत साहित्य के प्राचीन कवियो एव काव्यशास्त्रियो का समय-निर्धारण विद्वानो के लिए सर्वाधिक विवाद का विषय रहा है क्योंकि अधिकाश कवि तथा काव्यशास्त्री ऐसे है जिन्होने अपने व्यक्तिगत जीवन के विषय मे कुछ भी नही लिखा है। मुकुलभट्ट ने अपने ग्रन्थ के अन्त मे अपने पिता का नाम देकर काल-निर्णय के कार्य को अपेक्षाकृत सरल कर दिया है।

मुकुलभट्ट के पिता भट्टकल्लट थे। 'राजतरङ्गिणी' के अनुसार कल्लट अवन्तिवर्मा के शासन-काल मे अवतीर्ण हुए थे। कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा का शासन-काल सुनिश्चित है। इनका समय ८५५ ई० से ८८३ ई० तक माना जाता है। अवन्तिवर्मा की मृत्यु ८८३ ई० मे हुई थी।[2] इस प्रकार भट्टकल्लट का समय ८५५ ई० से ८८३ ई० के मध्य ही माना जा सकता है।

अवन्तिवर्मा के शासन-काल मे ही ध्वनिकार आनन्दवर्धन भी हुए थे। जैसा कि राजतरङ्गिणी के इस पद्य से स्पष्ट है-

> मुक्ताकण शिवस्वामी कविरानन्दवर्धन
>
> प्रथा रत्नाकरश्चागात्साम्राज्येऽवन्तिवर्मण ॥ (५/३४)

राजतरङ्गिणी मे जहा कल्लट के लिए अवन्तिवर्मा के काल मे 'अवतीर्ण' होने का उल्लेख है वही आनन्दवर्धन के प्रसिद्ध होने की बात कही गई है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कल्लट ने जिस समय जन्म लिया उस

---

[1] भा० द० (II), डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० ३२३ ।

[2] प्रा० भा०, डॉ० राजबली पाण्डेय, पृ० ३४२ ।

समय तक आनन्दवर्धन कवि के रूप मे प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। इस दृष्टि से आनन्दवर्धन को कल्लट का वृद्धसमकालीन कहा जा सकता है। इस प्रकार मुकुलभट्ट का समय आचार्य आनन्दवर्धन के पश्चात् का सिद्ध होता है।

मुकुलभट्ट का आनन्दवर्धन से परवर्ती होने का सङ्केत 'अभिधावृत्तिमातृका' से भी मिलता है। इसमे कई स्थलो पर 'सहृदयै' पद आया है। एक स्थल पर तो मुकुलभट्ट स्पष्ट लिखते हे कि सहृदय ने नवीन स्थापना कहकर जिस ध्वनि का वर्णन किया था, उसका अन्तर्भाव लक्षणा मे ही हो जाता है।[1] यहाँ यद्यपि मुकुलभट्ट ने आनन्दवर्धन का नाम नही लिया है किन्तु यह तो निर्विवाद रूप से माना जाता है कि आनन्दवर्धन ही ध्वनि-सिद्धान्त के सस्थापक आचार्य थे। इस प्रकार मुकुलभट्ट आनन्दवर्धन से तो परवर्ती थे ही, यह सिद्ध है। अत इनका समय निर्धारित करने से पूर्व अन्य प्रमाणो से भी आनन्दवर्धन का समय ज्ञात करना आवश्यक हो जाता है।

'ध्वन्यालोक' मे अनेक स्थलो पर आदरपूर्वक उद्भट का उल्लेख है।[2] उद्भट ने भामह के ग्रन्थ पर टीका लिखी थी जो 'भामह-विवरण' अथवा 'भामह-विवृति' के नाम से प्रसिद्ध है। भामह का समय सप्तम शताब्दी या उसके कुछ बाद का ही माना गया है।[3] उद्भट को कश्मीर की परम्परा मे जयापीड का सभापति माना जाता है।[4] जयापीड का समय ७७६ ई० से ८१३ ई० तक माना गया है। इस आधार पर उद्भट का समय आठवी शताब्दी के मध्य से नवी शताब्दी के प्रारम्भ तक माना जा सकता है।[5] राजशेखर ने 'काव्यमीमासा' मे आनन्दवर्धन का उल्लेख किया है।[6] राजशेखर का समय ६०० ई० अथवा इसके कुछ पूर्व का ही माना गया है।[7] इस प्रकार आनन्दवर्धन का समय ८५० ई० से ८६० ई० के मध्य निश्चित रूप से माना जा सकता हे।

आनन्दवर्धन का समय सुनिश्चित मान लेने के पश्चात् मुकुलभट्ट के काल-निर्धारण मे कठिनाई नही रह जाती। आनन्दवर्धन को मुकुलभट्ट के पिता भट्टकल्लट का वृद्धसमकालीन मानने पर भी यह कहा जा सकता है कि कल्लट का जन्म ८५५ ई० से ८६५ ई० के मध्य हो चुका था। इस आधार पर मुकुलभट्ट का समय ८६० ई० से ६४०

---

[1] लक्षणामार्गावगाहित्व तु ध्वने सहृदयैर्नूतनतयोपवर्णितस्य विद्यत इति— । (अ० वृ० मा०, पृ० ६६) ।

[2] (क) नन्वलङ्कारान्तरप्रतिभायामपि श्लेषव्यपदेशो भवतीति दर्शित भट्टोद्भटेन - - -। (ध्व०, द्वि० उ०, पृ० १६५) ।
(ख) अन्यत्र वाच्यत्वेन प्रसिद्धो यो रूपकादिरलङ्कार सोऽन्यत्र प्रतीयमानतया बाहुल्येन प्रदर्शितस्तत्रभवद्भिर्भट्टोद्भटादिभि । (ध्व०, द्वि० उ०, पृ० २२३) ।

[3] स० का० इति०, काणे, पृ० १२७ , स० का० इति०, डे०, पृ० ४७ ।

[4] विद्वान्दीनारलक्षेण प्रत्यह कृतवेतन
भट्टोऽभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्तु सभापति । (रा० त०, ४/४६५)

[5] स० का० इति०, काणे, पृ० १७३ ।

[6] 'उचितानुचितविवेको व्युत्पत्ति' इति यायावरीय । प्रतिभाव्युत्पत्त्यो प्रतिभा श्रेयसी इत्यानन्द । (का० मी०, पृ० ३४) ।

[7] स० का० इति०, काणे, पृ० २७०, स० का० इति०, डे०, पृ० १११ ।

ई० तक माना जा सकता है। इन्होने 'अभिधावृत्तिमातृका' जैसे गम्भीर विषय वाले ग्रन्थ का प्रणयन अल्पायु मे तो किया नही होगा अत इसकी रचना ६२० ई० से ६४० ई० के मध्य हुई होगी।

१. ४ मुकुलभट्ट की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

मुकुलभट्ट जिस काल मे हुए उस काल तक व्याकरण एव मीमासा-शास्त्र अपने विकास की पराकाष्ठा पर थे, न्यायशास्त्र का भी विकास हो चुका था तथा साहित्यशास्त्र विकासमान था। उस समय तक विविध महत्त्वपूर्ण काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो का प्रणयन भी हो चुका था।

आचार्य मुकुलभट्ट किस शास्त्र से किस सीमा तक प्रभावित थे यह ज्ञात करने के लिए उनके समय तक व्याकरण, मीमासा, न्याय तथा काव्यशास्त्र से सम्बन्धित विकास की सक्षिप्त चर्चा आवश्यक है।

१. ४ १ व्याकरण

वाक् तत्त्व का प्राचीन काल से ही सूक्ष्म विश्लेषण करने वाले भारतीय मनीषियो के मनन तथा चिन्तन के फलस्वरूप विविध प्रातिशाख्य एव व्याकरण ग्रन्थो की रचना हुई। व्याकरण का प्राचीन नाम 'शब्दानुशासन' था। इसका मुख्य उद्देश्य शब्दो की शुद्धता एव अशुद्धता का निर्णय करना ही है। व्याकरण मे शब्द तथा अर्थ का असाधारण दर्शन प्रतिपादित है। इसकी उपयोगिता बताते हुए आचार्य भर्तृहरि ने लिखा है-

अर्थप्रवृत्तितत्त्वाना शब्द एव निबन्धनम्।

तत्त्वावबोध शब्दाना नास्ति व्याकरणादृते॥ (वा० प०, १/१३)

सस्कृत भाषा का व्याकरण अत्यन्त प्राचीन काल से ही अस्तित्व मे था। पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' मे आपिशलि (६/१/५२), काश्यप (पा० सू०, १/२/२५), गार्ग्य (८/३/२०), शाकटायन (८/४/५०), स्फोटायन (६/१/१२३), इत्यादि प्राचीन आचार्यों का उल्लेख हुआ है। अत्यन्त प्राचीनकाल मे व्याकरण के दो प्रमुख सम्प्रदाय थे- ऐन्द्र एव शैव । शैव सम्प्रदाय का प्रतिनिधित्व करने वाले आचार्य पाणिनि की अष्टाध्यायी ही सभी व्याकरणो मे प्रतिष्ठित तथा श्रेष्ठ मानी जाती है । महामुनि पाणिनि का जन्म बुद्ध से पूर्व लगभग ई०पू० ३०० माना जाता है।

पाणिनि से कुछ शताब्दी बाद आचार्य कात्यायन हुए जिन्होने इनके सूत्रो पर वार्तिक लिखा। इसके माध्यम से इन्होने पाणिनि द्वारा विस्मृत अथवा अदृष्ट विषयो पर प्रकाश डाला ।

पाणिनीय सूत्रो एव वार्तिको का स्वरूप अत्यन्त सक्षिप्त होने के कारण इनकी व्याख्या की आवश्यकता पडी। इस दिशा मे महर्षि पतञ्जलि का योगदान व्याकरण-शास्त्र मे अनुपम माना जाता है जिन्होने पाणिनि के व्याकरण

पर महाभाष्य की रचना की। इनका समय ई०पू० १५० माना जाता है। अपनी प्रवाहपूर्ण तथा सरल शेली के कारण ही यह महाभाष्य अपूर्व हे। इसे विविध दार्शनिक चिन्तनो का बीज भी माना जाता हे।[१]

पाणिनि, कात्यायन एव पतञ्जलि ये तीनो ही आचार्य मुनित्रय के नाम से जाने जाते है। इनमे भी क्रमश बाद वाले आचार्य को अधिक प्रामाणिक माना गया है।[२]

पतञ्जलि के व्याकरण मे जो दार्शनिकता उपलब्ध होती है उसका प्रारम्भ इनसे पूर्व भी हो चुका था। महाभाष्य मे पतञ्जलि ने स्वय ही व्याडि नामक आचार्य का उल्लेख किया हे जिन्होने 'सग्रह' नामक ग्रन्थ कोई लिखा था जिसमे शब्द के स्वरूप का दार्शनिक विवेचन हुआ है।[३] इन्ही दार्शनिक वैयाकरणो की परम्परा मे आचार्य भर्तृहरि का नाम प्रमुखता से लिया जाता है। ये चतुर्थ शताब्दी के आचार्य थे। इन्होने 'वाक्यपदीयम्' नामक ग्रन्थ की रचना की। इसके तीन भाग है- ब्रह्मकाण्ड, वाक्यकाण्ड तथा पदकाण्ड। भर्तृहरि ने जिस दर्शन को विकसित किया उसे 'शब्दाद्वैत' या 'शब्दब्रह्मवाद' के नाम से जाना जाता है।

१ ४. २ *मीमासा-दर्शन*

यह ससार त्रिविधदु:खात्मक है। इन दु:खो से निवृत्ति के उपायो का अन्वेषण करना मानव की स्वाभाविक प्रवृत्ति रही है। ससार के बन्धनो से मुक्ति पाना परम सुख है। इसे ही दार्शनिक भाषा मे मोक्ष के नाम से जाना जाता है। बन्धन तथा मोक्ष ही दार्शनिक चिन्तन धारा का मूल है। मोक्ष के स्वरूप एव उसकी प्राप्ति के उपायो के विषय मे भिन्न-भिन्न विचार मिलते है। कुछ दार्शनिक विचारधाराएँ ऐसी है जिन्होने तर्क अथवा अनुमान के आश्रय से परम सत्य तक पहुँचने का मार्ग बताया है तो कुछ दार्शनिक वेद को ही मूल तत्त्व का साधन मानते है । वेदो तथा वैदिक वाक्यो मे ही आस्था रखने वाले दर्शनो को आस्तिक दर्शन की सज्ञा दी जाती है। इन आस्तिक दर्शनो मे मीमासा-दर्शन की गणना सर्वप्रथम होती है। इसके पूर्वमीमासा तथा उत्तरमीमासा इन दो भागो मे से द्वितीय को 'वेदान्त' के नाम से जाना जाता है।

भारतीय मान्यता के अनुसार वेद ही समस्त विद्याओ के मूल है। वेद अपौरुषेय होने के कारण भ्रम तथा प्रमादादि दोषो से रहित है। पूर्वमीमासा-दर्शन वेद तथा ब्राह्मण भागो पर आधारित है। यह कर्मकाण्डपरक दर्शन है। इस दर्शन का अस्तित्व महर्षि जैमिनि के सूत्रो के रूप मे है। जैमिनि के द्वारा धर्म-निरूपण के उद्देश्य से इस दर्शन का

---

[१] कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।
सर्वेषा न्यायबीजाना महाभाष्ये निबन्धने॥ (वा० प०, २/४७७) ।

[२] यथोत्तर मुनीना प्रामाण्यम्, सि० कौ० मे 'न बहुव्रीहै।' । (पा० सू०, १/१/२६) पर उल्लिखित।

[३] सग्रह एतत्प्राधान्येन परीक्षितम्-नित्यो वा स्यात्कार्यो वेति। (म० भा०, (१), १ १ १, पृ० ५८) ।

सूत्रपात होने के कारण ही इसे 'धर्मदर्शन' के नाम से भी जाना जाता है। जैमिनि का प्रथम सूत्र ही है- 'अथातो धर्मजिज्ञासा'। श्लोकवार्तिक मे कहा भी गया है कि धर्म की व्याख्या ही इस दर्शन का प्रयोजन है।[1] जैमिनि-ग्रन्थ के १२ अध्याय हे जिनमे १२ पदार्थों का विचार हुआ है। इस ग्रन्थ का समय चोथी शताब्दी ई०पू० माना जाता हे।[2]

जैमिनि के सूत्रो को ही मीमासा-शास्त्र का मूल ग्रन्थ मानकर अनेक आचार्यों ने इस पर भाष्य तथा टीकाएँ लिखी है। इनमे शबरस्वामी का भाष्य सर्वप्राचीन है। मीमासा से सम्बन्धित समस्त परवर्ती लेखो का आधार शाबरभाष्य ही हे। शबरस्वामी का समय २०० ई० के लगभग का माना गया है।

मीमासा-दर्शन के तीन प्रमुख आचार्य हुए हे - कुमारिलभट्ट, प्रभाकरमिश्र तथा मुरारि। इन्होने तीन प्रकार के मतो की स्थापना कर इस दर्शन के तीन प्रस्थानो की प्रवर्तना की। इनमे कुमारिल का समय ६२० ई० से ७०० ई० के मध्य माना गया है तथा प्रभाकर का ६५० ई० से ७२० ई०के मध्य।[3] तृतीय प्रस्थान के प्रवर्तक मुरारि का कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध नही है।[4] प्रभाकरमिश्र कुमारिलभट्ट के शिष्य कहे जाते है।

कुमारिलभट्ट ने महर्षि जैमिनि को मान्य प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द प्रमाण के साथ-साथ उपमान, अर्थापत्ति तथा अनुपलब्धि प्रमाण को भी माना है।[5] प्रभाकर ने इनमे अनुपलब्धि प्रमाण को नही माना है।[6] कुमारिल लौकिक तथा वेदिक उभयविध वाक्यो को शब्द प्रमाण मानते है। इनके अनुसार पौरुषेय शब्द ही लोक-व्यवहार मे आप्तवाक्य है। किन्तु प्रभाकर के अनुसार केवल वेदात्मक अपौरुषेय वाक्य ही शब्द प्रमाण के अन्तर्गत रखे जा सकते है।

वाक्य से वाक्यार्थबोध की प्रक्रिया मे भी कुमारिलभट्ट एव प्रभाकर मे मतभेद पाया जाता है। कुमारिल भट्ट के मतानुसार अभिधा के द्वारा पहले पद से पदार्थ का बोध होता है तदनन्तर आकाङ्क्षा योग्यता तथा सन्निधिवशात् उन पदार्थों का परस्पर अन्वय होता है जिससे वाक्यार्थ बोध होता है। इनका यह मत 'अभिहितान्वयवाद' के नाम से जाना जाता है।[7] इस विषय मे प्रभाकर और उनके अनुयायियो का मत है कि वाक्य का अर्थ ही वाक्यार्थ है। अर्थात् वाक्य

---

[1] धर्माख्य विषय वक्तु मीमासाया प्रयोजनम्। (श्लो० वा०, पृ० ५)।

[2] भा० द० (II), डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० ३२२।

[3] मी० द० विवे० इति०, मुसलगाँवकर, पृ० १२१।

[4] भा० द० (II), डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० ३२५।

[5] प्रमाणपञ्चक यत्र वस्तुरूपे न जायते।
वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता।। (श्लो० वा०, पृ० ३३५)।

[6] प्रभाकर के इस मत की आलोचना खण्डनखण्डखाद्य, पृ० २१, मे मिलती है। (भा० द० (II)), डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० ३३६)।

[7] अभिहिताना स्वस्ववृत्त्या पदैरूपस्थितानामर्थानामन्वय इति वादिना भाट्टमीमासकानामित्यर्थ। (का० प्र०, बा० बो०, पृ० २६)।

मे प्रयुक्त पद परस्पर अन्वित होकर ही वाक्यार्थ का बोध कराते है। इनका विचार है कि अलग-अलग अर्थ जो परस्पर असम्बद्ध होते है वे प्रकट नही हो सकते। प्रभाकर का यह मत 'अन्विताभिधानवाद' कहलाता है।[१]

लक्षणा के क्षेत्र मे दोनो ही आचार्यों ने गौणी तथा लक्षणा को भिन्न- भिन्न वृत्ति के रूप मे स्वीकार किया हे। कुमारिलभट्ट एव प्रभाकरमिश्र के नाम पर मीमासा-दर्शन मे जो दो प्रकार की चिन्तन-धाराएँ विकसित हुइ उन्हे भाट्ट सम्प्रदाय तथा प्रभाकर-सम्प्रदाय के नाम से जाना जाता है।

१. ४. ३ न्याय-दर्शन

न्याय-दर्शन भी षड् आस्तिक दर्शनो मे एक है जो वेदो को प्रमाण मानते है। इस दर्शन मे प्रमाण, प्रमेय आदि षोडश पदार्थों के तत्त्व-ज्ञान से मोक्ष-प्राप्ति बतायी गई है।[२] इस दर्शन मे चार प्रमाण माने गये है- प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान तथा शब्द।[३]

तर्क की ही प्रधानता होने के कारण न्याय-दर्शन का प्राचीन नाम 'आन्वीक्षिकी' है। आध्यात्मिक समस्याओ की तार्किक अथवा आलोचनात्मक दृष्टि से विवेचना करना ही इस दर्शन की सबसे बडी विशेषता रही है। प्राचीन काल मे हिन्दुओ के पाँच पाठ्य विषयो मे काव्य (साहित्य), नाटक, अलङ्कार तथा व्याकरण के साथ तर्क विद्या को प्राप्त स्थान उस काल मे इसकी प्रतिष्ठा का ही सूचक है।[४]

महर्षि गौतम इस दर्शन के सस्थापक आचार्य है जिन्होने 'न्यायसूत्र' की रचना की। यह न्याय-शास्त्र की प्रथम पाठ्य पुस्तक है। इसमे पाँच अध्याय है। यह ई०पू० तृतीय शताब्दी की रचना है।[५]

गौतम के न्यायसूत्रो पर विविध भाष्यो की रचना हुई जिनमे सर्वप्राचीन तथा उपलब्ध भाष्य वात्स्यायन का 'न्यायभाष्य' है। वात्स्यायन लगभग ४०० ई० के आसपास हुए थे। इस भाष्य पर उद्योतकर ने टीका लिखी जो 'न्यायवार्तिक' के नाम से प्रसिद्ध है। यह लगभग छठी शताब्दी ई० की रचना है। न्याय-शास्त्र के अन्य ग्रन्थो मे धर्मकीर्ति रचित 'न्यायबिन्दु' भी प्रमुख है। इसके अतिरिक्त वाचस्पति मिश्र ने नवी शताब्दी के पूर्वार्ध मे 'न्यायवार्तिकतात्पर्य' नामक टीका लिखी ।

---

[१] पदानि अन्वितानि भूत्वा पश्चाद्विशिष्टमर्थं कथयन्तीति यो वदति सोऽन्विताभिधानवादी। (का० प्र०, बा० बो०, पृ० २७)।

[२] प्रमाणप्रमेयसशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानाना तत्त्वज्ञानाद् नि:श्रेयसाधिगम। (न्या० भा०, पृ० ४)।

[३] प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दा प्रमाणानि। (न्या० भा०, पृ० १७)।

[४] भा० द० (II), डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० २१।

[५] भा० द० (II), डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० २५।

न्यायशास्त्रीय अन्य ग्रन्थो मे जयन्तभट्ट कृत 'न्यायमञ्जरी' का विशेष महत्त्व है। जयन्तभट्ट दसवी शताब्दी के पूर्वार्ध मे हुए थे। इसके अतिरिक्त गङ्गेशउपाध्याय की 'तत्त्वचिन्तामणि', विश्वनाथपञ्चाननभट्टाचार्य कृत 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली', अन्नमभट्टकृत 'तर्क-सग्रह' आदि अन्य प्रमुख न्यायशास्त्रीय ग्रन्थ है।

१ ४ ४ साहित्यशास्त्र

साहित्यशास्त्रीय आचार्यो मे **भरतमुनि** सर्वप्राचीन है। साहित्य जगत् मे इनका स्मरण नाट्य-शास्त्र के प्रवर्तक के रूप मे किया जाता है। इनका एकमात्र ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' है जो समस्त कलाओ का विश्वकोश है। भरतमुनि का समय अत्यधिक विवादास्पद हे। इनका काल २०० ई० से ३०० ई० के मध्य माना जाता है।

आचार्य भरत के पश्चात् साहित्यशास्त्र के आचार्यो मे **आचार्य भामह** की गणना होती है। इनका समय भी अत्यधिक विवाद का विषय रहा है। इन्हे सातवी शताब्दी के लगभग का माना गया है। भामह अलङ्कार सम्प्रदाय के प्रवर्तक कहलाते है। इनका एकमात्र उपलब्ध ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार' है। इसमे इन्होने काव्य का प्रयोजन, स्वरूप, उसके भेद, गुण, दोष तथा अलङ्कारो का वर्णन किया है। अपनी काव्य की परिभाषा - 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' मे सर्वप्रथम भामह ने ही काव्य मे शब्द एव अर्थ का महत्त्व तथा उसका सहभाव स्वीकारा है। इन्होने वक्रोक्ति को अलङ्कारो का बीज कहा है।[1]

भामह के व्यक्तिगत जीवन के विषय मे कुछ भी ज्ञात नही है। इनके धर्म को लेकर प्रचुर विवाद मिलता है। 'काव्यालङ्कार' की अन्तिम कारिका मे इन्होने स्वय को 'रक्रिलगोमिन्' का पुत्र बताया है[2] तथा प्रथम कारिका मे 'सार्वसर्वज्ञ' को नमस्कार किया है।[3] इसके आधार पर कुछ विद्वानो ने इन्हे बौद्ध सिद्ध करने का प्रयास किया है।

भामह के पश्चात् हुए प्रमुख काव्यशास्त्रीय आचार्यो मे **दण्डी** का नाम लिया जाता है। इनका समय सप्तम शताब्दी का उत्तरार्ध है। दण्डी के नाम से तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध है[4] - काव्यादर्श, दशकुमारचरित तथा अवन्तिसुन्दरीकथा। इनका 'काव्यादर्श' काव्यशास्त्रीय विषयो पर लिखा गया ग्रन्थ है जिसमे काव्य का लक्षण, भेद तथा अलङ्कारादि का

---

[1] सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्रोऽस्या कविना कार्य कोऽलङ्कारोऽनया विना।। (भा० काव्या०, २/८५, पृ० ६२)।

[2] सुजनावगमाय भामहेन ग्रथित रक्रिलगोमिसूनुनेदम्।। (भा० काव्या०, ६/६४, पृ० १७३)।

[3] प्रणम्य सार्वं सर्वज्ञ मनोवाक्कायकर्मभि। (भा० काव्या० १/१, पृ० १)।

[4] त्रयो दण्डीप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुता। (का० मी०,)।

वर्णन है। शब्द तथा अर्थ की महत्ता को समान रूप से स्वीकार करते हुए इन्होने भी मनोरम अर्थ से युक्त पदावली को काव्य कहा है।[1]

दण्डी के पश्चात् **आचार्य उद्भट** का नाम प्रमुख है। इनका समय आठवी शताब्दी है। राजतरङ्गिणी के अनुसार ये जयापीड (७७६ ई० - ८१३ ई०) के सभापति थे। उद्भट का प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्यालङ्कारसारसग्रह' है। इसका नाम 'काव्यालङ्कारसग्रह' तथा 'अलङ्कारसारसग्रह' भी मिलता है।[2] इसके अतिरिक्त इनके दो अन्य ग्रन्थो का उल्लेख मिलता है- 'भामह-विवरण' तथा 'कुमारसम्भव'।[3]

'भामह-विवरण' या 'भामह-विवृत्ति' 'भामह' के ग्रन्थ पर इनकी टीका है। यह अनुपलब्ध है। अभिनवगुप्त ने 'लोचन' मे भामह के 'शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्थो' की टीका के रूप मे उद्भट की पक्ति उद्धृत की है- 'शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारो मुख्योगुणवृत्तिश्च' यह पक्ति इनके 'भामह-विवरण' मे रही होगी। इसमे अभिधा के दो प्रकारो का उल्लेख है मुख्य तथा गुणवृत्ति।'

पर्यायोक्त अलङ्कार के प्रसङ्ग मे उद्भट ने वाच्यवाचक वृत्ति से भिन्न अवगमात्मक व्यापार का उल्लेख किया है।[4] यह अवगमात्मना कथन ही परवर्ती आलङ्कारिको को मान्य व्यञ्जना है। इस प्रकार उद्भट ने व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता को तो स्वीकृति दी किन्तु न तो उसे इतना महत्त्व दिया जितना ध्वनिवादियो ने ओर न ही इसकी प्रतीति के लिए व्यञ्जना-व्यापार को माना।

काव्यशास्त्रीय आचार्यों मे उद्भट के पश्चात् **आचार्य वामन** की गणना होती है। साहित्य जगत् मे ये रीति सम्प्रदाय के प्रवर्तक कहे जाते है। इन्होने रीति को काव्य की आत्मा कहा है।[5] इस प्रकार काव्य मे 'आत्मतत्त्व' का विवेचन करने वाले प्रथम आचार्य वामन ही है। इनके अनुसार विशिष्ट पदरचना ही रीति कहलाती है।[6]

---

[1] शरीर तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली॥ (काव्यादर्श, १/१०, पृ० ६)।

[2] स० का० इति०, डे, पृ० ६८, स० का० इति०, काणे, पृ० १६७ ।

[3] (क) विशेषोक्तिलक्षणे च भामहविवरणे भट्टोद्भटेन एकदेश शब्द एव व्याख्यातो यथेहास्माभिर्निरूपित। (काव्या० ल० वृ०, पृ० २७५)।

(ख) अनेन ग्रन्थकृता स्वोपरचितकुमारसभवैकदेशोऽत्रोदाहरणत्वेनोपन्यस्त । (काव्या० ल० वृ०, पृ० २७६)।

[4] पर्यायोक्त यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्या शून्येनावगमात्मना॥ (काव्या० सा० स०, पृ० ३५)।

[5] रीतिरात्मा काव्यस्य। (काव्या० सू०, पृ० १४)।

[6] विशिष्टा पदरचना रीति। (काव्या० सू०, पृ० १५)।

'राजतरङ्गिणी' मे वामन को जयापीड का मन्त्री बताया गया हे।[1] इस प्रकार वामन उद्भट के समकालीन सिद्ध होते है।। 'राजतरङ्गिणी' के ही अनुसार उद्भट जयापीड के सभापति थे।

आचार्य वामन का एकमात्र प्रसिद्ध ग्रन्थ 'काव्यालङ्कारसूत्र' है। यह ग्रन्थ सूत्र शैली मे लिखा गया है। इसमे काव्य का प्रयोजन, काव्य की आत्मा, दोष, गुण तथा अलङ्कारो का वर्णन है। आचार्य वामन ने ही सर्वप्रथम गुण तथा अलङ्कारो का भेद विवेचन किया था। काव्य मे शोभा उत्पन्न करने वाले धर्म गुण कहलाते है। तथा वामन के अनुसार उसकी शोभा के वृद्धिकारक धर्म को अलङ्कार कहा जाता हे।[2] आचार्य मम्मट ने अपने ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' मे वामन के गुण एव अलङ्कार की परिभाषा का खण्डन किया है।

वामन ने सादृश्यमूलक लक्षणा के स्थल मे वक्रोक्ति अलङ्कार माना है। इसके साथ ही इन्होने लक्षणा की प्रवृत्ति के अनेक निमित्तो की चर्चा की है।[3]

'काव्यालङ्कारसूत्र' के टीकाकार सहदेव के अनुसार वामन का यह ग्रन्थ लुप्त हो गया था। मुकुलभट्ट ने कही से इसकी एक प्रति को प्राप्त कर इसका पुन प्रसार किया।[4]

आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती प्रमुख काव्यशास्त्रियो मे **आचार्य रुद्रट** अलङ्कार-सम्प्रदाय के अन्तिम आचार्य थे। इनका समय ८२५ ई० से ८५० ई० मध्य माना जा सकता है। प्रो० पी० वी० काणे ने इन्हे ध्वनिकार का समकालीन अथवा निकट पूर्ववर्ती कहा है।[5] इन्होने अलङ्कारशास्त्र पर 'काव्यालङ्कार' नामक ग्रन्थ लिखा । अलङ्कार-सम्प्रदाय के पोषक होते हुए भी इन्होने रस की महत्ता को भी स्वीकार किया -

तस्मात्कर्त्तव्य यत्नेन महीयसा रसैर्युक्तम्।
उद्वेजनमेतेषा शास्त्रवदेवान्यथा हि स्यात्।।[6]

---

[1] मनोरथ शङ्खदन्तश्चटक सन्धिमास्तथा।
बभूवु कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिण ।। (रा० त०, ४/४९७, पृ० ११०) ।

[2] काव्यशोभाया कर्तारो धर्मा गुणा ।
तदतिशयहेतवस्त्वलङ्कारा ।। (काव्या० सू०, पृ० ८७, ८८) ।

[3] सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति । (काव्या० सू०, पृ० १७२) ।

[4] वेदिता सर्वशास्त्राणा भट्टोभून्मुकुलाभिध
लब्ध्वा कुतश्चिदादर्शं भ्रष्टाम्नाय समुद्धृतम्।
काव्यालङ्कारशास्त्र यत्तेनैतद्वामनोदितम्
असूया तत्र कर्त्तव्या विशेषालोकिभि क्वचित्।। (स० का० इति०, काणे, पृ० १८१-१८२)।

[5] स० का० इति०, काणे, पृ० १९६ ।

[6] रु० काव्या०, १२/१, पृ० ३७२ ।

रुद्रट ही प्रथम आचार्य है जिन्होने काव्य मे रस की चर्चा की। आचार्य भरत की रसविषयक विवेचना नाट्य के क्षेत्र मे थी।

आचार्य रुद्रट ने वास्तव, औपम्य, अतिशय एव श्लेष को अलङ्कार-विभाजन का आधार बनाया है।[1] अलङ्कारो का यह वैज्ञानिक विभाजन साहित्यशास्त्र को रुद्रट की देन माना जाता है। रस के प्रसङ्ग मे इन्होने 'प्रेयस्' नामक दशम रस को मान्यता दी है। इनके 'भाव' नाम अलङ्कार-प्रतिपादन मे व्यञ्जना सिद्धान्त का बीज निहित है।[2] इन्होने दो प्रकार के भाव अलङ्कार के उदाहरण दिये हे -

ग्रामतरुण तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम्

पश्यन्त्या भवति मुहुर्नितरा मलिना मुखच्छाया ॥[3]

तथा-

एकाकिनी यदबला तरुणी तथाहमस्मिन्गृहे गृहपतिश्च गतो विदेशम्।

कि याचसे तदिह वासमिय वराकी श्वश्रूर्ममान्धबधिरा ननु मूढ पान्थ॥[4]

इनमे प्रथम उदाहरण को आचार्य मम्मट ने 'गुणीभूतव्यङ्ग्य' के उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किया है[5] तथा द्वितीय को अभिनवगुप्त ने लोचन मे स्थान दिया है।[6]

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनिसम्प्रदाय की प्रवर्तना की। इनका समय नवम शताब्दी हे। आनन्दवर्धन की पाँच रचनाएँ मानी जाती है- 'विषमबाणलीला', 'अर्जुनचरित', 'देवीशतक', 'तत्त्वालोक' तथा 'ध्वन्यालोक'। इनमे सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ ध्वन्यालोक है। इस ग्रन्थ मे ध्वनि-सिद्धान्त का विवेचन, इसके भेद-प्रभेदो का प्रतिपादन तथा ध्वनि-विरोधी मतो का खण्डन किया गया है। इसके अतिरिक्त ध्वनि का महत्त्व दर्शाते हुए ध्वनि तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य के प्रयोग से कवि तथा काव्य की चमत्कारोत्पादकता का भी वर्णन है।

ध्वन्यालोक मे 'वृत्ति', 'कारिका' तथा 'उदाहरण' ये तीन भाग है। इनमे कारिका तथा वृत्ति के रचनाकार के विषय मे विद्वानो मे मतभेद पाया जाता है। कतिपय विद्वान् वृत्तिकार तथा कारिकाकार को भिन्न-भिन्न मानते है। इस

---

[1] अर्थस्यालङ्कारा वास्तवमौपम्यतिशय श्लेष
एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति निश्शेषा॥ (रु० काव्या०, ७/६, पृ० १९०)।

[2] यस्य विकार प्रभवन्नप्रतिबद्धेन हेतुना येन।
गमयति तदभिप्राय तत्प्रतिबन्ध च भावोऽसौ ॥ (रु० काव्या०, ७/३८, पृ० २०६)।

[3] रु० काव्या०, पृ० २०७।

[4] रु० काव्या०, पृ० २०८।

[5] का० प्र०, पृ० २८।

मत को मानने वालो के अनुसार आनन्दवर्धन ने वृत्ति-भाग की रचना की तथा कारिकाओ का निर्माता 'सहृदय' नामक विद्वान् था।

आनन्दवर्धन से पूर्व काव्य मे गुण एव अलङ्कार का ही प्राधान्य था जो कि वाच्य-वाचक भाव पर आश्रित थे। इस वाच्य-वाचक भाव मे काव्य का वास्तविक चमत्कार न होने के कारण ही आनन्दवर्धन ने ध्वनि की महत्ता का प्रतिपादन किया तथा उसे ही काव्य की आत्मा कहा। व्यङ्ग्य-प्रधान काव्य ही ध्वनि कहलाता है। इसकी परिभाषा 'ध्वन्यालोक' मे इस प्रकार दी गई है -

यत्रार्थ शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।

व्यङ्क्त काव्यविशेष स ध्वनिरिति सूरिभि कथित ॥ (ध्व०, १/१३)।

इतिहासकारो ने **राजशेखर** की जो तिथि निर्धारित की है उसके अनुसार ये मुकुलभट्ट के निकट पूर्ववर्ती या समकालीन ही सिद्ध होते है।[२]

राजशेखर यायावर वश मे उत्पन्न हुए थे। इन्होने अनेकश अपना मत 'यायावरीय' नाम से प्रकट किया है। इन्होने कितने ग्रन्थो की रचना की थी यह निश्चित रूप से ज्ञात नही है । इनकी कृति 'बालरामायण' के अनुसार इन्होने छ ग्रन्थो की रचना की थी। इनके 'कर्पूरमञ्जरी' नामक नाटक का उल्लेख मिलता है जिसकी रचना इन्होने अपनी पत्नी की इच्छा से की थी। राजशेखर की पत्नी अवन्तिसुन्दरी एक विदुषी स्त्री थी। 'काव्यमीमासा' मे इनके विचारो का उल्लेख है।

'काव्यमीमासा' अपने मे अद्वितीय ग्रन्थ है। इसमे १८ अध्याय है जिनमे शिव द्वारा ब्रह्मा को काव्यमीमासा का ज्ञान, काव्यपुरुष की उत्पत्ति के साथ-साथ कवि के लिए आवश्यक गुणो का भी वर्णन है। इसी प्रसङ्ग मे प्रतिभा तथा व्युत्पत्ति की व्याख्या की गई है। इसके अतिरिक्त वैदर्भी, गौणी, पाञ्चाली रीतियो, भारत के विभिन्न प्रान्तो के व्यक्तियो की भाषाओ, ऋतु, वायु, पुष्प आदि की भी चर्चा की गई है।

उद्भट, वामन, रुद्रट, आनन्दवर्धन आदि के साथ ही अन्य अनेक पूर्ववर्ती आचार्यों तथा उनके ग्रन्थो का उल्लेख होने से यह ग्रन्थ काल-निर्धारण की दृष्टि से भी उपयोगी माना जाता है।

१.५ पूर्ववर्ती विचारधाराओं एव आचार्यों का मुकुलभट्ट पर प्रभाव

मुकुलभट्ट के ग्रन्थ मे व्याकरण, मीमासा तथा न्यायशास्त्र के साथ ही पूर्ववर्ती साहित्यशास्त्रीय विचारो का भी

---

[१] ध्व० लो०, प्र० उ०, पृ० २३६ ।

[२] स० का० इति०, काणे, २७०, स० का० इति०, डे, पृ० १११ ।

स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। इन्होने तत्तत् शास्त्रो से सम्बन्धित विविध आचार्यो के नाम भी अपने ग्रन्थ मे उल्लिखित किये है। 'शब्दव्यापार' को ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय बनाने के कारण इनका इन विविध शास्त्रो से प्रभावित होना स्वाभाविक भी है क्योकि शब्द, अर्थ और उसके सम्बन्धो की चर्चा व्याकरण, मीमासा, न्याय के लिए तो आवश्यक हे ही साथ ही शब्दार्थ रूप शरीर वाले काव्य का शास्त्रीय विवेचन होने के कारण साहित्य-शास्त्र के लिए भी इसकी उपयोगिता कम नही है।

शब्द से अर्थ की उपस्थिति के प्रसङ्ग मे शब्द से सर्वप्रथम जाति (सामान्य) रूप अर्थ की प्रतीति होती है अथवा व्यक्ति (विशिष्ट) की, इस पर विभिन्न मत मिलते है। मुकुलभट्ट ने इसके लिए उपाधिचतुष्टयवाद को माना है। इनके अनुसार अपने-अपने अर्थो का ज्ञान कराने के लिए प्रवृत्त शब्दो के विषयो मे उपाधि रूप धर्मो के कारण भिन्नता होती है। उपाधि के आधार पर ही शब्दो का प्रयोग होता है।[१] यह उपाधि चार प्रकार की होती है इसी कारण मुख्य अर्थ के चार भेद होते है - जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा। मुकुलभट्ट की इस मान्यता का आधार महाभाष्यकार के शब्दचतुष्टयवाद का सिद्धान्त है। इसके लिए इन्होने आदरसहित महाभाष्यकार का उल्लेख भी किया है।[२]

मुकुलभट्ट के पूर्व काव्यशास्त्रियो मे भी शब्दो के इन प्रकारो को मान्यता मिली थी। आचार्य भामह ने भी द्रव्य, जाति, गुण एव क्रिया रूप चार प्रकार के शब्दो को माना है।[३] तथा आचार्य दण्डी ने स्वभावोक्ति अलङ्कार के निरूपण मे जाति, क्रिया, गुण एव द्रव्य नामक चार पदार्थो का वर्णन किया है।[४]

वैयाकरणो मे आचार्य भर्तृहरि ने भी मुकुलभट्ट को प्रभावित किया है। मुकुलभट्ट ने 'यदुक्त वाक्यपदीये गौरिति न हि गौ स्वरूपेण गौ नाप्यगो गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौ '[५] पङ्क्ति को 'वाक्यपदीय' का कहते हुए उद्धृत किया है। इसके अतिरिक्त अभिधा के दस भेदो का विस्तृत विवेचन करने के पश्चात् मुकुलभट्ट अन्तत अद्वैतवादी हो गये है। पारमार्थिक स्तर पर इन्होने शब्द की ही एकमात्र सत्ता मानी है। अभिधा के दसो भेद इस 'शब्द-तत्त्व' के ही विवर्त है।[६]

---

[१] सर्वेषा शब्दाना स्वार्थाभिधानाय प्रवर्त्तमानानामुपाध्युपरञ्जितविषयविवेकत्वादुपाधिनिबन्धना प्रवृत्ति। (अ० वृ० मा०, पृ० ५)।

[२] चतुष्टयी हि शब्दाना प्रवृत्तिर्भगवता महाभाष्यकारेणोपवर्णिता जातिशब्दा गुणशब्दा क्रियाशब्दा यदृच्छाशब्दाश्चेति। (अ० वृ० मा०, पृ० ५)।

[३] द्रव्यक्रियाजातिगुणभेदात्ते च चतुर्विधा।
यदृच्छाशब्दमित्यन्ये डित्यादि प्रतिजानते॥ (भा० काव्या०, ६/२१, पृ० १५३)।

[४] जातिक्रियागुणद्रव्यस्वभावाख्यानमीदृशम्।
शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्य काव्येष्वप्येतदीप्सितम्॥ (काव्यादर्श, २/१३, पृ० ७६)।

[५] यद्यपि मुकुलभट्ट के अनुसार यह पक्ति 'वाक्यपदीय' की है किन्तु भर्तृहरिकृत 'वाक्यपदीय' मे यह वाक्य नही मिलता है। सम्पूर्ण 'वाक्यपदीय' पद्यमय ग्रन्थ है जबकि मुकुलभट्ट द्वारा उद्धृत वाक्य गद्य का अश प्रतीत होता है।

[६] विवर्त्तमान वाक्यतत्त्व दशधैव विलोक्यते।
सहृतक्रमभेदे तु तस्मिस्तेषा कुतो गति॥ (अ० वृ० मा०, पृ० ६६)।

यहाँ इन पर भर्तृहरि के 'शब्दाद्वैतवाद' का प्रभाव है। भर्तृहरि ने भी शब्द को ब्रह्म का स्वरूप मानते हुए अर्थ को उसका विवर्त कहा है।[1]

मुकुलभट्ट ने अनेक स्थलो पर मीमासा सम्मत मतो को भी अपनाया है। उपादान लक्षणा के जो उदाहरण इन्होने दिये है- 'गौरनुबन्ध्य' तथा 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' ये दोनो ही मीमासा-ग्रन्थो से लिये गये है।[2] इन्होने शब्द का प्रथम अर्थ जाति को मानते हुए मीमासको का सुप्रसिद्ध न्याय प्रस्तुत किया है - 'विशेष्य नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे' तथा व्यक्तिरूप अर्थ का ग्रहण उपादान लक्षणा से माना है। मीमासको मे मण्डनमिश्र भी व्यक्तिरूप अर्थ का ग्रहण उपादान लक्षणा से मानते है।[3] इसके अतिरिक्त मुकुलभट्ट ने शबर स्वामी तथा कुमारिलभट्ट जैसे मूर्धन्य मीमासको के विचार भी अपने समर्थन मे सादर उल्लिखित किया है।[4] भर्तृमित्र, जिसे मीमासा का लेखक माना जाता है, के नाम से एक कारिका अभिधावृत्तिमातृका मे उद्धृत है-

यच्च तत् मुख्यार्थासन्नत्वम्, तत् पञ्चप्रकारतयाचार्यभर्तृमित्रेण प्रदर्शितम् -

अभिधेयेन सम्बन्धात् सादृश्यात् समवायत

वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता॥

भर्तृमित्र का कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध न होने के कारण यह कारिका किस ग्रन्थ की है ज्ञात नही है।

मुकुलभट्ट ने प्रसङ्गत लक्षित-लक्षणा का भी उल्लेख किया है, किन्तु इसे लक्षणा से भिन्न नही माना है। आचार्य कुमारिलभट्ट की 'टुप्टीका' मे भी लक्षित-लक्षणा का उल्लेख है।[5]

---

[1] अनादिनिधन ब्रह्म शब्दतत्त्व यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत॥ (वा० प०, १/१, पृ० १)।

[2] (क) पीनो दिवा न भुङ्क्ते चेत्येवमादिवच श्रुतौ।
रात्रिभोजनविज्ञान श्रुतार्थापत्तिरुच्यते॥ (श्लो० वा०, पृ० ३२६)।
(ख) आचार्य मम्मट ने 'गौरनुबन्ध्य' उदाहरण को उपादान लक्षणा का उदाहरण मानने का जो खण्डन किया है उसे 'काव्यप्रकाश' के 'विस्तारिका', 'विवरण' एव 'बालबोधिनी' आदि टीकाकारो ने मण्डनमिश्र का खण्डन माना है। इससे प्रतीत होता है कि मण्डनमिश्र ने भी अपने ग्रन्थ मे इसे उपादान लक्षणा के उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किया है।

[3] ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त, भोलाशङ्करव्यास, पृ० ८२, ८३ ।

[4] (क) यदुक्तमाचार्यशबरस्वामिना- 'कथ पुन परशब्द परत्र वर्त्तते स्वार्थाभिधानेन इति ब्रूम।' (अ० वृ० मा०, पृ० २५)।
(ख) तदुक्त भट्टकुमारिलेन-
निरूढा लक्षणा काश्चित् सामर्थ्यादभिधानवत्
क्रियन्ते साम्प्रत काश्चित् काश्चिन्नैव त्वशक्तित॥ (अ० वृ० मा०, पृ० २५)।

[5] (क) तत्र लक्षितलक्षणाया गृह्यमाणाया फलकल्पना न भवति। (मी० सू०, ६/१/२ के शा० भा० पर टुप्टीका, मी० द० (६), पृ० ६७)।
(ख) तदा लक्षितलक्षणया धर्माणा सम्बन्ध।

'अभिधावृत्तिमातृका' मे उत्प्रेक्षा का लक्षण दिया गया ह -

तदुक्तमुत्प्रेक्षा लक्षणे

साम्यरूपविवक्षाया वाच्ये वाच्यात्मभि पदै

अतद्गुणक्रियायोगादुत्प्रेक्षातिशयान्विता॥ (अ० वृ० मा०, पृ० ३८)।

कतिपय पाठभेद के साथ उद्भट के 'काव्यालङ्कारसारसग्रह' मे भी उत्प्रेक्षा का यही लक्षण दिया गया है-

'साम्यरूपाविवक्षाया वाच्येवाद्यात्मभि पदै

अतद्गुणक्रियायोगादुत्प्रेक्षाऽतिशयान्विता॥ (काव्या० सा० स, पृ० ३०)।

इस प्रकार आचार्य मुकुलभट्ट ने यद्यपि उद्भट का नाम नही लिया है तथापि उनके ग्रन्थ से उद्धरणस्वरूप उत्प्रेक्षा-लक्षण दिया है। यहाॅ उल्लेखनीय हे कि डॉ० रेवा प्रसाद द्विवेदी ने मुकुलभट्ट द्वारा प्रस्तुत उत्प्रेक्षा-लक्षण के विषय मे लिखा है कि यह अलङ्कार-शास्त्र के किसी ऐसे ग्रन्थ का है जो सम्प्रति लुप्त हो गया है।[१] डॉ० ब्रह्ममित्र अवस्थी लिखते है कि मुकुलभट्ट ने किसी अलङ्कार-ग्रन्थ की रचना की होगी जिसमे यह लक्षण रहा होगा क्योकि यह लक्षण भामह, दण्डी, उद्भट आदि के ग्रन्थो मे नही मिलता। इसके साथ ही यदि यह किसी प्राचीन आचार्य के ग्रन्थ से सम्बन्धित होता तो उसका नाम मुकुलभट्ट अवश्य उद्धृत करते जैसा कि उन्होने शबरस्वामी, कुमारिलभट्ट तथा सहृदय आदि का किया है।[२] अस्तु मुकुलभट्ट द्वारा उद्धृत लक्षण एव उद्भट के उत्प्रेक्षा लक्षण को देखते हुए उपर्युक्त विद्वानो के मत निराधार ही है। इसके अतिरिक्त अभिधा नामक एक ही शब्द व्यापार को मानते हुए भी इन्होने इसके मुख्य तथा लाक्षणिक जो दो भेद किये हैं[३] उस पर भी उद्भट की ही इस मान्यता का प्रभाव है -

'शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च।

मुकुलभट्ट को ध्वनि-विरोधी आचार्य कहा जाता है। इनके समय तक यद्यपि आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त का प्रतिपादन हो चुका था, किन्तु सर्वथा नवीन होने के कारण यह ध्वनि-सिद्धान्त तत्कालीन विद्वत्समाज मे कटु आलोचना का विषय बना हुआ था। इसे न तो कोई सहजता से अपना सका था और न तब तक इसका कोई समर्थक ही हुआ था। यही कारण है कि मुकुलभट्ट पर ध्वनि-विरोधियो का ही प्रभाव अधिक था, फलत इन्होने ध्वनि को

तस्माल्लक्षणा श्रुतिर्ब्रवीति लक्षितलक्षणापेक्षया। (मी० सू०, ६/१/३ के शा० भा० पर टुप्टीका, मी० द० (६), पृ० ६६)।

[१] अ० वृ० मा०, पृ० ३७ ।

[२] वृ० समु०, पृ० ३१, ३२ ।

सहृदय की नूतन स्थापना कहते हुए उसे लक्षणा मे ही अन्तर्भावित मान लिया। किन्तु ध्वनि–विरोधी होते हुए भी 'अभिधावृत्तिमातृका' 'ध्वन्यालोक' के प्रभाव से मुक्त नही है। 'अभिधावृत्तिमातृका' मे अनेक स्थलो पर 'सहृदय' नामक विद्वान् के मतो का उल्लेख है। 'सहृदय' नाम 'काव्यशास्त्रीय' इतिहासकारो के लिए विवाद का विषय बना हुआ हे कतिपय इसे 'आनन्दवर्धन' का ही नाम मानते हे तो कुछ विद्वानो ने 'सहृदय' को ध्वन्यालोक का 'कारिकाकार' माना है। यहाँ 'सहृदय' को आनन्दवर्धन से भिन्न माने अथवा अभिन्न यह तो कहा ही जा सकता है कि इनका सम्बन्ध ध्वन्यालोक से निर्विवाद रूप से है। अत यह स्पष्ट है कि मुकुलभट्ट पर 'ध्वन्यालोक' का प्रभाव था।

सादृश्यादि पञ्चविध सम्बन्धो से होने वाली लक्षणा के प्रसङ्ग मे मुकुलभट्ट ने वाच्य अर्थ की स्थिति का विस्तृत वर्णन किया है। इनमे कही वाच्य की विवक्षा रहती है तो कही अविवक्षा तथा कही उसका अत्यन्त तिरस्कार रहता है। अपनी इस विवेचना का आधार मुकुलभट्ट सहृदय की मान्यता को बताते है।[2] यद्यपि मुकुलभट्ट के वाच्यार्थ के विवक्षा-अविक्षा सम्बन्धी विचार पूर्णत 'ध्वन्यालोक' के विचारो से समानता नही रखते, कही-कही इनमे परस्पर विरोध भी है किन्तु यह विवेचना 'अभिधावृत्तिमातृका' मे ध्वन्यालोक के आधार पर ही की गई है, इसमे सन्देह नही है।

व्यञ्जना-विरोधी आचार्य होते हुए भी मुकुलभट्ट ने अपने ग्रन्थ मे स्पष्ट रूप से 'व्यङ्ग्य' शब्द का प्रयोग किया है। 'अभिधावृत्तिमातृका' मे एक उदाहरण आया है-

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना

वाता सीकरिण पयोदसुहृदामानन्दकेका कला।

काम सन्तु दृढ कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्व सहे

वैदेही तु कथ भविष्यति ह हा हा देवि धीरा भवेति॥ (अ० वृ० मा०, पृ० २७)।

इसमे मुकुलभट्ट ने राज्यभ्रश, वनवासादि असाधारण दु खप्रद धर्मो को व्यङ्ग्यधर्मान्तर कहा है।[3] यहाँ इन पर ध्वन्यालोक का ही प्रभाव है। आनन्दवर्धन ने भी इस उदाहरण की व्याख्या मे 'व्यङ्ग्यधर्मान्तर' पद का प्रयोग किया था।[4]

---

[1] शब्दस्य च मुख्येन लाक्षणिकेन वाभिधाव्यापारेणार्थावगति - हेतुत्वमिति मुख्यलाक्षणिकयोरभिधाव्यापारयोरत्र विवेक क्रियते। (अ० वृ० मा०, पृ० १)।

[2] इदानी पञ्चविधसम्बन्धनिबन्धनायामासत्तौ पूर्वोपवर्णिताया क्वचिद् वाच्यस्यातितिरस्कार क्वचिद् विवक्षितत्व क्वचिच्चाविवक्षितत्वमित्येवविध त्रय यत् सहृदयैरुपदर्शित तस्य विषयविभागमुपदर्शयितुमाह - - -। (अ० वृ० मा० पृ०, ५८)।

[3] अत्र हि रामशब्दवाच्य दाशरथिरूप व्यङ्ग्यधर्मान्तरपरिणत्वात् स्वपरत्वेनानुपात्तम्। (अ० वृ० मा०, पृ० ६३)।

[4] अनेन हि व्यङ्ग्यधर्मान्तरपरिणत सज्ञी प्रत्याय्यते न संज्ञिमात्रम्। (ध्व०, द्वि० उ०, पृ० १०)।

मुकुलभट्ट को अलङ्कारशास्त्र का भी ज्ञान था। यह आलङ्कारिको से भी प्रभावित रहे है, इसका भी प्रमाण है। वामन के ग्रन्थ 'काव्यालङ्कारसूत्र' के टीकाकार सहदेव के कथनानुसार मुकुलभट्ट ने इस ग्रन्थ का पुन प्रसार किया था। मुकुलभट्ट के निकटस्थ पूर्ववर्तियो मे अलङ्कार का ही प्राधान्य था। आनन्दवर्धन का ध्वनि-सिद्धान्त तो नवीन ही था। यद्यपि मुकुलभट्ट ने अलङ्कारशास्त्र से सम्बन्धित किसी भी ग्रन्थ की रचना नही की थी तथापि इनका अलङ्कार-शास्त्र के प्रति स्वाभाविक झुकाव तो था ही।

न्याय-वैशेषिक दर्शन मे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श इत्यादि २४ गुण बताए गये है इनमे 'परिमाण' भी एक गुण है। परिमाण नामक गुण के चार प्रकारो मे अणु जिसमे रहता है वही 'परमाणुत्व' परिमाण है। जिस प्रकार न्याय-दर्शन मे 'परमाणु' 'गुण' कहा गया है उसी प्रकार मुकुलभट्ट ने भी नैयायिको का अनुसरण करते हुए उसे जाति, गुण, क्रिया, यदृच्छा रूप उपाधियो मे गुण के अन्तर्गत माना है। इनके अनुसार गुण जिस प्रकार वस्तुओ मे व्यक्तिगत विशिष्टता उत्पन्न कर देते है उसी प्रकार 'परमाणुत्वादि' भी गुण है जो किसी परिमेय वस्तु मे रहते है और जिस वस्तु मे रहते है उसे अन्य परिमाण वाली वस्तु से पृथक् करते है।

अन्तत मुकुलभट्ट के विषय मे यह कहा जा सकता है इन्होने अपने पूर्ववर्ती सिद्धान्तो को अपनाते हुए अपने स्वतन्त्र मत की स्थापना भी की है किन्तु इतना होते हुए भी अधिकाश रूप से इन्होने परम्परा का ही अनुसरण किया है। शब्दो की चार उपाधियाँ, नैयायिको का 'परमाणुवाद' इसके उदाहरण है इसके साथ ही जाति से व्यक्ति के आक्षेप मे भी ये मीमासा-परम्परा के ही अधिक निकट है।

१.६ आचार्य मम्मट का जीवन-परिचय

काव्यशास्त्रीय जगत् मे आचार्य मम्मट की ख्याति आनन्दवर्धन द्वारा स्थापित ध्वनि-सम्प्रदाय के प्रबल समर्थक के रूप मे है। मम्मट के मतो तथा तर्को मे आनन्दवर्धन का ध्वनि-सिद्धान्त पूर्ण प्रतिष्ठित हुआ।

मम्मट ने अपने ग्रन्थो मे कही भी अपने जीवन और समय के विषय मे कोई उल्लेख नही किया है, फलस्वरूप अधिकाश आचार्यो की ही भाँति इनका भी जीवन-परिचय तथा काल अनुमान पर ही आधारित है। मम्मट को कश्मीरी कहा जाता है। इसके कई कारण है। इनके नाम के साथ 'राजानक' उपाधि मिलती है।[1] 'राजतरङ्गिणी' के

---

[1] काव्यप्रकाश 'सङ्केत' टीका मे प्रथम तथा दशम उल्लास के अन्त मे उपसहारात्मक वाक्य मे मम्मट के लिए 'राजानक' उपाधि का प्रयोग हुआ है -इति श्रीमद्राजानकामल्लमम्मटरुचकविरचिते- - - -।' (स० का० इति, काणे, पृ० ३३६)।

अनुसार यह उपाधि कश्मीरी ब्राह्मणो को दी जाती थी।[१] इसके अतिरिक्त जेयट, कैयट, वज्रट, उवट, उद्भट आदि कश्मीरी विद्वानो के नाम के साथ सादृश्य के कारण भी (टकारान्त होने से) इन्हे कश्मीरी कहा जाता हे।[२] 'काव्यप्रकाश' के पञ्चम उल्लास मे इन्होने 'कुरु रुचिम्' प्रयोग मे पदो के विपर्यय मे दोष दिखाया है। इस पर 'काव्यप्रकाशदर्पण' नामक अपनी टीका मे आचार्य विश्वनाथ ने लिखा है कि -चिङ्कुपद काश्मीरादिभाषायामश्लीलार्थबोधकम्।[३] इन तर्कों के आधार पर मम्मट को कश्मीरी माना जा सकता है।

आचार्य भीमसेनदीक्षितकृत काव्यप्रकाश की 'सुधासागर' टीका मे मम्मट का जीवन-परिचय दिया गया है जिसके अनुसार मम्मट कश्मीर देश मे उत्पन्न हुए थे। इनके पिता का नाम जैयट था तथा उवट (या औवट) एव कैयट इनके कनिष्ठ भ्राता थे।[४]

'काव्यप्रकाश' की 'बालबोधिनी' टीका के रचयिता झलकीकरवामन एव प्रो० पी० वी० काणे इत्यादि विद्वानो के अनुसार उपर्युक्त मत की निश्चितता सदिग्ध है।[५] चारो वेदो के भाष्यकार के रूप मे उवट का उल्लेख मिलता हे । कैयट ने पतञ्जलि के 'महाभाष्य' पर टीका लिखी थी। औवटकृत वाजसनेयी सहिता के भाष्य के अन्त मे एक पद्य आया है-

आनन्दपुरवास्तव्यवज्रटाख्यस्य सूनुना।

मन्त्रभाष्यमिद क्लृप्त भोजे पृथ्वी प्रशासति॥

इस पद्य के अनुसार उवट के पिता वज्रट थे और उवट भोज के समकालीन थे, किन्तु भीमसेनदीक्षित जी ने मम्मट के पिता का नाम 'जैयट' बताया है। यदि उवट मम्मट के भ्राता थे तो दोनो के पिता के नामो मे भिन्नता कैसे

---

[१] राज्ञी कृतज्ञभावेन साऽपि मन्त्रिसभान्तरे ।
तमाजुहाव निर्द्रोह स्वय राजानकाख्यया ॥ (रा० त०, ६/२६१) ।

[२] मम्मट क जनपद जन्मनालञ्चकारेति निर्णयप्रवृत्ता वय 'काश्मीरजनपदम्' इति निश्चिनुम यदस्य मम्मटेति नाम देशान्तरासुलभाना जैयटकैयटवज्रटउवटऔवटउद्भटरुद्रटधम्मटकल्लटभल्लटलोल्लटअल्लटइत्यादिनाम्ना सादृश्यमनुभवति। (का० प्र०, बा० बो०, प्रस्ता०, पृ० ६) ।

[३] का० प्र०, बा० बो०, प्रस्ता०, पृ० ६ ।

[४] सुधासागराख्यकाव्यप्रकाशटीकाया भीमसेनेन तु 'अय मम्मट कश्मीरदेशीय जैयटपुत्र वाराणसीमागत्याधीतशास्त्र अस्य च मम्मटस्य पतञ्जलिप्रणीतव्याकरणमहाभष्यटीकाकर्ता कैयट वेदचतुष्टयभाष्यकर्ता उवटापरनामा औवटश्चेति द्वावपि कनिष्ठौ भ्रातरौ' इति वर्णितम्। (का० प्र०, बा० बो०, प्रस्ता, पृ० ६) ।

[५] का० प्र०, बा० बो०, प्रस्ता०, पृ० ७, स० का० इति०, काणे, पृ० ३४१ ।

मानी जा सकती है? इसके अतिरिक्त मम्मट को भोज का उत्तरवर्ती या उनके शासन काल के अन्तिम चरण मे विद्यमान माना जाता है।[१] ऐसी दशा मे उनके कनिष्ठ भ्राता उवट को भोज का समकालीन नही माना जा सकता है।

एक किवदन्ती के अनुसार आचार्य मम्मट 'नैषधीयचरितम्' के लेखक महाकवि श्री हर्ष के मामा थे। कोई प्रामाणित आधार न होने से इस किवदन्ती को सत्य नही माना जा सकता। मम्मट तथा श्री हर्ष के समय मे भी लगभग १०० वर्षों का अन्तराल हे। श्री हर्ष का समय द्वादश शताब्दी का उत्तरार्ध है[२] जबकि मम्मट का समय एकादश शताब्दी के उत्तरार्ध मे माना जाता है।

१ ७ मम्मट का समय

'काव्यप्रकाश' मे आचार्य मम्मट ने कतिपय विद्वानो का उल्लेख किया है तथा इनके उत्तरवर्ती ग्रन्थो मे इनका उल्लेख पाया जाता है जिसके आधार पर इनका समय निर्धारित किया जा सकता है।

'काव्यप्रकाश' मे आचार्य अभिनवगुप्त का नाम सहित उल्लेख है[३] तथा पद्मगुप्तरचित 'नवसहसाङ्कचरित' के श्लोक भी उद्‌धृत किये गये है।[४] इसके अतिरिक्त उदात्त अलङ्कार के प्रसङ्ग मे भोज की उदारता का भी वर्णन है।[५]

इनमे आचार्य अभिनवगुप्त का समय दसवी शताब्दी का अन्त तथा ग्यारहवी शताब्दी के प्रथम चरण के मध्य माना गया है।[६] 'नवसहसाङ्कचरित' की रचना १००५ ई० के लगभग की है।[७] 'मम्मट ने जिस भोज की उदारता का वर्णन किया है वे 'शृङ्गारप्रकाश' तथा 'सरस्वतीकण्ठाभरण' नामक प्रसिद्ध आलङ्कारिक ग्रन्थो के रचयिता धारा नरेश भोजराज है। इनके राज्यकाल की अधिकतम सीमा विद्वानो ने १०५५ ई० निर्धारित की है।[८] मम्मट ने भोज का जो वर्णन किया है उससे यही प्रतीत होता है कि इस श्लोक की रचना के समय राजा भोज की कीर्ति का पूर्ण प्रसार

---

[१] मम्मट ने उदात्त अलङ्कार के प्रसङ्ग मे भोज का उल्लेख किया हे - 'यद्विद्वद्भवनेषु भोजनृपतेस्तत् त्यागलीलायितम्। (का० प्र०, पृ० ५५३) ।

[२] 'सस्कृत-सुकविसमीक्षा', आचार्य बलदेव उपाध्याय, पृ० ३७३, 'सस्कृत-कवि-दर्शन', डा० भोलाशङ्कर व्यास, पृ० १५६ ।

[३] श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादा। (का० प्र०, पृ० १३८) ।

[४] (क) शिरीषादपि मृद्वङ्गी क्वेयमायतलोचना।
अय क्व च कुकूलाग्निकर्कशो मदनानल। (का० प्र०, पृ० ५८०) ।
(ख) पुराणि यस्या सवराङ्गनानि वराङ्गना रूपपुरस्कृताङ्ग्य
रूप समुन्मीलितसद्विलासमस्त्र विलासा कुसुमायुधस्य। (का० प्र०, पृ० ५८७) ।

[५] का० प्र०, पृ० ५५३ ।

[६] स० का० इति०, काणे, ३०३, स० का० इति०, डे, पृ० १०४ ।

[७] स० का० इति, काणे, ३४१ ।

[८] स० का० इति०, काणे, पृ० ३२६, स० का० इति०, डे, पृ० १२५ ।

हो चुका था, अर्थात् यह भोज के राज्यकाल के अन्तिम समय मे अथवा उसके कुछ काल बाद ही रचा गया। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि १०५५ ई० या उसके कुछ वर्षों के पश्चात् तक काव्यप्रकाश की रचना हो चुकी थी।

'काव्यानुशासन' के रचयिता आचार्य हेमचन्द्र ने अपने ग्रन्थ मे मम्मट का उल्लेख किया है।[1] काव्यानुशासन का समय ११४३ ई०हे। इसके अतिरिक्त काव्यप्रकाश की अनेक टीकाओ मे माणिक्यचन्द्र की 'सङ्केत' टीका ही सर्वप्राचीन मानी जाती हे। इस टीका की एक हस्तलिखित प्रति पर १२१५ सवत् अर्थात् ११५८ ई० अङ्कित है।[2] इन तथ्यो से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि बारहवी शताब्दी के मध्य तक 'काव्यप्रकाश' को पूर्ण प्रसिद्धि मिल चुकी थी। इस प्रकार 'काव्यप्रकाश' की रचना का काल १०५५ ई० से १०६० ई० तक मान ले तब मम्मट का जन्म समय १०२५ या १०३० ई० माना जा सकता है।

१. ८ मम्मट के ग्रन्थ

आचार्य मम्मट ने दो ग्रन्थो की रचना की- 'काव्यप्रकाश' एव 'शब्दव्यापारविचार'। साहित्यशास्त्र मे इनके ग्रन्थ 'काव्यप्रकाश' को अतुलनीय स्थान प्राप्त है। इसमे दस उल्लास है। इसके कारिका, वृत्ति तथा उदाहरण ये तीन भाग है। इसमे, काव्यलक्षण, प्रयोजन, हेतु, भेद, दोष, गुण एव ध्वनि-भेदो के साथ-साथ अलङ्कारो का विशद विवेचन हुआ है। मम्मट के इस ग्रन्थ पर अनेक टीकाएँ लिखी जा चुकी है। महेश्वरकृत 'भावार्थचिन्तामणि' नामक एक टीका मे 'काव्यप्रकाश' के विषय मे कहा गया है -

'काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे-गृहे टीका तथाप्येष तथैव दुर्गम ।

सुखेन विज्ञातुमिम य ईहते धीर स एता निपुण विलोकताम्।'[3]

कतिपय विद्वानो का यह मत है कि 'काव्यप्रकाश' की कारिकाएँ आचार्य भरत द्वारा लिखी गई तथा मम्मट ने वृत्तियो की रचना की। इस मत को मानने वालो मे 'काव्यप्रकाश' के परवर्ती टीकाकार विद्याभूषण तथा महेश्वर है। विद्याभूषण की 'साहित्यकौमुदी' मे यह उल्लिखित है -

मम्मटाद्युक्तिमाश्रित्य मिता साहित्यकौमुदीम्

वृत्ति भरतसूत्राणा श्रीविद्याभूषणो व्यधात्॥[4]

---

[1] यथाह मम्मट - अगूढमपरस्याङ्ग वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम्- - - । (काव्यानुशासनम्, पृ० १३०) ।

[2] स० का० इति०, काणे, पृ० ३४२ ।

[3] स० का० इति०, काणे, पृ० ३४३ ।

[4] स० का० इति०, काणे, पृ० ३३५ ।

'काव्यप्रकाश' की कारिकाओ का रचयिता भरत मुनि या मम्मट से भिन्न किसी भी अन्य व्यक्ति को मानना युक्तियुक्त नही है। इस मत के विरुद्ध अनेक तर्क दिया जा सकते हे। आचार्य मम्मट ने इसका उल्लेख कही भी नही किया है कि वे किसी दूसरे की कारिकाओ पर वृत्ति लिख रहे है ओर न ही वृत्ति के लिए कोइ पृथक् मङ्गलाचरण है। केवल कारिकाओ के प्रारम्भ मे ही मङ्गलाचरण मिलता है।[1] इसके अतिरिक्त चतुर्थ उल्लास मे रस की परिभाषा वाली कारिकाये-

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च

रत्यादे स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययो।

विभावा अनुभवास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिण

व्यक्त स तैर्विभावाद्यै स्थायी भावो रस स्मृत॥

मिलती हे। इसकी वृत्ति मे लिखा गया हे - 'उक्त हि भरतेन विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद्रसनिष्पत्ति'।[2] यदि काव्यप्रकाश की कारिकाएँ भरत की रचना होती तो मम्मट वृत्ति मे अन्यत्र (नाट्य-शास्त्र मे) उन्ही की कही गई उक्ति को प्रमाण रूप मे उद्धृत नही करते।[3] परवर्ती आचार्य हेमचन्द्र ने मम्मट का उल्लेख कारिका के साथ ही किया है।[4]

मम्मट के दूसरे ग्रन्थ 'शब्दव्यापारविचार' की तीन कारिकाएँ अक्षरश 'काव्यप्रकाश' की ही है।[5] यदि 'काव्यप्रकाश' की कारिकाएँ मम्मट की न होती तो दूसरे ग्रन्थ मे अन्य के द्वारा रचित कारिकाओ को देने की क्या

---

[1] प्रो० पी० वी० काणे तथा सुशील कुमार डे इत्यादि विद्वानो ने भी विभिन्न तर्कों द्वारा मम्मट को ही कारिका तथा वृत्ति दोनो का रचयिता माना है। स० का० इति, काणे, ३३८, स० का० इति, डे, पृ० १४१ ।

[2] का० प्र०, पृ० ११६ ।

[3] यदि कारिकाकृत् भरतमुनि स्यात्तदा चतुर्थोल्लासे कारिकया उक्तस्यार्थस्य प्रमाणतया 'उक्त हि भरतेन' इत्यादिना भरतोक्तिरुद्धृता न स्यात्। क खल्वनुन्मत्तस्तदुक्तावेव तदुक्ति प्रमाणतया उपन्यस्यति। (का० प्र०, बा० बो०, प्रस्ता०, पृ० ११ - १२)।

[4] यथाह मम्मट - अगूढमपरस्याङ्ग वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम् ।
सदिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम् ॥
व्यङ्ग्यमेव गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदा स्मृता॥ (काव्यानुशासनम्, पृ० १३०) ।
हेमचन्द्र द्वारा उद्धृत उपर्युक्त कारिकाएँ काव्यप्रकाश के पञ्चम उल्लास की है। (का० प्र०, पृ० २१६) ।

[5] स्वसिद्धये पराक्षेप परार्थ स्वसमर्पणम्
उपादान लक्षण चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा॥
सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा
विषय्यन्त कृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका
भेदाविमौ च सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतस्तथा
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ लक्षणा तेन षड्विधा।
'शब्दव्यापारविचार' की तीनो कारिकाएँ 'काव्यप्रकाश' के द्वितीय उल्लास की कारिका सख्या १०, ११ तथा १२ है।

आवश्यकता थी? अत आचार्य मम्मट ही वृत्ति सहित काव्यप्रकाश की कारिकाओ के भी रचयिता थे इसमे सन्देह नही है।

'काव्यप्रकाश' के पूरक रचनाकार के रूप मे अलक या अल्लटसूरि का नाम भी लिया जाता हे। इसके दशम उल्लास के अन्त मे एक श्लोक मिलता है-

'इत्येष मार्गो विदुषा भिन्नोऽप्यभिन्नरूप प्रतिभासते यत्

न तद्विचित्र यदमुत्र सम्यग्विनिर्मिता सघटनैव हेतु ॥'[1]

विविध टीकाकारो ने इसकी व्याख्या करते हुए इसके दो अर्थ निकाले है और इसी आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि 'काव्यप्रकाश' के दो रचनाकार थे। आनन्दकवि ने अपनी 'निदर्शना' नामक टीका मे लिखा है कि मम्मट ने परिकर अलङ्कारपर्यन्त ही ग्रन्थ की रचना की थी। शेष भाग अल्लट सूरि (कही कही अलक पाठ भी मिलता है) ने रचा। माणिक्यचन्द्र, सरस्वतीतीर्थ इत्यादि अन्य टीकाकारो ने भी दो लेखको वाले मत की ही पुष्टि की है।[2]

उपर्युक्त मत को मानने मे एक विसङ्गति है। आचार्य मम्मट की दूसरी कृति है 'शब्दव्यापारविचार'। इसमे 'शब्द-शक्ति का विवेचन है जो कि 'काव्यप्रकाश' के द्वितीय उल्लास मे मिलता है इसके साथ ही 'शब्दव्यापारविचार' मे ध्वनि-विरोधी मत तथा उनका खण्डन भी सक्षिप्त रूप मे दिया गया है जो कि 'काव्यप्रकाश' के पञ्चम उल्लास मे विस्तृत रूप से वर्णित है। 'शब्दव्यापारविचार' की रचना मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' के पश्चात् की इसका स्पष्ट कथन उन्होने इस ग्रन्थ के अन्त मे किया है-

'एतच्चान्यत्र विस्तरेण विचारितमिति सक्षेपेणेहोक्तमिति।'

यदि 'काव्यप्रकाश' के दो लेखको वाले मत को सत्य मान लिया जाये तक यह मानना पडेगा कि 'काव्यप्रकाश' को पञ्चम उल्लास तक लिख लेने के बाद उसे अपूर्ण छोडकर मम्मट ने 'शब्दव्यापारविचार' की रचना की। किन्तु मम्मट को 'काव्यप्रकाश' जैसे बृहत् विषय वाले ग्रन्थ को प्रारम्भ करके और उसे मध्य मे ही छोडकर दूसरे ग्रन्थ की रचना करने की क्यो आवश्यकता पडी, यह प्रश्न अनुत्तरित रह जाता है। यदि कोई अपने एक ग्रन्थ को अपूर्ण छोडकर दूसरे ग्रन्थ का प्रणयन करता है तब उसका कोई न कोई कारण भी अवश्य होता है। जैसा कि बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' नामक आख्यायिका मे हर्ष का चरित अधूरा ही छोड दिया है। इसका कारण यह हो सकता है कि पुलकेशिन् द्वितीय द्वारा हर्ष के पराजित होने से कदाचित् बाणभट्ट ने अपने कथा-नायक की पराजय का वर्णन न

---

[1] का० प्र०, पृ० ६३१।

[2] स० का० इति०, काणे, पृ० ३३८।

करने की इच्छा से उसका चरित अपूर्ण ही छोड दिया हो। इसी प्रकार 'कादम्बरी' की रचना भी पूरी नही हो सकी थी, किन्तु उसका कारण था बाणभट्ट की असमय मे मृत्यु। इस दृष्टि से आचार्य मम्मट को ही सम्पूर्ण 'काव्यप्रकाश' का लेखक मानना युक्तियुक्त प्रतीत होता है।

१ ६ 'शब्दव्यापारविचार' एव उसका महत्त्व

मम्मट का दूसरा ग्रन्थ 'शब्दव्यापारविचार' एक सक्षिप्त प्रकरण-ग्रन्थ है। इसका नाम 'शब्दव्यापारपरिचय' भी मिलता है।[१] इसमे शब्द-शक्तियो की विवेचना है। शब्दो की चार प्रकार की उपाधियो, लक्षणा, उसके भेद, व्यञ्जनाशक्ति के वर्णन के साथ ही सक्षेप मे व्यञ्जना-विरोधी मतो की उपस्थापना तथा उनका खण्डन किया गया है।

काव्यशास्त्र के समीक्षको, इतिहासकारो तथा अन्य आधुनिक काव्यशास्त्रीय विद्वानो ने 'शब्दव्यापारविचार' को उतना महत्त्व नही दिया है जितना 'काव्यप्रकाश' को। 'आचार्य मम्मट' नामक ग्रन्थ के लेखक प्रो० धुण्डिराजगोपालसप्रे ने तो अपने इस ग्रन्थ मे यहाँ तक लिखा है कि काव्यप्रकाश के समक्ष इस पुस्तिका का कोई महत्त्व नही है। 'शब्दव्यापारविचार' मम्मट की रचना है इस पर भी प्रो० सप्रे ने सन्देह व्यक्त किया है।[२]

यह सत्य है कि 'काव्यप्रकाश' जैसे विशाल ग्रन्थ के एक विषय को आधार बनाकर ही 'शब्दव्यापारविचार' लिखा गया तथा इसकी तीन कारिकाएँ 'काव्यप्रकाश' की ही है, किन्तु केवल इसी कारण से इस ग्रन्थ की महत्ता को अस्वीकार नही किया जा सकता। 'काव्यप्रकाश' मे काव्यशास्त्र के सम्पूर्ण विषय का विशद वर्णन है और उसमे प्रसङ्गवश ही विरोधी सिद्धान्तो का खण्डन किया गया है। 'शब्दव्यापारविचार' मुख्य रूप से 'अभिधावृत्तिमातृका' की आलोचना मे लिखा गया है। वस्तुत आचार्य मम्मट प्रबल ध्वनि-समर्थक आचार्य थे और मुकुलभट्ट व्यञ्जना अथवा ध्वनि-विरोधी आचार्य। इनके ग्रन्थ मे वस्तु, अलङ्कार तथा रस इन तीनो प्रकार की ध्वनियो का अन्तर्भाव लक्षणा मे ही दर्शाया गया है। मम्मट के मस्तिष्क मे मुकुलभट्ट का ग्रन्थ अत्यधिक प्रभावी था जिसके कारण इन्हे पृथक् रूप से ग्रन्थ की रचना करके इसकी आलोचना करनी पडी। 'शब्दव्यापारविचार' मे विषयो के वर्णन का क्रम 'अभिधावृत्तिमातृका' के अनुरूप ही हुआ है। इस कारण इसमे कई ऐसे विषय भी विचारित है जिनका निरूपण 'काव्यप्रकाश' मे नही मिलता।

'शब्दव्यापारविचार' मे लक्षणा की परिभाषा 'काव्यप्रकाश' मे प्रदत्त परिभाषा से भिन्न शब्दो मे दी गई है, किन्तु उसके भेदो का वर्णन 'काव्यप्रकाश' के अनुसार ही है। 'शब्दव्यापारविचार' मे वक्ता, वाक्य तथा वाच्य की

---

[१] श० व्या० वि०, पृ० ३८ ।

[२] स० का० इति०, डे, पृ० १४३ ।

सापेक्षता के कारण होने वाली लक्षणा की अनेकता पर विचार हुआ है जिसकी चर्चा 'काव्यप्रकाश' मे नही मिलती। तृतीय उल्लास मे आर्थी व्यञ्जना के प्रसङ्ग मे ही वक्ता, बोधव्यादि की सापेक्षता का उल्लेख है। मुकुलभट्ट ने वक्ता, वाक्य तथा वाच्य की सापेक्षता से होने वाली लक्षणा के जो उदाहरण दिये है वे ध्वनिवादियो को मान्य वस्तु, अलङ्कार तथा रस के उदाहरण है। यही कारण हे कि मम्मट ने उन उदाहरणो मे मुख्यार्थबाधादि के अभाव मे लक्षणा का निषेध किया है तथा अपने उदाहरण दिये है जो वक्ता आदि की सापेक्षता से होने वाली लक्षणा के हो सकते हे।

व्यञ्जनाशक्ति की अनिवार्यता का प्रतिपादन करते हुए विशिष्टलक्षणावाद के खण्डन के अवसर पर इसमे मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' से नवीन तर्क भी दिये है। इसके अतिरिक्त 'शब्दव्यापारविचार' मे निरूढा, प्रयोजनवती तथा त्याज्य लक्षणाओ का पृथक् कारिका मे वर्णन किया है।[1] 'काव्यप्रकाश' मे त्याज्य लक्षणा की चर्चा सप्तम उल्लास मे नेयार्थ दोष के प्रसङ्ग मे की गई है। वहाँ केवल निषिद्ध लक्षणा का उदाहरण है और साथ ही कुमारिलभट्ट की कारिका भी उद्धृत है।[2] रूढि तथा प्रयोजन से रहित लक्षणा ही निषिद्ध लक्षणा होती है।[3]

लक्षणा अभिधा के पूर्व होती है अथवा पश्चात् इस विषय पर 'काव्यप्रकाश' मे विचार नही किया गया है, किन्तु मुकुलभट्ट से प्रभावित होकर मम्मट ने 'शब्दव्यापारविचार' मे अभिहितान्वयवाद, अन्विताभिधानवाद तथा अखण्डार्थवाद मे अभिधा तथा लक्षणा के पौर्वापर्य का विवेचन है। अभिहितान्वयवाद तथा अन्विताभिधानवाद की व्याख्या 'काव्यप्रकाश' की अपेक्षा इस ग्रन्थ मे अधिक स्पष्ट है।

लक्षणा के प्रयोजक हेतुओ मे मुख्यार्थ के साथ लक्ष्यार्थ का सम्बन्ध भी एक कारण माना गया है। मम्मट ने 'शब्दव्यापारविचार' मे सादृश्य, कार्य-कारण, स्वस्वामिभाव, अवयवअवयविभाव इत्यादि से होने वाले सम्बन्धो का उल्लेख लक्षणा भेद के अवसर पर 'काव्यप्रकाश' की ही भाँति किया है किन्तु अन्त मे पृथक् रूप से भर्तृमित्र की 'अभिधेयेन सम्बन्धात्- - -। इत्यादि कारिका उद्धृत करते हुए पाँच प्रकार के सम्बन्धो की सोदाहरण व्याख्या भी की है जैसा कि मकुलभट्ट ने अपने ग्रन्थ मे किया है।

'काव्यप्रकाश' मे मम्मट ने व्यञ्जना-शक्ति अथवा व्यङ्ग्यार्थ की कोई स्पष्ट परिभाषा नही दी है किन्तु 'शब्दव्यापारविचार' की अन्तिम कारिका मे व्यङ्ग्यार्थ को अपेक्षाकृत स्पष्ट रूप से परिभाषित किया है, जिसमे प्रतिभा

---

[1] 'आचार्य मम्मट, प्रो० धुण्डिराजगोपालसप्रे, पृ० १६ ।

[2] निरूढा काचनान्या तु कार्या सा काचिदन्यथा। (श० व्या० वि०, पृ० २३) ।

[3] नेयार्थम् - 'निरूढा लक्षणा काश्चित्सामर्थ्यादभिधानवत्।
क्रियन्ते साम्प्रत काश्चित्काश्चिन्नैव त्वशक्तित ।
इति यन्निषिद्ध लाक्षणिकम्। यथा -
शरत्कालसमुल्लासिपूर्णिमाशर्वरीप्रियम्,
करोति ते मुख तन्वि चपेटापातनातिथिम्। (का० प्र०, पृ० २६०) ।

की निर्मलता तथा विदग्धता पर बल दिया गया है।[2] अभिधा के लिए जो महत्त्व 'सङ्केत' का है, मुख्यार्थबाधादि के विना जैसे लक्षणा नही हो सकती वैसे ही प्रतिभानैर्मल्य, वेदग्ध्य तथा प्रस्तावादि के वैशिष्ट्य के विना व्यङ्ग्यार्थ-बोध सम्भव नही है। इस ग्रन्थ मे व्यङ्ग्यार्थ का सामान्य परिचय दिया गया हे। 'काव्यप्रकाश' मे अभिधामूला, लक्षणामूला के साथ ही आर्थी व्यञ्जना का सविस्तार विवेचन है किन्तु 'शब्दव्यापारविचार' मे मम्मट ने पद तथा वाक्य से प्रकाशित होने वाले व्यङ्ग्यार्थ के पृथक्-पृथक् उदाहरण देकर उन्हे अभिधामूला व्यञ्जना कहा हे।

कभी-कभी काव्य मे व्यङ्ग्यार्थ की स्थिति तो होती है किन्तु वह गौण या अप्रधान होता है। 'शब्दव्यापारविचार' मे इसके भी दो उदाहरण दिये गये हे। 'काव्यप्रकाश' मे काव्य के एक प्रकार के रूप मे गुणीभूतव्यङ्ग्य तथा उसके आठ भेदो की सोदाहरण व्याख्या है।

'शब्दव्यापारविचार' मे मम्मट ने कही भी 'उत्तम' काव्य के रूप मे ध्वनि काव्य का कोई वर्णन नही किया है। 'ध्वनि' शब्द दो बार आया अवश्य है किन्तु वह शब्द के पर्याय के रूप मे ही है।[3] व्यञ्जना-व्यापार को यहाँ भी ध्वनन कहा गया हे।[4]

इस प्रकार 'शब्दव्यापारविचार' को 'काव्यप्रकाश' के मात्र द्वितीय उल्लास का विस्तृत रूप समझ कर उसको महत्त्वहीन मानना उचित नही है। एक आलोचनात्मक ग्रन्थ के रूप मे साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थो मे इसका महत्त्व कम नही हे।

१.१० आचार्य मम्मट की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

मुकुलभट्ट के पश्चात् काव्यशास्त्रीय जगत् मे मम्मट के पूर्व जो महत्त्वपूर्ण आचार्य हुए उनमे कालक्रम की दृष्टि से **आचार्य कुन्तक** का नाम सर्वप्रथम है जिन्होने काव्यशास्त्रीय विषय पर 'वक्रोक्तिजीवितम्' नामक ग्रन्थ लिखा। कुन्तक ने अपने ग्रन्थ मे राजशेखर को उद्धृत किया है तथा महिमभट्ट ने कुन्तक के ग्रन्थ का उल्लेख किया है। इस आधार पर आचार्य कुन्तक का समय दसवी शताब्दी के अन्त से ग्यारहवी शताब्दी के मध्य माना जा सकता है।[5] प्रो०

---

[1] निषिद्धमिति। रूढिप्रयोजनान्यतरशून्यमिति पर्यवसितोऽर्थ। (का० प्र०, बा० बो०, पृ० २८३)।

[2] प्रज्ञानैर्मल्य-वैदग्ध्यप्रस्तावादिविधायुज।
अभिधालक्षणायोगी व्यङ्ग्योऽर्थ प्रथितो ध्वने॥ (श० व्या० वि०, पृ० ३३)।

[3] उपर्युक्त कारिका मे 'ध्वनि' शब्द का ही पर्याय है। इसके साथ ही 'जाति क्रिया गुण सज्ञा वाच्योऽर्थ समितध्वनि।' इस प्रथम कारिका मे भी 'ध्वनि' शब्द के लिए आया है।

[4] न चैवमभिधाया लक्षणाया वा कश्चिदवसर इति भिन्नमेव ध्वननम्। (श० व्या० वि०, पृ० ३६)।

[5] स० का० इति०, डे०, पृ० ११८ ।

काणे ने इनके ग्रन्थ को दसवी शताब्दी के प्रथम चरण के बाद की ही रचना माना है।[1] इस ग्रन्थ मे काव्य के लक्षण प्रयोजन के साथ साथ छ प्रकार की वक्रता का वर्णन है। कुन्तक अभिधावादी आचार्य थे। इन्होने वक्रोक्ति की परिभाषा दी हे-

विचित्रैवाभिधा वक्रोक्तिरित्युच्यते' (व० जी०, १/१०, पृ० ५१)।

इन्होने लक्ष्य एव व्यङ्ग्य अर्थ को स्वीकार करते हुए भी उसका अन्तर्भाव वाच्य मे ही कर लिया है। षड्विध वक्रता के भेदोपभेदो के वर्णन के माध्यम से ही कुन्तक ने परोक्षरूपेण ध्वनि-भेदो को उसमे समाविष्ट मान लिया है। इस दृष्टि से इन्हे ध्वनि-विरोधी आचार्य माना जाता हे यद्यपि इन्होने साक्षात् रूप से ध्वनि-सिद्धान्त का विरोध नही किया है।

कुन्तक के पश्चात् आचार्य **अभिनवगुप्त** का नाम आता है जिनका समय ९५० ई० से १०२० ई० के मध्य माना गया है।[2] अभिनवगुप्त कश्मीरी विद्वान् थे। इन्होने अनेक ग्रन्थो की रचना की। साहित्य के क्षेत्र मे 'ध्वन्यालोक' पर 'लोचन' टीका तथा 'नाट्यशास्त्र' पर 'अभिनवभारती' नामक टीका इनकी अनुपम रचनाएँ मानी जाती है। कश्मीरी शैव-दर्शन के प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र पर भी इन्होने कई ग्रन्थ लिखे है। इनकी 'लोचन' एव 'अभिनवभारती' टीकाएँ काव्यशास्त्र के दो प्रमुख सम्प्रदाय ध्वनि तथा रस मे प्रमाणस्वरूप समझी जाती है। आचार्य मम्मट पर लोचन का बहुत प्रभाव पडा है रस-सिद्धान्त की व्याख्या के अवसर पर उन्होने अत्यन्त आदर सहित अभिनवगुप्त का उल्लेख किया है।

मम्मट के पूर्ववर्ती आचार्यो मे व्यक्तिविवेककार **महिमभट्ट** ध्वनि-विरोधी आचार्य थे। इन्होने 'ध्वन्यालोक' के ध्वनि-सिद्धान्त की आलोचना के लिए ही अपने ग्रन्थ का प्रणयन किया।[3] महिमभट्ट को 'राजानक' उपाधि मिली थी जिससे इनका कश्मीरी होना सिद्ध होता है। महिमभट्ट का समय १०२० ई० से १०५० ई० के मध्य माना जाता है।[4]

आचार्य महिमभट्ट नैयायिक थे। व्यञ्जना-विरोधी आचार्यो मे इनका नाम प्रमुखता से लिया जाता है। इन्होने अभिधा नाम की एक ही शब्द-शक्ति मानी है।[5] व्यञ्जनावृत्ति का विरोध करते हुए व्यङ्ग्यार्थ का अन्तर्भाव इन्होने

---

[1] स० का० इति०, काणे, पृ० २९४ ।

[2] स० का० इति०, काणे, पृ० ३०३, स० का० इति०, डे, पृ० १०४ ।

[3] अनुमानेऽन्तर्भाव सर्वस्यैव ध्वने प्रकाशयितुम्
व्यक्तिविवेक कुरुते प्रणम्य महिमा परा वाचम्। (व्य० वि०, १/१)।

[4] स० का० इति०, काणे, ३१९ ।

[5] (क) नापि शब्दस्याभिधाव्यतिरेकेण व्यञ्जकत्व व्यापारान्तरमुपपद्यते - - - । (व्य० वि०, पृ० १२७)।
(ख) शब्दस्यैकाभिधाशक्तिरर्थस्यैकैव लिङ्गता। (व्या० वि०, पृ० १०५)।

अनुमान मे ही माना है। आचार्य मम्मट ने अपने ग्रन्थ मे व्यङ्ग्यार्थ प्रतीति को अनुमान मानने का खण्डन किया है। टीकाकार इसे महिमभट्ट की ही आलोचना मानते है।

महिमभट्ट के पश्चात् धारा नरेश **भोज** का नाम लिया जाता है जिनकी दो कृतियाँ सर्वाधिक प्रसिद्ध है - 'सरस्वतीकण्ठाभरण' तथा 'शृङ्गारप्रकाश'। इनकी इन दो रचनाओ का समय १००५ ई० से १०५४ ई० के बीच सम्भावित है।[1] इन्होने अनेक ग्रन्थो की रचना की है। 'सरस्वतीकण्ठाभरण' मे पूर्ववर्ती कवियो के अनेक ग्रन्थो से उदाहरण लिये गये है, जिनमे अधिकाश 'काव्यादर्श' के है। इसमे काव्य के प्रयोजन, लक्षण, जाति, रीति, अलङ्कार, रस, नायक, नायिका, नाट्यसन्धियो आदि का वर्णन किया गया है।

भोज की दूसरी रचना 'शृङ्गारप्रकाश' मे कुल ३६ प्रकाश है। यह ग्रन्थ पूर्ण रूप मे प्रकाशित नही हुआ है। इसमे 'नाट्यशास्त्र' तथा 'काव्यशास्त्र' दोनो का विवेचन है।[2] इसमे काव्य की परिभाषा भामह के अनुसार ही दी गई है - भोज के शृङ्गार को ही एकमात्र रस माना है। एकावली मे भी इनके इस मत की चर्चा है।

भोज के पश्चात् मम्मट के पूर्ववर्ती आचार्यो मे **क्षेमेन्द्र** कश्मीरी आचार्य थे। इन्होने अनेक विषयो पर ग्रन्थ लिखे है । इनका जन्म एव रचनाकाल ६६० ई० से १०६६ ई० के मध्य माना गया है।[3] अपने ग्रन्थ 'वृहत्कथामञ्जरी' मे इन्होने अभिनवगुप्त को अपना साहित्यिक गुरु कहा है -

श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात् साहित्य बौधवारिधे ।[4]

इनके अन्य प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कविकण्ठाभरण' तथा 'औचित्यविचारचर्चा'है। 'औचित्यविचारचर्चा' मे 'औचित्य' को ही रस-सार मानते हुए इसका सविस्तार वर्णन है। -

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे।

रसजीवितभूतस्य विचार कुरुतेऽधुना।।[5]

इन्होने औचित्य की परिभाषा इस प्रकार दी है-

'उचितस्य च यो भावस्तदौचित्य प्रचक्षते'[6]

इस ग्रन्थ मे आचार्य ने ध्वन्यालोक के सिद्धान्तो का विवेचन किया है।

---

[1] स० का० इति०, काणे, पृ० ३२६ ।

[2] स० का० इति०, काणे, पृ० ३२४ ।

[3] स० का० इति०, काणे, पृ० ३३१ ।

[4] स० का० इति०, काणे पृ० ३३१ ।

[5] स० का० इति०, काणे, पृ० ३२६ ।

[6] स० का० इति०, काणे, पृ० ३२६ ।

'कविकण्ठाभरण' पाँच सन्धियो मे विभक्त है जिसमे ५५ कारिकाएँ है। इसमे तर्क, व्याकरण के अध्ययन तथा काव्य के गुण-दोषो के विषय मे चर्चा की गई हे।

१. ११ मम्मट पर पूर्ववर्तियो का प्रभाव

आचार्य मम्मट के ग्रन्थो की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि मे जहाँ व्याकरण, मीमासा, न्याय जैसे शास्त्रो की प्रभावी भूमिका रही है वही आचार्य भरत से लेकर क्षेमेन्द्र तक उत्कृष्ट काव्यशास्त्रियो की कृतियाँ भी रही है। मम्मट न केवल साहित्यिक विषयो के सूक्ष्मतम रहस्यो के ज्ञाता थे अपितु व्याकरण, मीमासा तथा न्याय के सिद्धान्तो मे भी ये पारङ्गत थे। व्याकरणसम्बन्धी इनके ज्ञान को देखते हुए तो व्याख्याकारो, टीकाकारो ने इन्हे मूलत वैयाकरण सिद्ध करने का प्रयास किया है।

किसी भी सहित्यशास्त्रीय पण्डित के लिए पद, वाक्य एव प्रमाणज्ञ होना आवश्यक ही होता है, क्योंकि साहित्यशास्त्र मुख्य रूप से इन्ही तीनो पर आधारित होता है। आचार्य मुकुलभट्ट ने इस विषय मे सत्य ही लिखा है-

पदवाक्यप्रमाणेषु तदेतत् प्रतिबिम्बितम्

यो योजयति साहित्ये तस्य वाणी प्रसीदति॥[1]

उपर्युक्त तीनो शास्त्रो मे व्याकरण ने काव्यशास्त्र के लगभग सभी पक्षो को प्रभावित किया है। इसके प्रत्येक विषय का मूल व्याकरण मे विद्यमान है। मुख्यत शब्दो का तत्त्वज्ञान तो व्याकरण के विना सम्भव ही नही है। व्याकरण की उपयोगिता को आचार्य भामह ने जिन शब्दो मे दर्शाया है वे प्रस्तुत प्रसङ्ग मे उल्लेखनीय है -

सूत्राम्भस पदावर्त्त परायणरसातलम्।

धातूणादिगणग्राह ध्यानग्रहबृहत्प्लवम्॥

धीरैरालोकितप्रान्तममेधोभिरसूयितम्।

सदोपभुक्त सर्वाभिरन्यविद्याकरेणुभि ॥

नापारयित्वा दुर्गाधममु व्याकरणार्णवम्।

शब्दरत्न स्वयगम्यमल कर्त्तुमय जन ॥[2]

---

[1] अ० वृ० मा०, पृ० ७२ ।

[2] भा० काव्या०, ६/१,२,३, पृ० १४३ ।

आचार्य मम्मट भी अन्य शास्त्रो की अपेक्षा व्याकरण से अधिक प्रभावित रहे ह। आलङ्कारिको को इन्होने स्पष्टरूप से व्याकरणमतानुसारी कहा है। उत्तम काव्य की 'ध्वनि' सज्ञा देते हुए इन्होने इसका आधार माना है व्याकरण के स्फोट-सिद्धान्त को।[1]

वैयाकरणो ने स्फोट रूप व्यङ्ग्य के व्यञ्जक शब्दो को ध्वनि कहा है। इस प्रसङ्ग मे मम्मट ने वैयाकरणो के लिए 'बुधै' जैसी सम्मानजनक सज्ञा व्यवहृत की है। इसके अतिरिक्त इनका उपाधि चतुष्टय सिद्धान्त महाभाष्य के शब्दचतुष्टयवाद पर आधारित है।[2]

मम्मट के पूर्व आनन्दवर्धन ने भी वैयाकरणो के स्फोट-सिद्धान्त को ध्वनि का आधार माना है तथा मुकुलभट्ट ने पतञ्जलि के सिद्धान्त पर उपाधिचतुष्टयवाद की स्थापना की। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि मम्मट ने आनन्दवर्धन एव मुकुलभट्ट के अनुसरण पर ही इस सिद्धान्त को मान्यता दी। किन्तु काव्यप्रकाश मे अन्य अनेक ऐसे स्थल भी है जिनपर व्यकारण-शास्त्र का प्रभाव है। जैसे विभावना अलङ्कार का लक्षण इन्होने दिया है -

क्रियाया प्रतिषेधेऽपि फलव्यक्तिर्विभावना' ।

यहाँ क्रिया का अर्थ हेतु है। इसकी व्याख्या मे 'प्रदीप' टीकाकार ने लिखा है -

'वैयाकरणाना मते क्रियैव हेतु ।

इसके अतिरिक्त मम्मट ने क्यङ्, क्यच्, क्विप्, वाक्य तथा समास आदि के आधार पर उपमा के विविध भेद किये है।[3] इस प्रकार का यह भेद वर्णन न केवल इनके व्यकारण सम्बन्धी ज्ञान का परिचायक है अपितु इन पर व्यकारण का प्रभाव भी दर्शाता है।

व्याकरण के साथ-साथ मम्मट को मीमासा तथा न्याय का भी उच्च कोटि का ज्ञान था, इसमे सन्देह नही है। इन्होने मीमासा से सम्बन्धित विविध मान्यताओ का प्रसङ्गानुकूल वर्णन किया है। शब्द-शक्तिप्रकरण मे तो खण्डन के रूप मे ही सही, मीमासा-दर्शन ही छाया हुआ है। सङ्केतितार्थ के स्वाभिमत चार प्रकारो को देते हुए 'जातिरेव वा ' कहकर इन्होने मीमासको का भी पक्ष रखा है तथा इसका खण्डन भी किया है। नैयायिको के व्यक्तिशक्तिवाद की

---

[1] --- बुधैर्वैयाकरणै प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहार कृत ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य। (का० प्र०, पृ० २४) ।

[2] का० प्र०, बा० बो०, पृ० ६५६ ।

[3] (क) वादेर्लोपे समासे सा कर्माधारक्यचिक्यङि
कर्मकर्त्रोर्णमुलि एतद्द्विलोपे क्विप्समापगा॥
(ख) धर्मोपमानयोर्लोपे वृत्तौ वाक्ये च दृश्यते।
क्यचि वाद्युपमेयासे त्रिलोपे च समासगा॥ (का० प्र०, द० उ०, पृ० ४७७, ४८०,

संक्षिप्त आलोचना की किन्तु बोद्धो के अपोहवाद का ग्रन्थ गोरव के कारण उल्लेख मात्र किया तथा 'शब्दव्यापारविचार' मे उसका उल्लेख भी अनावश्यक समझा।[१]

इसके अतिरिक्त काव्यप्रकाश मे वाच्य लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य अर्थो के साथ-साथ तात्पयार्थ को भी मानने वाले मीमासको का पक्ष दर्शाते हुए अभिहितान्वयवाद एव अन्विताभिधानवाद की व्याख्या की गई है।[२] इस प्रसङ्ग मे टीकाकारो मे यह मतभेद है कि मम्मट को अभिहितान्वयवाद अभिप्रेत था या अन्विताभिधानवाद। वस्तुत मम्मट ने तीन अर्थ ही माने है वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य। अभिहितान्वयवाद ओर अन्विताभिधानवाद की व्याख्या तो भूमिका के रूप मे की गई है क्योकि व्यञ्जना की स्थापना मे मम्मट को इन दोनो मे ही व्यञ्जना की अनिवार्यता को दर्शाना था। 'शब्दव्यापारविचार' मे इनका विवेचन पूर्णतया मुकुलभट्ट के अनुसरण पर ही हुआ है।

मीमासको का खण्डन करते हुए भी मम्मट ने मीमासा-दर्शन को प्रमाण स्वरूप उपस्थित किया है। जैसे काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास मे तथा 'शब्दव्यापारविचार' मे कुमारिलभट्ट विरचित 'तन्त्रवार्तिक' की करिका प्रमाण स्वरूप उद्धृत की है।[३] इसके अतिरिक्त काव्यप्रकाश के सप्तम उल्लास मे नेयार्थ दोष को स्पष्ट करते हुए पुन 'तन्त्रवार्तिक' की एक अन्य कारिका उद्धृत है।[४]

लक्षणा मे प्रयोजन की व्यङ्ग्यता सिद्ध करते हुए प्रयोजनविशिष्ट लक्षणा मानने के विरोध मे मम्मट ने मीमासा तथा न्याय का सिद्धान्त प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट किया है कि ज्ञान का विषय एव फल ज्ञान से भिन्न होता है। जैसे प्रत्यक्षादि ज्ञान का विषय नीलादि है और फल ज्ञातता अथवा सवित्ति।[५] यहाँ 'काव्यप्रकाश' के अधिकाश टीकाकारो के अनुसार मीमासको के अनुसार ज्ञान का फल ज्ञातता है तथा नैयायिको के अनुसार सवित्ति, किन्तु माणिक्यचन्द्र की 'सङ्केत' टीका के अनुसार 'प्रकटता' कुमारिल का मत है तथा सवित्ति प्रभाकर का।[६]

---

[१] सङ्केतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा। (का० प्र०, पृ० ४३)।

[२] तात्पर्याऽर्थोऽपि केषुचित्। (का० प्र०, पृ० ३४)।

[३] उक्त चान्यत्र -
अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते।
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता। (श० व्या० वि०, पृ० १२)।

[४] नेयार्थम्- निरूढा लक्षणा काश्चित्सामर्थ्यादभिधानवत्
क्रियन्ते साम्प्रत काश्चित्काश्चिन्नैव त्वशक्तित ॥ (का० प्र०, पृ० २६०)।

[५] नीलविषयस्य प्रमाणस्य यथा नीलनिष्ठैव प्रकटता सविद् वा फल- - - । (श० व्या० वि०, पृ० २२)।

[६] प्रकटत्व भट्टमते। सवित्ति प्रभाकरे। (का० प्र०, १६ टीकाएँ, सङ्केत, पृ० ३६१)।

काव्यप्रकाश के पञ्चम उल्लास मे व्यङ्ग्यार्थ का अनुमान मे अन्तर्भाव मानने वाले सिद्धान्त का सामान्यरूपेण खण्डन करते हुए मम्मट ने अपने न्याय-दर्शन के ज्ञान का भी परिचय दिया है। इसके अतिरिक्त अनुमान अलङ्कार का लक्षण एव वृत्ति तथा असङ्गति अलङ्कार का वृत्ति-भाग स्पष्ट रूप से इन पर न्याय-दर्शन का प्रभाव ही दर्शाता है।[1]

व्याकरण, मीमासा आदि शास्त्रो की ही भाँति मम्मट को पूर्ववर्ती साहित्यशास्त्रियो ने भी प्रभावित किया है। किन्तु प्रत्येक विषय मे मम्मट का अपना स्वतन्त्र मत भी है। किसी के विचारो से असहमत होने पर इन्होने प्रबल तर्कों से उसका खण्डन भी किया है, कही नामोल्लेख पूर्वक तो कही नाम उल्लिखित किये विना ही।

रस-निरूपण के समय मम्मट ने प्रारम्भ मे ही आचार्य भरत की कारिका उद्धृत की है।[2] रस से सम्बन्धित 'काव्यप्रकाश' की कतिपय कारिकाओ तथा नाट्य-शास्त्र की कारिकाओ मे साम्य को देखते हुए कुछ विद्वानो ने 'काव्यप्रकाश' की कारिकाओ को भरतकृत मानने की सम्भावना व्यक्त की है।

रस की सख्या को मम्मट ने पहले तो भरतोक्त आठ ही माना है किन्तु 'शान्तोऽपि नवमो रस' कहकर शान्त रस को भी स्वीकृति दी है। आचार्य भरत ने शान्त रस को मान्यता दी है।

भामह से प्रभावित होकर मम्मट ने इनका उल्लेख किया है, किन्तु भामह का नाम नही लिया। शब्दचित्र तथा अर्थचित्र के प्रसङ्ग मे भामह के काव्यालङ्कार की कारिकाएँ उद्धृत है -

तथा चोक्तम् -

रूपकादिरलङ्कारस्तस्यान्यैर्बहुधोदित ।

न कान्तमपि निर्भूष विभाति वनिताननम्॥

रूपकादिमलङ्कार बाह्यमाचक्षते परे

सुपा तिङा च व्युत्पत्ति वाचा वाञ्छन्त्यलङ्कृतिम्॥

तदेतदाहु सौशब्द्य नार्थव्युत्पत्तिरीदृशी।

शब्दाभिधेयालङ्कारभेदादिष्ट द्वयन्तु न ॥ इति।[3] (क० प्र०, पृ० २७५) ।

---

[1] (क) अनुमान तदुक्त यत् साध्यसाधनयोर्वच ।
पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकित्वेन त्रिरूपो हेतु साधनम्। (का० प्र०, पृ० ५६२) ।
(ख) इह यद्देश कारण तद्देशमेव कार्यमुत्पद्यमान दृष्ट यथा धूमादि। (का० प्र०, पृ० ५७५) ।

[2] उक्त हि भरतेन विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद्रसनिष्पति । (का० प्र०, पृ० ११६) ।

[3] उपर्युक्त कारिकाएँ भा० काव्या० की है - १/१३, १४, १५, पृ० ७, ८ ।

शब्द तथा अर्थ दोनो प्रकार के वैचित्र्य चमत्कारोत्पादक होते है, इसी की प्रामाणिकता हेतु मम्मट ने भामह की कारिकाएँ उद्धृत की है। इसके अतिरिक्त विशेष अलङ्कार के प्रसङ्ग मे भी भामह की कारिका उदधृत की है -

अत एवोक्तम् - सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।

यत्नोऽस्या कविना कार्य कोऽलङ्कारोऽनया विना॥

गुण एव अलङ्कार के भेदक धर्म के विषय मे मम्मट ने उद्भट तथा वामन की आलोचना की ह तथा वामनोक्त गुणो की सख्या का भी विरोध किया है[1], किन्तु इतना होते हुए भी सप्तम उल्लास की निम्नलिखित कारिका पर आचार्य वामन का प्रभाव है-

कर्णावतसादिपदे कर्णादिध्वनिनिर्मिति

सन्निधानादिबोधार्थम्- - - - - - - ।[2] (का० प्र०, पृ० ३६५) ।

नवम उल्लास मे श्लेष का वर्णन करते समय रुद्रट का भी उल्लेख किया है।[3]

मम्मट के ध्वनि-सिद्धान्त एव व्यङ्ग्यार्थ-निरूपण पर पूर्णतया आनन्दवर्धन का ही प्रभाव है। आनन्दवर्धन के प्रभाव से ध्वनि-विरोधी मुकुलभट्ट मुक्त नही रह पाये है तो मम्मट जैसे प्रबल ध्वनि-समर्थक पर आनन्दवर्धन का प्रभाव स्वाभविक ही है। कही अल्प परिवर्तन के साथ तो कही सम्पूर्ण रूप से मम्मट ने आनन्दवर्धन के ध्वनि-सम्बन्धी अधिकाश विचारो को अपना लिया है तथा इनके मतो को 'ध्वनिकार', 'ध्वनिकृत' इत्यादि शब्दो के द्वारा उद्धृत किया है।

आनन्दवर्धन के समान ही इन्होने भी 'ध्वनि' का आधार वैयाकरणो के स्फोट-सिद्धान्त को माना है। 'काव्यप्रकाश' मे मुख्यरूप से ध्वनि के वस्तु, अलङ्कार एव रस ध्वनि रूप से जो तीन भेद मिलते है उस पर भी आनन्दवर्धन का ही प्रभाव है।[4] इसके अतिरिक्त इन्होने गुणीभूतव्यङ्ग्य[5] तथा रस दोष के प्रसङ्ग मे ध्वनिकार के विचार प्रमाण स्वरूप प्रस्तुत किया है।

---

[1] का० प्र०, पृ० ४१३, ४१४, ४२० ।

[2] कर्णावतसश्रवणकुण्डलशिर शेखरेषु कर्णादिनिर्देश सन्निधे। (काव्या० सू०, २/२/१४, पृ० ७५) ।

[3] तथा ह्युक्त रुद्रटेन-

स्फुटमर्थालङ्कारावेतावुपमासमुच्चयौ किन्तु

आश्रित्य शब्दमात्र सामान्यमिहापि सम्भवत। (का० प्र०, पृ० ४५३ - ४५४) ।

[4] (क) सङ्कलनेन पुनरस्य ध्वनेस्त्रयो भेदा व्यङ्ग्यस्य त्रिरूपत्वात्। (का० प्र०, पृ० २३७) ।

(ख) स ह्यर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्त वस्तुमात्रम् अलङ्काररसादयश्चेत्यनेकप्रभेदप्रभिन्नो दर्शयिष्यते। (ध्व०, प्र० उ०, पृ० ७३) ।

[5] इति ध्वनिकारोक्तदिशा वस्तुमात्रेण यत्रालङ्कारो व्यज्यते न तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम् । (का० प्र०, पृ० २३५) ।

ध्वनि-विरोधियो के खण्डन के अवसर पर भी मम्मट आनन्दवर्धन से प्रभावित रहे है। वाच्य तथा व्यङ्ग्य के परस्पर भेदक कारणो के प्रतिपादन मे भी आनन्दवर्धन का प्रभाव देखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त कही-कही मम्मट 'ध्वन्यालोक' के शब्द भी अपनाते गये है। उदाहरणस्वरूप 'काव्यप्रकाश' के 'न च शब्द स्खलद्गति'।[1] शब्द 'ध्वन्यालोक' के 'शब्दो नेवस्खलद्गति'[2] से साम्य रखते है।

इसी प्रकार अन्य अनेक उदाहरण मम्मट के ग्रन्थ मे मिलेगे जिन पर आनन्दवर्धन का प्रभाव है।

'काव्यप्रकाश' के द्वितीय उल्लास पर आचार्य मुकुलभट्ट का सर्वाधिक प्रभाव है इसके अतिरिक्त 'शब्दव्यापारविचार' की रचना तो मम्मट पर 'अभिधावृत्तिमातृका' के प्रभाव का ही प्रतिफल है। 'शब्दव्यापारविचार' का प्रणयन यद्यपि मुकुलभट्ट के खण्डन के उद्येश्य से ही हुआ किन्तु इसके अनेक विचारो को मम्मट अपने इस ग्रन्थ मे अनायास ही अपनाते भी गये है। मम्मट का उपाधि-चतुष्टय-निरूपण तो सर्वथा मुकुलभट्ट की ही देन है। इस प्रसङ्ग मे मम्मट ने अपने दोनो ही ग्रन्थो मे एक पक्ति उद्धृत की है- 'उक्त हि वाक्यपदीये गौर्हि स्वरूपेण न गौ नाप्यगो गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौ।'[3] यह मुकुलभट्ट के ग्रन्थ मे भी उद्धृत की गई है, किन्तु 'वाक्यपदीय' मे नही मिलती। सम्भवत मुकुलभट्ट को ही प्रामाणिक मानते हुए मम्मट ने इसका उल्लेख कर दिया है।

'शब्दव्यापारविचार' मे जो निरूढा, प्रयोजनवती तथा अन्यथा (अप्रयोज्या) लक्षणाओ का निरूपण मिलता है[4] वह 'अभिधावृत्तिमातृका' के अनुसरण पर ही हुआ है। जिस प्रकार मुकुलभट्ट ने 'द्विरेफ' के सादृश्य पर होने वाली तुरङ्गकान्ताननहव्यवाह' लक्षणा को त्याज्य कहा है उसी प्रकार मम्मट ने भी 'द्विरेफ' से अनुगत 'कोकिल' के लिए 'द्विक' आदि को अप्रयोज्या माना है।

इसके अतिरिक्त अभिधा तथा लक्षणा के पौर्वापर्य का 'अभिहितान्वयवाद' आदि चार वादो के अन्तर्गत 'शब्दव्यापारविचार' मे मम्मट ने निरूपण किया है वह भी 'अभिधावृत्तिमातृका' के ही आधार पर हुआ है।

आचार्य मम्मट ध्वनि-प्रकरण मे आनन्दवर्धन के ही समान अभिनवगुप्त की 'लोचन' टीका से भी प्रभावित रहे है। इनके जिन विचारो पर 'लोचन' का प्रभाव है उनमे से कतिपय उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते है।

लोचन के साम्य पर ही मम्मट ने अपने दोनो ग्रन्थो मे व्यञ्जना के लिए 'ध्वनन' शब्द का प्रयोग किया है।[5] आर्थी व्यञ्जना मे अर्थ की व्यञ्जकता के साथ शब्द की सहकारिता जो मम्मट ने मानी है उससे सम्बन्धित वाक्य भी

---

[1] का० प्र०, पृ० ८३।

[2] ध्व०, प्र० उ०, पृ० २७६।

[3] श० व्या० वि०, पृ० ४।

[4] श० व्या० वि०, पृ० २४।

[5] (क) अभिधातात्पर्यलक्षणाव्यापारातिरिक्त ध्वननम्। (श० व्या० वि०, पृ० ३८)।
(ख) व्यापारो ध्वननद्योतनव्यञ्जनप्रत्यायनावगमनादि- - -। (ध्व०, लो०, प्र० उ०, पृ० ८८)।

'लोचन' मे मिलता है। अभिनवगुप्त के समान ही मम्मट ने लक्षणा को 'अभिधापुच्छभूता' कहा है।[1] इसके अतिरिक्त रस के सन्दर्भ मे - 'इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादा' कहते हुए इन्होने आदर सहित अभिनवगुप्त का उल्लेख किया ही है।

---

[1] अत एवाभिधापुच्छभूता सेत्याहु। (का० प्र०, पृ० २६५)।
तत्रास्तीत्यभिधापुच्छभूतैव - - -। (ध्व०, लो०, प्र० उ०, पृ० २८०)।

अभिधावृत्ति-विवेचन

शब्द, अर्थ तथा उसके सम्बन्धो की विशद चर्चा काव्यशास्त्र मे तो की ही गई हे, इसके पूर्व व्याकरण तथा दर्शन ग्रन्थो मे भी इस विषय पर विस्तार से विचार हुआ हे।

अर्थ-बोध कराना ही शब्द की उपयोगिता है। शब्द से अर्थ की प्रतीति होती हे इस विषय मे सभी विद्वानो मे मतैक्य है। नैयायिको को छोडकर वैयाकरणो, मीमासको एव साहित्यशास्त्रीय विचारको ने शब्द के साथ अर्थ के सम्बन्ध को नित्य माना हे। आचार्य भर्तृहरि ने शब्द तथा अर्थ के सम्बन्ध को स्वभावसिद्ध तथा अनादि कहा हे। कैयट के अनुसार भी शब्द मे एक स्वाभाविक योग्यता रहती है जो उच्चारण के पश्चात् अर्थोपस्थिति कराती हैं। मीमासा मे भी शब्द एव अर्थ के सम्बन्ध को 'औत्पत्तिक' अर्थात् नित्य माना गया है।[१] नैयायिक शब्द को ही अनित्य मानते हैं[२], इस कारण उनके अनुसार शब्द एव अर्थ मे भी नित्य सम्बन्ध नही होता।[३]

यह सर्वविदित तथ्य है कि कोई विशेष शब्द किसी विशेष अर्थ की ही प्रतीति कराता है। 'घट' शब्द का उच्चारण करने से कम्बुग्रीवादिमान् घट पदार्थ की ही प्रतीति होती है 'पट' की नही। इससे सिद्ध है कि शब्द तथा अर्थ मे कोई सम्बन्ध अवश्य होता है। ऐसा न होने पर प्रत्येक शब्द से प्रत्येक अर्थ की प्रतीति होती । इस प्रकार शब्द से अर्थ प्रतीति के लिए कोई नियामक शक्ति अवश्य होती है जिसके विना अर्थ-ज्ञान नही हो सकता।[४] यह नियामक शक्ति ही शब्द-शक्ति के नाम से जानी जाती है। 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' मे 'शक्ति' की परिभाषा दी गई है-

---

[१] (क) औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्ध -----। (शा० भा०, मी० द० (१), पृ० २८) ।

(ख) औत्पत्तिक इति नित्य ब्रूम। (शा० भा०, मी० द० (१), पृ० २८) ।

[२] न्यायसूत्र मे शब्द की अनित्यता का कारण दिया गया है -

आदिमत्त्वादैन्द्रियकत्वात् कृतकवदुपचाराच्च। (न्या० सू०, २/२/१३) ।

[३] पूरणप्रदाहपाटनानुपलब्धेश्च सम्बन्धाभाव। (न्या० सू०, २/१/५३) ।

[४] वृत्तिश्चशक्तिलक्षणान्यतर सम्बन्ध। अत्रैव शक्तिज्ञानस्योपयोग। पूर्वं शक्तिग्रहाभावे पदज्ञानेपि तत्सबन्धेन स्मरणानुपपत्ते। (न्या० सि० मु०, शब्दप्रमाणनिरूपणम्, पृ० ५) ।

शक्तिश्च पदेन सह पदार्थस्य सम्बन्ध। सा चाऽमाच्छब्दादयमर्थो बोधव्य इतीश्वरेच्छारूपा।[1]

दर्शन-शास्त्र मे शक्ति के लिए 'वृत्ति' शब्द का ही अधिकता से प्रयोग हुआ हे। 'वृत्तिदीपिका' मे शाब्दबोध के हेतुभूत शब्दार्थ की उपस्थिति के अनुकूल सम्बन्ध को 'वृत्ति' कहा गया है।[2] दर्शन-ग्रन्थो मे 'शक्ति' मुख्य रूप से 'अभिधा' का पर्याय बनकर ही आया हे। काव्यशास्त्र मे 'शक्ति' के लिए 'वृत्ति' के साथ साथ 'व्यापार' शब्द भी व्यवहृत हुआ है।[3]

शब्द शक्ति की सख्या के विषय मे विद्वानो मे मतभेद रहा है। मुख्य रूप से अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना, तीन प्रकार की शक्तियाँ मानी गई है। कही-कही 'तात्पर्य' नामक चौथी शक्ति भी मानी गई है। मीमासक गौणी को लक्षणा से भिन्न मानते है। इस प्रकार गोणी भी एक पृथक् वृत्ति हुई।

शब्द की उपर्युक्त वृत्तियो मे अभिधा सभी शास्त्रो मे निर्विवाद रूप से स्वीकृत है। शब्द से सर्वप्रथम जिस अर्थ का बोध होता है उसकी प्रतीति कराने वाली शब्द की शक्ति ही अभिधा कहलाती है। उदाहरण स्वरूप 'गौ' शब्द के उच्चारण के पश्चात् सास्नादिमान् पशुविशेष का बोध होता है। यह अर्थबोध अभिधावृत्ति अथवा व्यापार के कारण ही होता है। अभिधा से बोधित होने वाले अर्थ को 'वाच्यार्थ' अथवा 'मुख्यार्थ' भी कहा जाता है। आचार्य भर्तृहरि ने भी अभिधा से प्रतीत होने वाले अर्थ को मुख्यार्थ कहा है। उनके अनुसार मुख्य अर्थ का बोध शब्द-श्रवण मात्र से हो जाता हे। जिन अर्थो की प्रतीति शब्द-श्रवण के तत्काल बाद नही होती अपितु निमित्त की अपेक्षा से होती है उन्हे 'गौण'

---

[1] न्या० सि० मु०, शब्दप्रमाणनिरूपणम्, पृ० ५।

[2] शब्दबोधहेतुशब्दार्थोपस्थित्यनुकूलशब्दतद्र्थसम्बन्धो वृत्ति। (वृत्तिदीपिका)।

[3] (क) वाचकत्वगुणवृत्तिव्यतिरिक्तो व्यञ्जकत्वलक्षण शब्दव्यापारोऽस्तीत्यस्माभिरभ्युपगतम्। (ध्व०, तृ० उ०, पृ० ३६१)।

(ख) शब्दस्य चार्थप्रतिपत्तिलक्षणकार्यान्यथानुपपत्त्या कारकत्वात् कल्यमानो व्यापारोऽभिधादिशब्दप्रतिपाद्यो नानाप्रकार ---। (श० व्या० वि०, पृ० १)।

(ग) वृत्तय काव्यसरणावलङ्कारप्रबन्धृभि
अभिधालक्षणाव्यक्तिरिति तिस्रो निरूपिता। (वृ० वा०, पृ० २६)।

कहा जाता है।[1] इसका उदाहरण भी उन्होने प्रस्तुत किया है।[2] मीमासा-दर्शन मे भी सवप्रथम अभिव्यक्त होने वाले अर्थ को 'मुख्य' कहा गया है तथा मुख्य अर्थ के माध्यम से प्रकट होने वाला अर्थ गोण कहलाता है।[3]

अभिधावृत्ति का आधार सङ्केत-ग्रह है। सङ्केत का ग्रहण होने पर ही शब्द से अर्थ-प्रतीति होती है। आचार्य मम्मट ने लिखा भी है कि-

अगृहीतसङ्केतस्य शब्दस्यार्थप्रतिपत्तेरभावात् सङ्केतसहाय एव शब्दोऽर्थं प्रतिपादयति।[4]

पद एव पदार्थ का इतरेतराध्यास रूप तादात्म्य ही सङ्केत कहलाता है।[5] नैयायिको ने -'इस शब्द से इस अर्थ का बोध हो' इस प्रकार की ईश्वरेच्छा को सङ्केत कहा है जबकि नव्य नेयायिक इच्छामात्र को सङ्केत मानते हे।[6] नैयायिको के अनुसार शक्तिग्रह व्याकरण आदि आठ उपायो से होता है।[7] आचार्य अभिनवगुप्त ने 'लोचन' मे 'सङ्केत' के लिए 'समय' शब्द का प्रयोग किया है। इनके मतानुसार 'समय' की अपेक्षा से अर्थ बोध कराने वाली शक्ति अभिधा है।[1] मम्मट ने भी 'सङ्केत' के लिए 'समय' शब्द का प्रयोग किया है-

'नाभिधा समयाभावात्' (का० प्र०, द्वि० उ०, पृ० ८२)।

काव्यशस्त्रियो मे शब्द-शक्ति विवेचन स्पष्ट रूप से आनन्दवर्धन के ग्रन्थ से प्रारम्भ होता है तथा इसकी सुस्पष्ट व्याख्या उनके भी परवर्ती ग्रन्थो मे ही देखने को मिलती है। आनन्दवर्धन से पूर्व भामह, दण्डी, वामन आदि आचार्यों के प्रतिपाद्य विषय मुख्यत गुण एव अलङ्कारादि ही थे अत शब्दशक्तियो की विवेचना नही की गई है किन्तु

---

[1] श्रुतिमात्रेण यत्रास्य तादर्थ्यमवसीयते।
मुख्य तमर्थं मन्यन्ते गौण यत्नोपपादितम्॥ (वा० प०, २/२७८)।

[2] यथा सास्नादिमान् पिण्डो गोशब्देनाभिधीयते।
तथा स एव गोशब्दो वाहीकेऽपि व्यवस्थित॥ (वा० प०, २/२५२)।

[3] क पुनर्मुख्य को वा गौण इति। उच्वते। य शब्दादेवावगम्यते स प्रथमोऽर्थो मुख्य। मुखमिव भवतीति मुख्य इत्युच्यते। यस्तु खलु प्रतीतादर्थात् केनचित्सम्बन्धेन गम्यते स पश्चाद्भवाज्जघनमिव भवतीति जघन्य। गुणसम्बन्धाच्च गौण इति। (मी० सू०, ३/२/१ पर शा० भा०, मी० द० (४), पृ० १२३)।

[4] श० व्या० वि०, पृ० १।

[5] तदुक्त पातञ्जलभाष्ये- सङ्केतस्तु पदपदार्थयोरितरेतराध्यासरूप स्मृत्यात्मक योऽय शब्द सोऽर्थो योऽर्थ स शब्द। (वै० सि० ल० म०, पृ० २५)।

[6] नव्यास्तु ईश्वरेच्छा न शक्ति किन्तु इच्छैव तेनाधुनिकसकेतितेऽपि शक्तिरस्त्येवेत्याहु। (न्या० सि० मु०, शब्दप्रामाण्यनिरूपणम्, पृ० ८)।

[7] शक्तिग्रह व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद्विवृत्तेर्वदन्ति सान्निध्यत सिद्धपदस्य वृद्धा॥' (न्या० सि० मु०, पृ० ८)।

गुणालङ्कारो के शब्द एव अर्थ पर आश्रित होने के कारण प्रसङ्गत इन आचार्यों ने भी अभिधा तथा अभिधेयार्थादि का नाम अवश्य लिया है।[२] आचार्य भामह ने 'शब्दश्छन्दोऽभिधानार्था' तथा 'शब्दाभिधेये विज्ञाय' इत्यादि शब्दो का प्रयोग किया है। 'अभिधानकोशत पदार्थनिश्चय'[३] कहते हुए आचार्य वामन ने भी अभिधेयार्थ का स्पर्श अवश्य किया है। लोचन मे यह उल्लेख आया है कि उद्भट ने भामह के 'शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्था' की व्याख्या मे 'अभिधान' शब्द का अर्थ 'अभिधाव्यापार' बताया है जिसके मुख्य तथा गुणवृत्ति ये दो भेद होते है।[४] आचार्य रुद्रट ने तो स्पष्ट रूप से 'अभिधा' एव 'वाचक' शब्द का प्रयोग किया हे तथा अर्थ के चार भेद माने है -

अर्थ पुनरभिधावान् प्रवर्तते यस्य वाचक शब्द

तस्य भवन्ति द्रव्य गुण क्रिया जातिरिति भेदा ॥[५]

आचार्य आनन्दवर्धन ने वाच्यार्थ को ही अन्य सभी अर्थों के ज्ञान का आधार बताया है।[६] जिस वृत्ति अथवा व्यापार से वाच्यार्थ प्रतीति होती है उसे इन्होने 'मुख्यावृत्ति' भी कहा है।[७] लोचनकार ने इसी मुख्यावृत्ति को अभिधा व्यापार कहा है।[८]

२.१ मुकुलभट्ट के अनुसार अभिधा का स्वरूप

आचार्य मुकुलभट्ट ने अभिधा नाम की एक ही शब्द-वृत्ति मानी है। इस अभिधा के दस भेद होते है। शब्द मुख्य एव लाक्षणिक दो प्रकार के अभिधा व्यापार से अर्थ की प्रीति कराता है।[९] मुख्य एव लाक्षणिक अभिधाव्यापार से

---

[१] समयापेक्षयार्थावगमनशक्तिर्ह्यभिधा। (ध्व० लो०, प्र० उ० पृ० ६०)।

[२] भा० काव्या०, पृ० ५ ।

[३] काव्या० सू०, पृ० ३० ।

[४] भट्टोद्भटो बभाषे - शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च। (ध्व० लो०, प्र० उ०, पृ० ५२)।

[५] रू० काव्या०, ७/१, पृ० १८३ ।

[६] (क) आलोकार्थी यथा दीपशिखाया यत्नवाञ्जन
तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृत ॥ (ध्व०, १/६, पृ० १६४)।
(ख) यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थ सम्प्रतीयते।
वाच्यार्थपूर्विका तद्वत्प्रतिपत्तस्य वस्तुन ॥ (ध्व०, १/१०, पृ० १६६)।

[७] मुख्या वृत्ति परित्यज्य- - - । (ध्व०, १/१७, पृ० २७६)।

[८] मुख्या वृत्तिमभिधाव्यापार परित्यज्य। (ध्व० लो०, प्र० उ०, पृ० २७७)।

[९] शब्दस्य च मुख्येन लाक्षणिकेन वाभिधाव्यापारेणार्थावगतिहेतुत्वमिति। (अ० वृ० मा०, पृ० १)।

प्रतीत होने वाले अर्थों को भी मुख्य तथा लाक्षणिक कहा जाता है। इनमे मुख्य अभिधा के चार प्रकार होते है तथा लाक्षणिक के छ। इस प्रकार अभिधा के दस भेद होते हे।[१]

जिस अर्थ का ज्ञान शब्दव्यापार से ही होता है उसे मुख्य कहा जाता हे। लक्षणीय अर्थ का ज्ञान मुख्य अर्थ की पर्यालोचना द्वारा होता है।[२] प्रथम अर्थ को 'मुख्य' कहने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार मुख अन्य सभी शारीरिक अङ्गो, हाथ, पैर इत्यादि, से पहले दृष्टिगोचर होता हे उसी प्रकार वह अर्थ भी सभी प्रतीत होने वाले अर्थो मे सर्वप्रथम जाना जाता है।[३] उदाहरण स्वरूप 'गौरनुबन्ध्य' अर्थात् (यज्ञ के लिए) गो का अनुबन्धन किया जाये', इस वाक्य मे अभिधा से प्रथमत 'गो' शब्द से 'गोत्व' जाति का बोध होता हे। यहॉ सर्वप्रथम प्रतीत होने के कारण 'गो' शब्द का जाति रूप अर्थ मुख्य अर्थ हुआ। यह अर्थ साक्षत् 'गो' शब्द के व्यापार से विदित हुआ हे।[४]

प्रस्तुत उदाहरण मे 'गोत्व जाति' बिना व्यक्ति के यज्ञ का साधन नही बन सकती।[५] व्यक्ति मे ही प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति की योग्यता रहती है। अत व्यक्ति रूप अर्थ का बोध होना आवश्यक है। मुकुलभट्ट के अनुसार यहॉ जाति रूप अर्थ का बोध कराकर ही अभिधा की शक्ति समाप्त हो जाती है। उससे 'व्यक्ति' का बोध नही हो सकता। इस प्रसङ्ग मे मुकुलभट्ट मीमासा-सम्मत न्याय भी प्रस्तुत करते है कि विशेषण के ज्ञापन मे क्षीण शक्ति वाली अभिधा विशेष्य का ज्ञान नही करा सकती।[६] इस कारण शब्द से बोधित जाति रूप अर्थ के द्वारा उसके आश्रयभूत व्यक्ति का आक्षेप किया जाता है।[७] यहॉ 'गो' शब्द का प्रथम अर्थ जाति है तथा उस अर्थ की सहायता से पुन व्यक्ति रूप अर्थ का आक्षेप होता है, अत जाति रूप अर्थ मुख्य हुआ तथा व्यक्ति रूप अर्थ लाक्षणिक।[८]

---

[१] इत्येतदभिधावृत्त दशधाऽत्र विवेचितम्। (अ० वृ० मा०, पृ० ७२)।

[२] शब्द-व्यापारतो यस्य प्रतीतिस्तस्य मुख्यता
अर्थावसेयस्य पुनर्लक्ष्यमाणत्वमुच्यते॥ (अ० वृ० मा०, पृ० २)।

[३] (क) स हि यथा सर्वेभ्यो हस्तादिभ्योऽवयवेभ्य पूर्वं मुखमवलोक्यते तद्वदेव सर्वेभ्य प्रतीयमानभ्योऽर्थान्तरेभ्य पूर्वमवगम्यते। तस्मान्मुखमिव मुख्य इति शाखादियान्तेन मुख्यशब्देनाभिधीयते। (अ० वृ० मा०, पृ० २)।
(ख) यहॉ 'मुख के समान जो हो वह मुख्य है' इस अर्थ मे पाणिनि सूत्र 'शाखादिभ्यो य' (५/३/१०३) के आधार पर मुख शब्द से 'य' प्रत्यय करके 'मुख्य' शब्द बना है।

[४] तस्योदाहरण 'गौरनुबन्ध्य' इति। अत्र हि गोशब्दव्यापाराद् यागसाधनभूता गोत्वलक्षणा जातिरवगम्यते। अतस्तस्या मुख्यता। तदेव शब्दव्यापारगम्यो मुख्योऽर्थ। (अ० वृ० मा०, पृ० २)।

[५] जातिस्तु व्यक्तिमन्तरेण यागसाधनभाव न प्रतिपद्यते। (अ० वृ० मा०, पृ० २)।

[६] यथा पूर्वस्मिन्नेवोदाहरणे व्यक्ते। सा हि न शब्दव्यापारादवसीयते 'विशेष्य नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे' इति न्यायात् शब्दस्य जातिमात्रपर्यवसितत्वात्। (अ० वृ० मा०, पृ० २)।

[७] शब्दप्रत्यायितजातिसामर्थ्यादत्र जातेराश्रयभूता व्यक्तिराक्षिप्यते। (अ० वृ० मा०, पृ० ३)।

[८] तेनासौ लाक्षणिकी। (अ० वृ० मा०, पृ० ३)।

इस प्रकार मुकुलट्ट ने अभिधा नामक एक ही शब्दव्यापार माना, किन्तु मुख्य अर्थ के ज्ञापन मे उसका विराम मानते हुए उसी अभिधा के लाक्षणिक नामक भेद से अन्य अर्थ का बोध माना ह। मुख्य अर्थ की अभिधा प्रथम अर्थ तक स्वय शब्दव्यापार से पहुँचती हे, किन्तु लाक्षणिक अर्थ का बोध कराने के लिए उसे मुख्यार्थ की सहायता अपेक्षित रहती हे। इस प्रकार प्रथम अर्थ के बोधन मे अभिधा का सहायक हे केवल शब्द, किन्तु द्वितीय अर्थ के बोध हेतु शब्द के साथ अर्थ भी सहायक है। इस कारण से अभिधाव्यापार दो प्रकार का हो जाता हे 'निरन्तरार्थविषय' तथा 'सन्तरार्थनिष्ठ'।[१]

आचार्य मुकुलभट्ट के 'निरन्तरार्थविषय' का तात्पर्य है कि जिस अर्थ का ज्ञान होते समय किसी अन्य अर्थ का व्यवधान नही होता, ऐसा अर्थ जिस व्यापार का विषय बनता है वह 'निरन्तरार्थविषय' कहलाता है। व्यवधान युक्त अर्थ का ज्ञान जिस व्यापार से होता हे उसे 'सान्तरार्थनिष्ठ' कहा जाता है। इस प्रकार अभिधा व्यापार एक ही है किन्तु उसके भेद दो है। ये भेद भी, अव्यवहित तथा व्यवधानयुक्त अर्थबोधन के कारण है।

२. २ मुख्य अर्थ के भेद

मुकुलभट्ट के अनुसार मुख्य अर्थ के चार प्रकार होते है[२] - जाति,गुण, क्रिया तथा यदृच्छा-शब्द। इस प्रकार इस मुख्य अर्थ का ज्ञापन करनेवाले अभिधाव्यापार के भी चार भेद हो जाते है[३] - जातिबोधक, गुणबोधक, क्रियाबोधक तथा यदृच्छा शब्द अर्थात् सज्ञाबोधक।

अभिधा शक्ति के विषय मे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एव विवाद का विषय यह ज्ञात करना है कि सर्वप्रथम उससे किस अर्थ का बोध होता है ? इस समस्या के विषय मे भारतीय दार्शनिको मे कई मत प्रचलित है। अभिधा से सकेतित अर्थ का ही बोध होता है। मीमासक अभिधा का सङ्केत जाति मे मानते है। इस प्रकार मीमासको के अनुसार अभिधा से सर्वप्रथम शब्द का जातिरूप अर्थ प्रकट होता है। महर्षि जैमिनि ने 'जाति'के लिए 'आकृति' शब्द का प्रयोग किया है।[४] आचार्य शबर स्वामी ने 'आकृति' की परिभाषा दी है-

'द्रव्यगुणकर्मणा सामान्यमात्रमाकृति '[५]

---

[१] एवमय मुख्यलाक्षणिकात्मविषयोपवर्णनद्वारेण शब्दस्याभिधाव्यापारो द्विविध प्रतिपादितो निरन्तरार्थविषय सान्तरार्थनिष्ठश्च। (अ० वृ० मा०, पृ० ३)।

[२] तयोर्मुख्यलाक्षणिकयोर्मध्यान्मुख्यस्यार्थस्य चत्वारो भेदा जात्यादिभेदात्। (अ० वृ० मा०, पृ० ४)।

[३] सम्प्रति मुख्याभिधाव्यापारस्य चातुर्विध्यमभिधीयते (अ० वृ० मा०, पृ० ४)।

[४] आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात्। (मी० सू०, १/३/३३)।

[५] मी० सू०, १/३/३० पर शा० भा०, मी० द० (२), पृ० २३५ ।

इन्होने 'आकृति' को ही शब्दार्थ कहा है।[1] जाति मे ही शक्ति मानने के कारण मीमासक जातिशक्तिवादी कहलाते है।

सङ्केतग्रह के विषय मे 'व्यक्तिशक्तिवादियो' का मत ह कि शब्द का अर्थ 'व्यक्ति' ही होता। इस मत का उल्लेख खण्डन के अवसर पर वैयाकरणो, मीमासको, नैयायिको सभी ने किया हे, किन्तु इस प्रसङ्ग मे किसी भी आचार्य का नाम नही लिया है। महाभाष्य मे व्याडि के मत का उल्लेख हे जिन्होने व्यक्ति को शब्दार्थ माना हे।

नैयायिको ने जातिविशिष्ट व्यक्ति मे सङ्केतग्रह माना हे। महर्षि गौतम के अनुसार किसी पद का अर्थ किसी वस्तु की 'व्यक्ति' 'आकृति' तथा 'जाति' सभी मे है।[2]

बौद्धमत मे शब्द का अर्थ 'अपोह' है।[3] बौद्धदर्शन मे 'अपोह' पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ है 'अतद्व्यावृत्ति' अथवा 'तद्भिन्नभिन्नत्व'। इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक घट घटभिन्न सभी पदार्थो से भिन्न है इसलिए उनमे 'घट घट' इस प्रकार की एकाकार प्रतीति होती है। आचार्य भामह ने अपने ग्रन्थ मे 'अपोहवाद' को स्पष्ट किया हे।

अन्यापोहेन शब्दोऽर्थमाहेत्यन्ये प्रचक्षते।
अन्यापोहश्च नामान्यपदार्थापाकृति किल॥[4]

मुकुलभट्ट ने अभिधा से बोधित अर्थ के लिए 'सङ्केत' शब्द का कही प्रयोग नही कियाहे। इन्होने मुख्य अर्थ के चार भेद माने हें। इसका आधार महर्षि पतञ्जलि की 'चतुष्टयी शब्द-प्रवृत्ति' की मान्यता है। महाभाष्यकार ने शब्दो को जाति शब्द, गुण शब्द, क्रिया शब्द और यदृच्छाशब्द इस प्रकार से चार दिशाओ मे बढने वाला बताया है।[5]

मुकुलभट्ट के अनुसार अपने अर्थ के ज्ञान के लिए प्रवृत्त जितने भी शब्द होते है उनके विषयो मे भिन्नता होती है। यह भिन्नता शब्दो मे रहने वाली उपाधियो के कारण ही होती है। इस प्रकार सभी शब्दो की प्रवृत्ति उपाधियुक्त

---

[1] आकृति शब्दार्थ कुत । क्रियार्थत्वात्। (मी० सू०, १/३/३३ पर शा० भा०, मी० द० (२), पृ० २४५) ।

[2] व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थ। (न्या० सू०, २/२/६७, पृ० २१३) ।

[3] गोशब्दश्रवणात्सर्वासा गोव्यक्तीनामुपस्थितेरतस्मादश्वादितो व्यावृत्तिदर्शनाच्च अतद्व्यावृत्तिरूपोऽपोहो वाच्य इति बौद्धमतम् । (का० प्र०, बा० बो०, पृ० ३८) ।

[4] भा० काव्या०, ६/१६, पृ० १५० ।

[5] चतुष्टयी हि शब्दाना प्रवृत्तिर्भगवता महाभाष्यकारेणोपवर्णिता 'जातिशब्दा गुणशब्दा क्रियाशब्दा यदृच्छाशब्दाश्चे'ति। (अ० वृ० मा०, पृ० ४-५) ।

विषयो का बोध कराने के कारण उपाधिमूलक होती हे ।[1] शब्दो की ये उपाधियाँ चार प्रकार की होती हे। प्रथमत इसके दो प्रकार होते है - 'वक्तृसन्निवेशित' तथा 'वस्तुधर्म'।[2] इनमे प्रथम उपाधि विषय मे स्वत नही रहती अपितु वक्ता द्वारा सन्निवेशित होती हे। अर्थात् वक्ता अपनी इच्छा से विना किसी तर्क के किसी का कोई नाम रख लेता हे। जैसे-यदि किसी गो विशेष का नाम डित्थ रख दिया जाता है तो यह नाम गो शब्द का 'वक्तृसन्निवेशित' धर्म हुआ। इस 'डित्थ' सञ्ज्ञा को गो रूप सञ्ज्ञी मे इस प्रकार सन्निविष्ट किया जाता है कि उस सन्निवेश के द्वारा उस सञ्ज्ञी रूपी विषय की शक्ति अर्थात् अभिधा शक्ति जागृत हो सके।[3] इसका तात्पर्य यह है कि 'डित्थ' सञ्ज्ञा के उच्चारण से अभिधा द्वारा किसी गो विशेष का बोध हो सके । डित्थादि शब्दो का कोई यौगिक अर्थ नही होता। इनसे गुण, क्रिया तथा जाति मे से किसी का बोध नही होता है ये नाम विना किसी तर्क के वक्ता की इच्छा से सञ्ज्ञी मे उपाधिरूप से सन्निविष्ट किये जाते है। इसी कारण डित्थादि शब्दो को 'यदृच्छा शब्द' कहा जाता है।

मुकुलभट्ट ने यदृच्छा शब्द का जो स्वरूप माना है वह डित्थादि शब्दो का वर्ण-क्रम रहित स्वरूप हे जिसका बोध अन्तिम वर्ण के अनुभव से होता हैं। जिनके मत मे डित्थादि शब्दो का डकारादि वर्णों से भिन्न कोई स्वरूप नही होता, अत डित्थादि शब्दो का क्रमरहित स्वरूप सञ्ज्ञी मे सन्निवेशित नही किया जा सकता, उनके अनुसार भी 'यदृच्छा शब्द' उपपन्न हो ही जाते है। क्योंकि उनके मत मे भी अभिधा शक्ति के द्वारा किसी सञ्ज्ञा के अभिधान के लिए वक्ता की इच्छा से काल्पनिक समुदाय रूप डित्थादि शब्दो की प्रवृत्ति होती ही है।[4]

आचार्य मुकुलभट्ट को मान्य दूसरी उपाधि 'वस्तुधर्म' वस्तु का स्वय अपना ही धर्म होती है।[5] अर्थात् वस्तु मे समवाय सम्बन्ध से रहती है।[1] यह उपाधि भी साध्य एव सिद्ध रूप से दो प्रकार की होती है।[2] इनमे साध्यरूप उपाधि

---

[1] सर्वेषा शब्दाना स्वार्थाभिधानाय प्रवर्त्तमानानामुपाध्युपरञ्जितविषयविवेकत्वादुपाधिनिबन्धना प्रवृत्ति । (अ० वृ० मा०, पृ० ५) ।

[2] उपाधिश्च द्विविध वक्तृसन्निवेशितो वस्तुधर्मश्च। (अ० वृ० मा०, पृ० ५) ।

[3] कश्चित् खलु वक्त्रा तस्मिंस्तस्मिन् वस्तुन्युपाधितया सन्निवेश्यते । तत्र यो वक्त्रा यदृच्छया तत्तत्सञ्ज्ञिविषयशक्त्यभिव्यक्तिद्वारेण तस्मिंस्तस्मिन् सञ्ज्ञिनि सन्निवेश्यते स वक्तृसन्निवेशित यथा डित्थादीना शब्दानामन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्य सहृतक्रम स्वरूपम्। तत् खलु ता तामभिधाशक्तिमभिव्यञ्जयता वक्त्रा यदृच्छया तस्मिन्स्तस्मिन् संज्ञिनि उपाधितया सन्निवेश्यते। (अ० वृ० मा०, पृ० ५) ।

[4] येषामपि च डकारादिवर्णव्यतिरिक्तसहृतक्रमस्वरूपाभावान्न डित्थादिशब्दस्वरूप सहृतक्रम संज्ञिष्वध्यवस्यते इति दर्शन तेषामपि वक्तृयदृच्छाभिव्यज्यमानशक्तिभेदानुसारेण काल्पनिकसमुदायरूपस्य डित्थादे शब्दस्य तत्तत्सज्ञाभिधानाय प्रवर्त्तमानत्वाद् यदृच्छाशब्दत्व डित्थादीनामुपपद्यत एव। (अ० वृ० मा०, पृ० ५ ।) ।

[5] कश्चित्तु वस्तुधर्म एव। (अ० वृ० मा०, पृ० ५) ।

के आधार पर किसी शब्द को 'क्रिया शब्द' कहा जाता हे। जेसे - 'पचति' शब्द क्रिया शब्द कहलाता हे।[३] इसका कारण यहाँ शब्द की साध्य रूप उपाधि का होना है।

जाति एव गुण के भेद से 'सिद्ध' नामक उपाधि भी दो प्रकार की होती है। जो उपाधि पदार्थ के लिए प्राणप्रद होती है उसे ही 'जाति' कहा जाता हे। जाति से सम्बन्ध के विना किसी भी वस्तु को अपना मूल स्वरूप नही मिल सकता।[४] जैसा कि 'वाक्यपदीय' मे कहा गया है कि गो नामक प्राणी स्वरूप से न तो गो होता है न उससे भिन्न होता हे अपितु 'गोत्व' के अभिसम्बन्ध से ही 'गो' होता हे।[५]

कोई उपाधि जाति के द्वारा लब्धस्वरूप वाले वस्तु मे विशेषता का आधान करती है उसे गुण कहते है । जैसे शुक्लादि गुण होते है। ये गुण वस्तुओ के अपने स्वरूप निष्पादन मे कोई सहयोग नही देते। वस्तुओ को स्वरूप तो जाति के द्वारा ही प्राप्त हो जाता हे। गुणो का कार्य मात्र इतना है कि ये वस्तुओ मे व्यक्तिगत विशिष्टता उत्पन्न कर देते हे।[६]

इस प्रसङ्ग मे मुकुलभट्ट ने परमाणुत्वादि का उल्लेख किया है। वेशेषिक दर्शन मे रूप, रस, गन्ध स्पर्श आदि गुणो के मध्य 'परिमाण' को भी एक गुण माना गया है। 'परिमाण' नामक गुण अणु, महत्, दीर्घ एव ह्रस्व भेद से चार प्रकार का होता है। इनमे अणु परिमाण 'परमाणु' एव द्वयणुक, इन्ही दो मे पाया जाता हे। परमाणुगत अणु नित्य होता है। इसे 'परिमाण्डल्य' भी कहा जाता है। नित्य होने के साथ ही ये परमाणु अपरिवर्तनशील एव अविभाज्य भी होते है। परमाणु विभाजन की अन्तिम सीमा है। गोलाकार होने के कारण ही इन्हे परिमाण्डल्य कहा जाता है।[७]

---

[१] दो अयुतसिद्ध पदार्थो का सम्बन्ध समवाय सम्बन्ध कहलाता है। जिन दो पदार्थो मे एक अविनष्यदवस्था मे दूसरे के आश्रित ही रहता है वे दोनो अयुतसिद्ध कहलाते है। गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, जाति-व्यक्ति अयुतसिद्ध है क्योंकि इनमे गुण, क्रिया तथा जाति अविनश्यदवस्था मे गुणी, क्रियावान् तथा व्यक्ति मे आश्रित होकर ही रहते है।

तत्रायुतसिद्धयो सम्बन्ध समवाय। कौ पुनरयुतसिद्धौ ?
ययोर्मध्ये एकमविनश्यदपराश्रितमेवावतिष्ठते तावयुतसिद्धौ । (त० भा०, पृ० २६-२७) ।

[२] यस्य तु वस्तुधर्मत्वेनोपाधेरवस्थान तस्यापि द्वैविध्यम् साध्यसिद्धताभेदात्। (अ० वृ० मा०, पृ० ५) ।

[३] तत्र साध्योपाधिनिबन्धना क्रियाशब्दा यथा पचतीति। (अ० वृ० मा०, पृ० ५) ।

[४] सिद्धस्य तूपाधिद्वैविध्यम् जातिगुणभेदात् । कस्यचित् खलु सिद्धस्योपाधि पदार्थस्य प्राणप्रदता यथा जाते। (अ० वृ० मा०, पृ० ५) ।

[५] न हि कश्चित् पदार्थो जातिसम्बन्धमन्तरेण स्वरूप प्रतिलभते यदुक्त वाक्यपदीये- गौरिति न हि गौ स्वरूपेण गौ नाप्यगौ गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौ। यह पंक्ति वाक्यपदीय मे नही मिलती। (अ० वृ० मा०, पृ० ५) ।

[६] कश्चित् पुनरुपाधिर्लब्धस्वरूपस्य वस्तुनो विशेषाधानहेतु यथा शुक्लादिर्गुण । (अ० वृ० मा०, पृ० ५) ।

[७] भा० द० (II), डॉ० राधाकृष्णन्, पृ० १६८-१६९, भा० द० सर्वे०, सगमलालपाण्डेय, पृ० २४३ ।

परमाणुत्वादि के विषय मे मुकुलभट्ट का यह विचार है कि यद्यपि ये परमाणुत्व जाति के समान नित्य होते हे, किन्तु इन्हे जाति नही कहा जा सकता। परमाणु किसी परिमेय वस्तु मे ही रहते है ओर जिनमे रहते हे उनमे अन्य गुणो के समान ही व्यक्तिगत विशिष्टता उत्पन्न कर उन्हे अन्य वस्तुओ से पृथक् करते ह। विशेषाधान हेतु होने के कारण इन्हे गुण ही मानना चाहिए।[1]

इस प्रकार मुकुलभट्ट के अनुसार चार प्रकार की उपाधियो के कारण शब्दो के चार प्रकार होते है- जातिशब्द, गुणशब्द, क्रियाशब्द एव यदृच्छाशब्द इनसे बोधित अर्थ भी चार प्रकार के होते है ।

२.३ मुकुलभट्ट के अनुसार जाति शक्तिवाद का खण्डन

मीमासा-दर्शन मे शब्द का सर्वप्रथम अर्थ जाति को माना गया है। मुकुलभट्ट ने व्याकरणाभिमत चार शब्दो को मानते हुए प्रथम बोध्य मुख्य अर्थ के चार प्रकार माने है। इन्होने अपने ग्रन्थ मे किसी भी परम्परा अथवा आचार्य का नाम न लेते हुए जातिशक्तिवादियो की तरफ से यह शङ्का उठाते हुए उसका समाधान भी किया है कि गुणशब्द, क्रियाशब्द, सज्ञाशब्द, इन सब को भी जातिशब्द ही क्यो न मान लिया जाय ? इस शङ्का का स्वरूप इस प्रकार है -दूध, शङ्ख, सारस आदि मे समवाय सम्बन्ध से रहने वाले जो शुक्ल गुण है वे भिन्न-भिन्न होते है। इन भिन्न-भिन्न स्थलो मे पाये जाने वाले जो शुक्ल गुण है उनमे सवमाय सम्बन्ध से रहने वाली शुक्लत्व जाति रहती है। इसी कारण भिन्न होते हुए भी उन्हे एक ही 'शुक्ल गुण' के नाम से जाना जाता है। इस कारण शुक्लादि शब्दो को भी जातिवाचक मानना चाहिए।[2] इसी प्रकार गुड, तण्डुल, तिल आदि भिन्न- भिन्न द्रव्यो मे रहने वाली पाक क्रिया भिन्न-भिन्न ही होती है। उनमे भी समवाय सम्बन्ध से रहने वाली 'पाकत्व' जाति माननी पडती है इस कारण वे भी जाति वाचक ही है।[3] डित्थादि यदृच्छा शब्दो मे भी डित्थत्वादि जाति रहती है क्योकि शुक, सारिका, मनुष्य आदि भिन्न-भिन्न आश्रयो द्वारा उच्चरित होने के कारण डित्थादि शब्दो मे भिन्नता रहती ही है।[4] अथवा इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि प्रतिक्षण होने वाले वृद्धि एव क्षय के कारण पूर्व क्षण मे विद्यमान डित्थादि उत्तर क्षण मे विद्यमान से भिन्न होते हे इस कारण एक

---

[1] येऽपि च नित्या परमाणुत्वादयो गुणास्तेषामपि सर्वेषा गुणजातीयत्वादेवप्रकारत्वमेव। (अ० वृ० मा०, पृ० ५ - ६) ।

[2] ननु सर्वेषामपि गुणक्रियायदृच्छाशब्दाभिमताना जातिनिबन्धनत्वम्। तथाहि गुणशब्दाना तावच्छुक्लादीना पय शङ्खबलाकाद्याश्रयसमवेता ये शुक्लादिलक्षणा गुणा विभिन्नास्तत्समवेतसामान्यवाचिन । (अ० वृ० मा०, पृ० ८) ।

[3] एव क्रियाशब्दानामपि गुडतिलतण्डुलादिद्रव्याश्रिता ये पाकादयोऽन्योन्यमन्यत्वेनावस्थिता क्रियाविशेषा तत्समवेत तासा सामान्यमेव वाच्यम्। (अ० वृ० मा०, पृ० ८) ।

[4] यदृच्छाशब्दाना तु डित्थादीना शुकसारिकामनुष्याद्युदीरितेषु भिन्नेषु डित्थादिशब्देषु समवेत डित्थशब्दत्वादिक सामान्यमेव यथायोग संज्ञिष्वध्यस्तमवसेयम्। (अ० वृ० मा०, पृ० ६) ।

नही कहे जा सकते। उनमे 'डित्थ' 'डित्थ' इस प्रकार की बाधरहित जो अभेदप्रतीति होती है उसका कारण डित्थत्व सामान्य अथवा जाति ही है। वह जाति डित्थादि शब्दो से अभिहित होती है।[१] इस प्रकार गुण, क्रिया तथा यदृच्छा शब्द भी जाति शब्द ही होते हे इस कारण शब्दो की चतुष्टयीप्रवृत्ति सिद्ध नही होती।[२]

इस प्रकार की शङ्का को उठाते हुए मुकुलभट्ट उसका समाधान प्रस्तुत करते हुए तर्क देते हे कि गुण शब्द एव क्रिया शब्दो मे एकाकारता की प्रतीति मे सञ्ज्ञी ही कारण होते ह, जाति नही। महाभाष्यकार को भी यही अभिमत है।[३] व्यक्तियो मे प्रतीत होने वाले भेद का कारण उपाधि ही हे। जेसे एक ही मुख तैल, खड्ग, जल एव दर्पण मे प्रतिबिम्बित होने के कारण भिन्न-भिन्न दृष्टिगत होता हे। उसकी भिन्नता का कारण भिन्न-भिन्न आश्रय ही होते है वस्तुत मुख मे भिन्नता नही होती। उसी प्रकार एक ही शुक्लादि व्यक्ति देश, काल से अवच्छिन्न हो शङ्खादि भिन्न आश्रय विशेष के कारण वस्तुत एक होते हुये भी भिन्न प्रतीत होता है। अत शुक्लादि व्यक्तियो को जाति नही माना जा सकता क्योकि सभी शुक्ल व्यक्ति मूलत एक ही होते है। जाति तो अनेक मे समवाय सम्बन्ध से रहती है।[४] इसी प्रकार 'पचति' आदि क्रिया के स्थलो मे भी उसे जाति नही कहा जा सकता। गुड, तण्डुलादि मे रहने वाली पाकक्रिया आश्रय भेद से ही भिन्न प्रतीत होती है, वस्तुत भिन्न नही होती। यदृच्छा शब्दो मे भी डित्थादि शब्द के शुक, सारिका आदि भिन्न-भिन्न ध्वनियो से उच्चरित होने के कारण उन्हे भिन्न नही माना जा सकता अथवा न ही कौमारादि अवस्थाओ के कारण भिन्न प्रतिभाषित डित्थादि व्यक्ति को भिन्न माना जा सकता है। वस्तुत भिन्न न होने के कारण इनमे जाति का प्रसङ्ग ही नही उपस्थित होगा।

इस प्रकार शब्दो की प्रवृत्ति के निमित्त चार होने से शब्दार्थ भी चार प्रकार के सिद्ध होते है।[५]

---

[१] यदि चोपचयापचययोगितया डित्थादौ सञ्ज्ञिनि प्रतिकाल भिद्यमानेष्वभिद्यमानो यन्महिम्ना डित्थो डित्थ इत्येवमादिरूपत्वेनाभिन्नाकार प्रत्ययो बाधशून्य सञ्जायते तै तथाभूत डित्थादिशब्दावसेयवस्तुसमवेतमेव डित्थत्वादिसामान्यमेष्टव्यम्। तच्च डित्थादिशब्दैरभिधीयते। (अ० वृ० मा०, पृ० ६)।

[२] अतश्च गुणक्रियायदृच्छाशब्दानामपि जातिशब्दत्वाच्चतुष्टयी शब्दाना प्रवृत्तिर्नोपपद्यते। (अ० वृ० मा०, पृ० ६) ।

[३] गुणक्रियाशब्दसञ्ज्ञिव्यक्तीनामेव तत्तदुपाधिनिबन्धनभेदजुषामेकाकारतावगतिनिबन्धनत्व न तु जातेरिति भगवतो महाभाष्यकारस्यात्राभिमतम्। (अ० वृ० मा०, पृ० १०) ।

[४] यथा हि एकमेव मुख तैलखड्गोदकादर्शादीना प्रतिबिम्बावगतिनिबन्धनाना भेदान्नानाकारत्वेन प्रत्यवभासते तथैवैव शुक्लादिव्यक्तिर्देशकालावच्छिन्ना तत्तत्कारणसामग्र्युपजनितशङ्खाद्याश्रयविशेषवशेन नानारूपतयाभिव्यक्तिमासादयन्ती विचित्रेव स्यादिति। अतश्च तस्या शुक्लादिव्यक्तेरेकत्वाज्जातेश्च भिन्नाश्रयसमवेतत्वात् शुक्लत्वादिजात्यभावान्न शुक्लादिशब्दाना जातिशब्दत्वम्। (अ० वृ० मा०, पृ० १०) ।

[५] एव पचतीत्यादौ डित्थशब्दादौ डित्थादौ च संज्ञिनि वाच्यम्। अत्राप्येकस्या एव पाकादिक्रियाव्यक्ते डित्थादिशब्दव्यक्ते डित्थादेश्च संज्ञिनो यथाक्रममभिव्यञ्जकाना पाकादीना तथा ध्वनीना वयोऽवस्थाविशेषाणा कौमारादीना च यो

२ ४ मम्मट के अनुसार अभिधा का स्वरूप तथा सङ्केत-ग्रह-विभाग

आचार्य मम्मट ने शब्द की तीन वृत्तियो को स्वीकार किया ह अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना। 'शब्दव्यापारविचार' मे इन्होने अभिधा व्यापार की कोई परिभाषा नही दी है। 'काव्यप्रकाश' मे उसका जो स्वरूप स्पष्ट किया है उसके अनुसार साक्षात् सकेतित अर्थ को बोधित करने वाला शब्द वाचक कहलाता हे[१] तथा साक्षात् सकेतितार्थ को ही 'मुख्य' कहा जाता हे। उस मुख्य अर्थ के बोधन मे वाचक शब्द का जो व्यापार हे वही अभिधा हे।[२]

मुकुलभट्ट की ही भॉति मम्मट ने भी वाच्य अर्थात् अभिधेय अर्थ को 'मुख्य' कहा है। वह शब्द का प्रसिद्ध अर्थ है। उसे 'मुख्य' कहने का अभिप्राय मात्र इतना ही हे कि यह आरम्भ मे प्रतीत होता हे। मुख्य शब्द का 'परमप्रतिपाद्य' अर्थ भी होता है, किन्तु मम्मट को वह अर्थ अभिप्रेत नही हे।[३]

आचार्य मम्मट ने भी चार प्रकार के वाच्य अर्थ माने है जिनमे शब्द का सङ्केत रहता है। ये अर्थ है - जाति, गुण, क्रिया और सज्ञा ।[४] वाच्यार्थ बोधन की प्रक्रिया मे सङ्केतग्रह अत्यावश्यक है। जिस शब्द मे सङ्केतग्रहण नही रहता उससे अर्थ की प्रतीति नही होती।[५] शब्द सङ्केत की सहायता से ही अर्थ प्रतिपादन कराता है इस कारण मम्मट ने अर्थ को 'समितध्वनि' भी कहा है।[६]

मम्मट का सङ्केतग्रह-विभाग पूर्णतया व्याकरणाभिमत है। जाति, गुण, क्रिया और सज्ञा रूप चार प्रकार के अर्थो मे शब्द का सङ्केत होने से सङ्केतग्रह चार प्रकार का होता है। ये जात्यादि चार प्रकार की उपाधियॉ है जिनमे शब्दो का सङ्केत रहता है।

प्रवृत्ति और निवृत्ति के योग्य व्यक्ति ही होता है अत व्यक्ति मे ही सङ्केत मानना चाहिए, यह व्यक्तिशक्तिवादियो का तर्क हो सकता है। इस प्रकार की सम्भावना को उठाकर मम्मट इसका उत्तर देते है कि यद्यपि

भेदस्तद्वशेन नानाविधेन रूपेणावभासमानत्वात् स्थितमेतच्छब्दप्रवृत्तिनिमित्ताना चतुष्ट्वान्मुख्य शब्दार्थश्चतुर्विध । (अ० वृ० मा०, पृ० १०) ।

[१] साक्षात्सङ्केतित योऽर्थमभिधत्ते स वाचक । (का० प्र०, द्वि० उ०, पृ० ४१) ।

[२] स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्योव्यापारोऽस्याभिधोच्यते। (का० प्र०, द्वि० उ०, पृ० ५३) ।

[३] पूर्वमुपलभ्यमानत्वात् न तु विश्रान्तिधामत्वात् मुख्य इति प्रसिद्धो वाच्योऽभिधेयोऽर्थ । (श० व्या० वि०, पृ० १) ।

[४] (क) जाति क्रिया गुण सज्ञा वाच्योऽर्थ समितध्वनि । (श० व्या० वि०, पृ० १)।
(ख) सङ्केतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा। (का० प्र०, द्वि० उ०, पृ० ४३) ।

[५] अगृहीतसङ्केतस्य शब्दस्यार्थप्रतिपत्तेरभावात् सङ्केतसहाय एव शब्दोऽर्थ प्रतिपादयति। (श० व्या० वि०, पृ० १) ।

[६] समितध्वनि का अर्थ है - समय अर्थात् सङ्केत से युक्त है ध्वनि अर्थात् शब्द जिसमे।
तेन समित सकेतितो ध्वनि शब्दो यत्र। (श० व्या० वि०, पृ० १) ।

आनयन अपनयन आदि रूप अर्थक्रिया का निर्वाहक होने से प्रवृत्ति आर निवृत्ति रूप व्यवहार के योग्य व्यक्ति ही होता हे तथापि आनन्त्य तथा व्यभिचार दोष के कारण व्यक्ति मे सङ्केत मानना उचित नहीं होता।[1] यदि व्यक्ति मे सङ्केत माना जायेगा तब व्यक्तियो के अनन्त होने के कारण सङ्केत भी अनन्त मानने पडेगे क्योकि जिस व्यक्तिविशेष मे सङ्केतग्रह होगा उससे उसी व्यक्तिविशेष का बोध होगा, उससे भिन्न व्यक्ति के बोध हेतु भिन्न सङ्केत मानना पडेगा। इस प्रकार आनन्त्य दोष हो जाएगा। यदि इस आनन्त्य दोष से निवृत्ति हेतु यह मान लिया जाए कि किसी एक व्यक्ति मे ही सङ्केत मानकर उसी से व्यवहार चला लिया जाता है तब यह नियम व्यभिचरित हो जाता है कि सङ्केतग्रह के पश्चात् ही अर्थोपस्थिति होती है। इस प्रकार व्यक्ति मे सङ्केत मानने से व्यभिचार दोष भी उपस्थित हो जाता है।

इसके अतिरिक्त यदि एक ही व्यक्ति मे सङ्केतग्रह मान लिया जाये तब महाभाष्यकार को अभिमत चतुष्टयी शब्दप्रवृत्ति भी नही उपपन्न हो सकती।[2] 'गौ शुक्ल चलो डित्थ' इत्यादि मे 'गो' जातिवाचक है, 'शुक्ल' गुणवाचक, 'चल' क्रिया वाचक तथा 'डित्थ' सञ्ज्ञावाचक । केवल व्यक्ति मे सङ्केत मानने पर इन सबका अर्थ व्यक्ति ही होगा, ऐसी दशा मे चारो शब्द घट, कलश की भाँति पर्याय होने से साथ प्रयुक्त नही हो सकेगे। किन्तु व्यवहार मे इनका (चारो का) साथ प्रयोग देखा ही जाता है। इन्ही कारणो से शब्दो की जात्यादिरूप चार प्रकार की उपाधियो मे ही सङ्केत मानना उचित है । इससे उपर्युक्त दोष नही होगे।

शब्दो का सङ्केत उसकी उपाधियो मे दर्शाते हुए जिस प्रकार मुकुलभट्ट ने उपाधियो का वर्गीकरण करके उसके चार प्रकार माने है, मम्मट ने भी उसी प्रकार से उपाधियो के चार भेद माने है। वस्तुधर्म नामक उपाधि के सिद्ध एव साध्य भेदो मे सिद्ध उपाधि के जाति एव गुण रूप जो दो प्रकार होते है, उनमे जाति पदार्थो का प्राणप्रद धर्म है तथा गुण विशेषाधानहेतु। गुण व्यक्तियो का सजातीय व्यावर्तक धर्म हे।[3]

---

[1] इह यद्यपि प्रवृत्तिनिवृत्तिविषयो व्यक्तिरेव तथाप्यानन्त्याद् व्यभिचाराच्च तत्र सङ्केत कर्तुं न पार्यते इति। (श० व्या० वि०, पृ०१)।

[2] गौ शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादीनामेकार्थत्व मा प्रसाङ्क्षीदिति च शब्दानामुपाधावेव सङ्केत । (श० व्या० वि०, पृ० १) ।

[3] (क) उपाधिश्च वस्तुधर्मो वक्तृयदृच्छासन्निवेशितश्च। आद्य सिद्ध साध्यश्च। सिद्धोऽपि द्विविध पदार्थस्य प्राणप्रदो विशेषाधानहेतुश्च। आद्यो जाति । उक्त हि वाक्यपदीये - 'गौर्हि स्वरूपेण न गौ नाप्यगौ गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौ' इति। द्वितीयो गुण । शुक्लादिना हि लब्धसत्ताक वस्तु विशेष्यते। (श० व्या० वि०, पृ० ४) ।

(ख) मुकुलभट्ट के समान ही मम्मट ने भी 'वाक्यपदीय' का कहते हुए 'गौर्हि स्वरूपेण ------' इत्यादि जो पंक्ति उद्धृत की है वह भर्तृहरि कृत 'वाक्यपदीय' मे नही प्राप्त होती। इस सम्बन्ध मे प० श्रीजगदीशशास्त्री ने अपनी पुस्तक मे लिखा है कि भर्तृहरि ने स्वोपज्ञवृत्ति निर्मित की थी जो कि वर्तमान समय मे अनुपलब्ध है, सम्भवत उसमे यह वाक्य रहा हो। अथवा यह भी सम्भव है कि पूर्ववर्ती आचार्य मुकुलभट्ट के उद्धरण को ही

साध्य नाम की उपाधि क्रिया रूप होती हे। यह वस्तु के साध्यावस्था का धर्म ह। मम्मट ने इसे 'पूर्वापरीभूतावयवरूप' कहा हे।[1] इसका तात्पर्य यह है कि इसमे एक के बाद दूसरा अश निरन्तर घटित होता रहता हे। जेसे 'पचति' क्रिया मे ओदन पकाने के लिए अग्नि पर पात्र का रखना, तण्डुल के अवयवो का शिथिलीकरण, पात्र को उतारना इत्यादि कार्य होता रहता हे। इसी प्रकार 'गच्छति' क्रिया मे एक पेर का उठना, भूमि पर पडना तदनन्तर दूसरे पर का उठते हुए आगे बढना इत्यादि अश घटित होते है। इसी कारण क्रिया को क्रमिक रूप से घटित होने वाले अवयवो से युक्त कहा गया हे। आचाय भर्तृहरि ने भी क्रिया की परिभाषा इसी प्रकार की है -

यावत्सिद्धमसिद्ध वा साध्यत्वेनाभिधीयते।

आश्रितक्रमरूपत्वात् सा क्रियेत्यभिधीयते॥[2]

वस्तु की चतुर्थ उपाधि वक्तृयदृच्छासन्निवेशित है जो सज्ञा रूप होती है। यह वस्तु के धर्म जाति, गुण, क्रिया से इसलिए भिन्न है क्योंकि यह वक्ता द्वारा अपने व्यवहार हेतु किसी व्यक्तिविशेष के लिए कल्पित सज्ञा मात्र है। जैसे डित्यादि शब्द। ये डित्थादि शब्द वर्णो के क्रम से रहित स्वरूप वाले होते हे। इनमे अन्तिम वर्ण के श्रवण के पश्चात् पूर्व-पूर्व वर्ण के सस्कार से उत्पन्न शब्द का स्वरूप अभिव्यक्त हो जाता है। इसे ही वक्ता अपनी इच्छा से उसके अर्थो मे उपाधि रूप से सन्निविष्ट कर देता हे। इस प्रकार से 'डित्थ' सज्ञा शब्द का अर्थ होता है - 'डित्थ नामधारी गो विशेष'।[3]

शब्दो की इन चार उपाधियो से गौ शुक्लश्चलो डित्थ' इत्यादि चतुष्टयी शब्दप्रवृत्ति उपपन्न हो जाती है।[4] उपाधियो के प्रसङ्ग मे आचार्य मम्मट ने 'परमाणुत्व' आदि को जाति माना हे। उनके अनुसार परमाणुत्व आदि की

विश्वसनीय मानकर मम्मट ने भी अपने ग्रन्थो मे इस वाक्य को उद्धृत कर दिया। श्रीजगदीशशास्त्री का यह विचार युक्तियुक्त ही प्रतीत होता है। (आधार - ध्वनि प्रस्थान मे आचार्य मम्मट का अवदान, पृ० ६१)।

(ग) मम्मट के परवर्ती ग्रन्थो मे भी 'गौर्हि स्वरूपेण - - - ' इत्यादि वाक्य उद्धृत किया गया है तथा उसे 'वाक्यपदीय' का बताया गया है। जैसे -

न हि कश्चित्पदार्थो जातिसम्बन्धमन्तरेण स्वरूप प्रतिलभते। यदुक्त वाक्यपदीये - 'गौ स्वरूपेण न गौर्नाप्यगौर्गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौ' इति। (काव्यानुशासनम्, पृ० २७)।

नरेन्द्रप्रभसूरि ने अपने ग्रन्थ मे लिखा है -

नहि जाति विना पदार्थ सत्तामात्रमप्यासादयति। यदुक्त वाक्यपदीये - 'गौ स्वरूपेण न गौर्नाप्यगौर्गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौ'। (अ० म०, पृ० १५)।

[1] साध्य पूर्वापरीभूतावयव क्रियारूप। (श० व्या० वि०, पृ० ४)।

[2] वा० प०, (३), क्रिया समुद्देश्य, १।

[3] डित्थादिशब्दानामन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्य सहृतक्रम स्वरूप वक्त्रा यदृच्छया डित्थादिष्वर्थेषूपाधितया सन्निवेश्यते इति च सज्ञारूपो यदृच्छात्मक इति। (श० व्या० वि०, पृ० ४)।

[4] गौ शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादौ चतुष्टयी शब्दाना प्रवृत्तिर्भाष्ये कथिता। (श० व्या० वि०, पृ० ४)।

न्याय-वेशेषिक दर्शन मे 'परिमाण' नामक गुणो के मध्य गणना की गई है वह पारिभाषिक ही ह।[1] जिस प्रकार लोक मे गुण, वृद्धि आदि का जो अर्थ प्रचलित हे उससे भिन्न कुछ विशेष अर्थ मे ही व्याकरण-शास्त्र मे उनका प्रयोग होता है। उसी प्रकार जाति होते हुए भी परमाणुत्वादि की गुणो मे गणना हुई ह। जिस प्रकार 'गोत्व' रूप धर्म के कारण किसी पशुविशेष को गो कहा जाता हे उसी प्रकार परम अणु परिमाण जिसमे है उसे परमाणु कहा जाता हे, यह उसका जातिगत धर्म हे।[2]

२ ५ मम्मट के अनुसार जातिशक्तिवाद का खण्डन

'काव्यप्रकाश' मे आचार्य मम्मट ने - 'सङ्केतितश्चतुर्भेदो जात्यादिर्जातिरेव वा'[3] कहते हुए जातिशक्तिवादियो का भी पक्ष दर्शाया है। 'शब्दव्यापारविचार' मे पूर्वपक्षीय सम्भावना के रूप मे जातिवाद का पक्ष रखते हुए उसका खण्डन किया है, जिस प्रकार मुकुलभट्ट ने किया है।

जातिवादियो का यह तर्क हो सकता है कि गुण, क्रिया तथा सज्ञा शब्दो मे भी जाति माननी पडती है अत सभी शब्दो की प्रवृत्ति जातिरूप अर्थ के प्रति होने से चतुष्टयी शब्द-प्रवृत्ति नही मानी जा सकती। दुग्ध, शङ्ख आदि आश्रयो के अनेक होने से उनमे रहने वाले शुक्ल गुण भी अनेक है। उनमे एकत्व की प्रतीति 'शुक्लत्व जाति' के कारण होती है। गुड, तण्डुलादि के भेद से पाकादि क्रिया भी अनेक होती है, उनमे भी पाकत्व जाति माननी चाहिए, उसी प्रकार शुक, सारिका आदि वक्ताओ के भेद से डित्थादि सज्ञा शब्द भी अनेक होते है अत उनमे डित्थत्वादि शब्द जाति अथवा प्रतिक्षण परिवर्तित होने वाले डित्थादि अर्थो मे एकाकारता की प्रतीति हेतु डित्थत्वादि अर्थजाति माननी चाहिए ।[4]

मम्मट ने इसका खण्डन करते हुए तर्क दिया है कि व्यक्तिगत शरीर मे सस्थान (अवयवो की स्थिति), अवस्थान (आकृति), प्रमाण (ऊँचाई, नीचाई), वर्ण (रग) के कारण भिन्नता रहती है। उदाहरण स्वरूप चितकबरापन एव धवलता आदि वर्णो के भेद से गो व्यक्तियो मे भिन्नता होती है, किन्तु उनमे गोत्व जाति एक ही होती है जिससे

---

[1] परमाणुत्वादीना तु गुणमध्यपाठात् पारिभाषिक गुणत्वम्। (श० व्या० वि०, पृ० ४) ।

[2] न खलु स्वय परमाणु नाप्यपरमाणु परमाणुत्वयोगात्तु परमाणुरिति। (का० प्र०, का० प्र० और १६ टीकाएँ, सङ्केत, पृ० २०६) ।

[3] का० प्र०, द्वि० उ०, पृ० ४३ ।

[4] ननु पयःशङ्खाद्याश्रयिभूतेषु शुक्लादिगुणेषु यद्वशेन शुक्ल शुक्ल इत्यभिन्नाभिधानप्रत्ययौ स्त., तच्छुक्लत्वादि सामान्यम्। गुडतण्डुलादिपाकेष्वेवमेव पाकत्वादिकम्। शुकसारिकाद्युदीरितेषु डित्थादिशब्देषु च डित्थादिशब्दत्वम्, प्रतिक्षण भिद्यमाने वा डित्थाद्यर्थे डित्थादित्वमस्तीति कथ चतुष्टयी शब्दाना प्रवृत्ति । (श० व्या० वि०, पृ० ४) ।

व्यक्तिगत भेद होते हुए भी सभी को एक ही 'गो' शब्द से अभिहित किया जाता है।[1] इसी प्रकार गुण, क्रिया और सज्ञा शब्द भी भिन्न-भिन्न स्थानो मे एकरूप होते हुए भी भिन्न प्रतीत होते हे। इनकी भिन्नता का कारण आश्रय भेद हे। जिस प्रकार एक ही मुख्य खड्ग, दर्पण तथा तेल आदि मे प्रतिबिम्बित होने पर एक होते हुए भी भिन्न-भिन्न दृष्टिगोचर होता है[2], इसका कारण आश्रय भेद ही है। हस एव मुक्ताहार दोनो मे वस्तुत शुक्लगुण एक ही रहता है। घृत, गुड आदि की पाकक्रिया भी एक ही है शुक सारिका आदि द्वारा उच्चरित डित्थ शब्द अथवा अनेक स्थिति मे परिवर्तित होते डित्थादि अर्थो मे एकता रहती ही है। स्पष्ट है कि गुण, क्रिया और यदृच्छा शब्दो के एक होने के कारण इनमे एकाकारक प्रतीति करानी वाली जाति को मानने की आवश्यकता ही नही है। ये तीनो जाति रूप ही है ऐसा नही कहा जा सकता। इस स्थिति मे शब्दो की प्रवृत्ति के निमित्त चार ही है।[3]

आचार्य मुकुलभट्ट एव मम्मट ने सकेतितार्थ के विषय म पतञ्जलि की चतुष्टयी शब्द प्रवृत्ति को ही स्पष्ट स्वीकृति प्रदान की है। महाभाष्य मे महर्षि पतञ्जलि ने दो प्रमुख वैयाकरणो का मत भी उल्लिखित किया है- वाजप्यायन एव व्याडि। इनमे वाजप्यायन जाति शक्तिवाद को मानने वाले है तो व्याडि व्यक्तिशक्तिवादी है। महाभाष्य मे तर्क-वितर्क पूर्वक इन दोनो आचार्यो का मत तथा इनका समन्वित रूप प्रस्तुत किया गया है।

२. ६ वाजप्यायन का मत

महाभाष्य से ज्ञात होता है कि वाजप्यायन के मत मे जाति एक होती है तथा शब्द की वाचक शक्ति द्वारा इसे अभिव्यक्त किया जाता है।[4] उदाहरण स्वरूप जब 'गौ' इस शब्द का उच्चारण किया जाता है तो उसका अर्थ 'गोत्व' सामान्य होता है न कि कोई काली अथवा लाल रग वाली विशिष्ट गाय।[5] रूप, अवस्था, स्थान विशेष से सम्बद्ध,

---

[1] सस्थानवस्थानप्रमाणवर्णैर्भेदेऽपि व्यक्तीना शाबलेयो गौ धावलेयो गौरित्याद्येकप्रत्ययहेतुत्व जातेरेव। (श० व्या० वि०, पृ० ५)।

[2] गुणक्रियायदृच्छाना वस्तुत एकरूपाणामप्याश्रयभेदाद् भेद इव लक्ष्यते यथैकस्य मुखस्य खड्गमुकुरतैलाद्यालम्बनभेदात्। (का० प्र० उ०, पृ० ५०)।

[3] हसहारादीना घृतगुडादीना शुकसारिकाद्युदीरितडित्थादिशब्दाना नानावस्थडित्थाद्यर्थाना च भेदेऽपि 'हस शुक्ल' 'हार शुक्ल' 'घृत पच्यते' 'गुड पच्यते' 'डित्थशब्दो डित्थशब्द' 'डित्थो डित्थ' इत्येकाकारावगतिनिबन्धनत्वादेकरूपत्वमेव गुणक्रियायदृच्छानामिति नैतासा भिन्नेष्वभिन्नाभिधानप्रत्ययहेतु जातिर्घटत इति चत्वार्येव शब्दप्रवृत्तिनिमित्तानि। (श० व्या० वि०, पृ० ५)।

[4] आकृत्यभिधानाद्वा एक शब्द विभक्तौ वाजप्यायन आचार्यो न्याय्य मन्यते। एका आकृति साचाभिधीयते इति। (म० भा०, (२), १ २ ३, पृ० ६०)।

[5] (क) न हि गौरित्युक्ते विशेष प्रख्यायते शुक्ला नीला कपिला कपोतिकेति। (म० भा० (२), १ २ ३, पृ० ६०)।

भिन्न-भिन्न गायो के लिए एक ही गो शब्द का प्रयोग यह सूचित करता है कि एक वर्ग के सभी व्यक्तियो का एक सामान्य रूप होता हे जिसे 'जाति' अथवा 'सामान्य' कहा जाता हे। महाभाष्य के अनुसार व्यक्तिवादियो का यह तर्क हो सकता है कि कारक सम्बन्ध का अन्वय व्यक्ति के साथ होता हैं जाति मे इसकी योग्यता नही होती। इसका उत्तर जातिवादी यह दे सकते हे कि व्यक्ति को किसी भी दशा मे शब्द का वाच्यार्थ नही माना जा सकता। व्यक्तियो की सख्या असीम होने से शब्द द्वारा उन सभी का अभिधान सम्भव नही हे।[1] इसके अतिरिक्त यदि एक शब्द किसी व्यक्तिविशेष का अभिधान करे तो इसके अनुसार असख्य व्यक्तियो के लिए असख्य शब्द की कल्पना करनी होगी।[2]

व्यवहार मे यह देखा जाता है कि किसी वालक को गो शब्द का अर्थ समक्ष उपस्थित पशुविशेष बताया जाता है तत्पश्चात वह बालक अन्य स्थान पर पूर्व दृष्ट गाय से भिन्न गाय को देखकर उसकी व्यक्तिगत भिन्नता को न देखते हुए उसे गो शब्द से ही सज्ञित कर देता है।[3] इससे यही निष्कर्ष निकलता हे कि यदि कोई विशेष गाय ही गो शब्द का वाच्यार्थ होती तो बालक दूसरी गाय के लिए यह शब्द नही प्रयुक्त करता।

एक ही जाति एक समय मे अनेक स्थानो पर उपलब्ध हो सकती है। जैसे एक सूर्य अनेक स्थानो पर एक साथ उपलब्ध होता है उसी प्रकार जाति भी अपने मे रहने वाले विभिन्न व्यक्तियो मे उपलब्ध होती है।[4] इसी तथ्य को एक अन्य उदाहरण से भी स्पष्ट किया गया है कि जैसे इन्द्र एक होते हुए भी एक समय मे विभिन्न यज्ञो मे आहूत होने पर उन सबमे उपस्थित रहते है उसी प्रकार जाति भी अनेक व्यक्तियो से सम्बद्ध रहती है।[5]

यदि अनेक व्यक्ति एक ही सत्ता से सम्बद्ध न होते तो एक ही शब्द भिन्न-भिन्न व्यक्तियो का अभिधान न कर पाता। धर्मशास्त्र आदि के वचनो से भी जाति रूप पदार्थ की सिद्धि होती है । 'ब्राह्मण का वध नही करना चाहिए' इस

(ख) गौरित्येतेन शब्देनोक्ते प्रत्यायिते सामान्यलक्षणेर्थे विशेषानवधारणादैक्य सामान्यस्यावसीयत इत्यर्थ। (म० भा० (२), प्र०, १ २ ३, पृ० ६०-६१) ।

[1] व्यक्तीना त्वानन्त्यात्तासु न शक्तिग्रहो, नापि शुद्धाना तासा बोधस्तासा विशेषरूपत्वेन विशेषावगतिप्रसङ्गात्। (म० भा० (२), उ०, १ २ ३, पृ० ६१)।

[2] जात्युपलक्षितस्य द्रव्यस्य शब्देनाभिधाने सत्यभिधेयानेकत्वेनाऽनेकशब्दत्वप्रसङ्गात्। (म० भा० (२), प्र०, १ २ ३ , पृ० ६३) ।

[3] गौरस्य कदाचिदुपदिष्टो भवति। स तमन्यस्मिन्देशेऽन्यस्मिन्कालेऽन्यस्या च वयोऽवस्थाया दृष्ट्वा जानाति अय गौरिति। (म० भा० (२), १ २ ३, पृ० ६१) ।

[4] तद्यथा एक आदित्योऽनेकाधिकरणस्थो युगपदुपलभ्यते (म० भा० (२), १ २ ३, पृ० ६२) ।

[5] तद्यथा एक इन्द्रोऽनेकस्मिन् क्रतुशते आहूतो युगपत्सर्वत्र भवति। एवमाकृतिर्युगपत्सर्वत्र भविष्यति। (म० भा० (२), १ २ ३, पृ० ६२)।

विधि वाक्य मे यदि 'ब्राह्मण' पद का अर्थ 'ब्राह्मणविशेष' होगा तो इसका यही अर्थ निकलेगा कि एक ब्राह्मणविशेष को छोडकर अन्य किसी भी ब्राह्मण को मारने मे कोई हानि नही है।[1]

जाति को शब्दार्थ मानने के विपक्ष मे व्यक्तिवादी का एक यह भी तर्क हो सकता है कि यदि एक वर्ग के सभी व्यक्तियो का समावेश करने वाली जाति ही शब्द का अर्थ है तो इससे समस्या यह उत्पन्न हो जाएगी कि जाति के विषय मे कही हुई कोई बात तक तक नही समझी जा सकेगी जब तक उस वर्ग के सभी व्यक्तियो को दृष्टिगत न किया जाए। इसका खण्डन जातिवादी मतानुसार इस प्रकार है कि वस्तुत जाति व्यक्तियो का समुच्चय नही है और न ही उनमे सामूहिक रूप मे समवेत है। जाति का एक व्यक्ति विशेष से भी वही सम्बन्ध है जो अन्य व्यक्तियो से है। जाति प्रत्येक व्यक्ति मे स्वतन्त्र तथा स्वत पूर्ण रूप से रहती है। इससे स्पष्ट है कि जाति को शब्दार्थ मानने पर किसी एक गाय को लाने की बात कहने पर समस्त गायो को नही लाना पडेगा। किसी भी एक गो व्यक्ति को लाने पर गामानय आदेश पूर्ण हो जाएगा।[2] इस प्रकार जाति को ही शब्दार्थ मानना चाहिए।

२.७ व्याडि का मत

आचार्य व्याडि शब्द का वाच्यार्थ व्यक्ति को मानते है। इन्होने जातिवाद का खण्डन किया है। व्याडि ने 'सग्रह' नामक एक लाख श्लोक वाला ग्रन्थ लिखा जो कि वर्तमान समय मे अनुपलब्ध है। 'सग्रह' के उद्धरण कात्यायन के वार्तिक मे मिलते है। पतञ्जलि ने अपने महाभाष्य मे इसकी चर्चा की है।[3]

व्याडि के अनुसार लिङ्ग एव सख्या का अन्वय केवल व्यक्ति के साथ होने से व्यक्ति को ही शब्दार्थ मानना चाहिये। व्यक्ति को शब्दार्थ मानने से पुल्लिङ्ग मे 'ब्राह्मण' स्त्रीलिङ्ग मे 'ब्राह्मणी' द्विवचन मे 'ब्राह्मणौ' बहुवचन मे 'ब्राह्मणा' आदि प्रयोग उपपन्न हो जाते है।[4]

---

[1] एव च कृत्वा धर्मशास्त्र प्रवृत्त 'ब्राह्मणो न हन्तव्य' 'सुरा न पेये'ति ब्राह्मणमात्र च न हन्यते सुरामात्र च न पीयते। यदि द्रव्य पदार्थ स्यात् एक ब्राह्मणमहत्वा एका च सुरामपीत्वाऽन्यत्र कामाचार स्यात्।' (म० भा०, (२), १ २ ३, पृ० ६२)।

[2] सर्वाभिर्व्यक्तिभि सम्बन्धस्य तुल्यत्वात् सर्वत्रैवाभिन्नबुद्धयुत्पादनात् प्रत्येक परिसमाप्तत्वादेकस्मिन्नपि द्रव्ये तत्कर्म क्रियमाण जातौ कृतमेव भवतीत्यर्थ। (म० भा० (२), प्र०, १ २ ३, पृ० ६३)।

[3] (क) द्रव्याभिधान व्याडिराचार्यो न्याय्य मन्यते द्रव्यमभिधीयते इति। (म० भा० (२), १ २ ३, पृ० ६४)।
(ख) सग्रह एतत्प्राधान्येन परीक्षितम् - नित्यो वा स्यात्कार्यो वेति - - - -। इस महाभाष्य पर उद्योत टीका-सग्रह - व्याडिकृतो लक्षश्लोकसख्यो ग्रन्थ इति प्रसिद्धि। (म० भा० (१), १ १ १, पृ० ५८)।

[4] एव च कृत्वा लिङ्गवचनानि सिद्धानि भवन्ति। ब्राह्मणी ब्राह्मण ब्राह्मणौ ब्राह्मणा इति। (म० भा० (२), १ २ ३, पृ० ६४-६५)।

क्रियाओ का सहज एव स्वाभाविक सम्बन्ध केवल व्यक्ति के साथ ही होता है अत व्यक्ति को ही शब्दार्थ मानना चाहिए।

जातिवादियो को मान्य एक ही सत्ता की अनेक अधिकरणो मे एक ही समय मे उपलब्धि भी सम्भव नही हो सकती। एक ही देवदत्त सुघ्न देश मे तथा मथुरा मे एक साथ नही रह सकता।[1] जाति को शब्दार्थ मान लेने पर 'कुत्ते की मृत्यु हो गई' या 'गौ का जन्म हुआ' जसे वाक्यो मे 'कुत्ते' तथा 'गौ' का अर्थ हुआ वे असख्य व्यक्ति जिनमे जाति समवेत है। ऐसी दशा मे एक कुत्ते के मृत हो जाने पर सम्पूर्ण श्वान जाति को समाप्त हो जाना चाहिए तथा एक गो के जन्म लेने पर सभी गायो को जन्म लेना चाहिए। परन्तु वस्तुस्थिति इसके विपरीत देखी जाती है। इसलिए सिद्ध है कि शब्द का अर्थ व्यक्ति ही होता है।[2]

महाभाष्य पर उद्योत टीका के रचयिता नागेशभट्ट ने जाति और व्यक्ति के सम्बन्ध की समस्या पर प्रश्न उठाया है। प्रत्येक व्यक्ति मे समवेत मानी जाने वाली जाति एक-एक व्यक्ति मे अपने समग्र रूप मे समवेत होती है अथवा समस्त व्यक्तियो मे सामूहिक रूप मे समवेत होती है जाति यदि एक व्यक्ति मे सम्पूर्ण रूप से समवेत हो जाती है तो वह अन्य व्यक्तियो मे समवेत नही होगी और यदि समस्त व्यक्तियो मे सामूहिक रूप मे समवेत रहती है तो इसका ज्ञान तभी सम्भव हो सकेगा जबकि इसको आकार देने वाले सभी व्यक्ति एक साथ एक ज्ञान का विषय हो सके। व्यवहार मे ऐसा द्रष्टव्य नही है अत जाति को शब्द का अर्थ नही माना जा सकता।[3]

प्रत्येक व्यक्तियो मे एक दूसरे से भिन्नता होती है। जाति को पदार्थ मानने पर यह प्रश्न उठेगा कि व्यक्ति के साथ अभेद सम्बन्ध से सम्बन्धित जाति के आश्रय भिन्न-भिन्न कैसे हो सकते है ? एक ही वस्तु की भिन्न तथा अभिन्न दोनो नही माना जा सकता। 'गौश्च गौश्च' इस विग्रह मे दोनो पद दो भिन्न सत्ताओ को सूचित करते है। दोनो का यदि एक ही अर्थ मान लिया जाए तब इनका एक साथ प्रयोग पर्यायवाची पदो के समान असगत हो जाएगा।[4]

---

[1] न खल्वप्येकमनेकाधिकरणस्थ युगपदुपलभ्यते। नह्येको देवदत्तो युगपत्स्रुघ्ने भवति मथुराया च। (म० भा० (२), १ २ ३, पृ० ६५)।

[2] विनाशे प्रादुर्भावे च सर्वं तथा स्यात्। (भाष्य) किम् विनष्येच्च प्रादुष्याच्च। 'श्वामृत ' इति श्वा नाम लोके न प्रचरेत्। 'गौर्जात' इति सर्वं गोभूतमनवकाश स्यात्। (म० भा०, (२), १ २ ३ पृ० ६५) ।

[3] जातिर्न तावद्द्रव्येषु व्यासज्यवृत्ति एकाश्रयनाशेऽप्रतीत्यापत्ते । कि च गामालभेतेत्यादिनोदनासु सर्वद्रव्यालम्भापत्ति । प्रत्येकसमाप्तो तु द्रव्यान्तरे तदनापत्तिस्तत्रापि सत्त्वे एकाकृतिरिति प्रतिज्ञाहानिरित्यर्थ । (म० भा० (२), उ०, १ २ ३, पृ० ६४)।

[4] एव च कृत्वा विग्रह उपपन्नो भवति - गौश्च गोश्चेति। (म० भा० (२), १ २ ३, पृ० ६६)।

द्रव्य ही अभिधेय होते है इसका समर्थन धर्मशास्त्र के आदेशो से भी हो जाता है। जाति को शब्दार्थ मानने पर 'गारनुबन्ध्य' आदि शास्त्रविधियो मे अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है इस वाक्य मे एक व्यक्ति के आलम्भन मे तात्पर्य है- ममस्त गो जाति मे नही। शब्द मे जाति का अभिधान हो ओर आलम्भन व्यक्ति का हो यह तर्कसगत नही है।[1]

इन्ही कारणो से व्यक्तिवादियो ने व्यक्ति को ही शब्द का अर्थ माना है जाति को नही।

२ ८ वाजप्यायन एव व्याडि के मत का समन्वय

वाजप्यायन के जातिशक्तिवाद एव व्याडि के व्यक्तिशक्तिवाद रूप एक-एक पक्ष की जहाँ 'महाभाष्यकार ने विस्तृत रूप से व्याख्या की है वही इन दोनो मतो का तर्क सहित समन्वय भी प्रस्तुत किया हे। पतञ्जलि का मत है कि जातिवादी का जाति को पदार्थ कहने का अभिप्राय यह नही है कि उस समय व्यक्ति का बोध होता ही नही है। इसी प्रकार व्यक्तिवादी जब व्यक्ति को पदार्थ कहता है तो वहाँ भी जाति अवश्य ही रहती है। वस्तुत इन दोनो का मतभेद जाति एव द्रव्य की प्रधानता तथा गौणता को लेकर है। जब जाति की प्रधानता होती है तब शब्द का अर्थ जाति होता है तथा व्यक्ति भी गौणरूपेण वहाँ उपस्थित रहता है। उसी प्रकार व्यक्ति की प्रधानता होने पर व्यक्ति को शब्दार्थ माना जाता हे किन्तु अप्रधानतया वहाँ जाति भी अवश्य ही रहती है।[2]

व्याडि ने लिङ्ग एव वचन का अन्वय केवल व्यक्ति के साथ माना था। इसका समाधान महाभाष्यकार के अनुसार इस प्रकार हो जाता है कि जैसे गुणवाची शब्दो के लिङ्ग एव वचन उनके विशिष्ट द्रव्यो के लिङ्ग एव वचन के अनुसार परिवर्तित होते है जैसे शुक्ला पटी, शुक्ल वस्त्रम्, द्वे शुक्ले कम्बले इत्यादि। उसी प्रकार जाति भी द्रव्य के लिङ्ग वचन को अपना लेती है क्योकि वह द्रव्य मे समवेत रहती है।[3]

---

[1] आकृतौ चोदिताया द्रव्ये आरम्भणालम्भनप्रोक्षणविशसनादीनि क्रियन्ते। (म० भा० (२), १ २ ३, पृ० ६५)।

[2] (क) नह्याकृतिपदार्थकस्य द्रव्य न पदार्थ द्रव्यपदार्थकस्य वा आकृतिर्न पदार्थ। उभयोरुभय पदार्थ। कस्यचित्किंचित्प्रधानभूत किंचिद् गुणभूतम्। आकृतिपदार्थकस्य आकृति प्रधानभूता द्रव्य गुणभूतम्। द्रव्यपदार्थकस्य द्रव्य प्रधानभूतमाकृतिर्गुणभूता। (म० भा० (२), १ २ ३, पृ० ६८ - ६६)।

(ख) कि पुनराकृति पदार्थ अहोस्विद् द्रव्यम्? उभयमित्याह। कथ ज्ञायते? उभयथा ह्याचार्येण सूत्राणि पठितानि। आकृति पदार्थ मत्वा-जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम्' इत्युच्यते। द्रव्य पदार्थ मत्वा -'सरूपाणाम्' इत्येकशेष आरभ्यते। (म० भा० (१), १ १ १, पृ० ५६)।

[3] गुणवचनवद्वा लिङ्गवचनानि भविष्यन्ति। तद्यथा-गुणवचनाना शब्दानामाश्रयतो लिङ्गवचनानि भवन्ति-शुक्ल वस्त्रम्, शुक्ला शाटी, शुक्ल कम्बल, शुक्लौ कम्बलौ, शुक्ला कम्बला इति। यदसौ द्रव्य श्रितो भवति गुणस्तस्य यल्लिङ्ग वचन च तद्गुणस्यापि भवति। एवमिहापि यदसौ द्रव्य श्रिता आकृतिस्तस्य यल्लिङ्ग वचन च तदाकृतेरपि भविष्यति। (म० भा० (२), १ २ ३, पृ० ६६)।

व्यक्तिवादी का यह कथन भी युक्तिसङ्गत नही है कि क्रियाओ का सम्बन्ध केवल व्यक्ति के साथ ही होता है। क्रियाओ का वास्तविक सम्बन्ध तो जाति से युक्त व्यक्ति के साथ ही होता है। इस तथ्य को महाभाष्य के 'प्रदीप' टीकाकार इस प्रकार स्पष्ट करते है कि यदि किसी व्यक्ति को अग्नि लाने का आदेश दिया जाता है तब वह व्यक्ति उसे पात्र मे रखकर लाता हे यद्यपि आदेश वाक्य मे पात्र का कथन नही होता। उसी प्रकार जब जाति के लिए किसी क्रिया का विधान किया जाता है तब उमके माथ व्यक्ति सहज रूप से जुडा ही होता है।[१]

जाति के विषय मे यह प्रश्न व्यक्तिवादियो के मतानुसार उठाया गया था कि एक ही सत्ता एक से अधिक आश्रयो मे नही रह सकती। इसके समाधान स्वरूप सूर्य एव इन्द्र का उदाहरण प्रस्तुत किया गया था। प्रदीपकार ने इसे अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा हे कि जाति विभु तथा नित्य अर्थात् देश काल की सीमा से परे है। व्यक्ति की उत्पत्ति एव विनाश से जाति की उत्पत्ति तथा विनाश को नही सिद्ध किया जा सकता। जाति अपने अस्तित्व के लिए द्रव्य के आश्रित नही रहती। द्रव्य का विनाश हो जाने पर भी इसका विनाश नही होता।[२] वृक्ष के ऊपर चढाया गया वितान वृक्ष के कट जाने पर भी अवशिष्ट ही रहता है। ऐसी ही स्थिति जाति की भी है। द्रव्यो मे भिन्नता के कारण ही जाति भी भिन्न - भिन्न प्रतीत होती है।

व्यक्तिवादी का यह भी तर्क था कि अनेक और भिन्न-भिन्न व्यक्तियो मे कोई एक जाति नही हो सकती। पतञ्जलि इसके उत्तर मे स्पष्ट करते है कि अक्ष शब्द के पासे, ज्ञानेन्द्रिय तथा धुरी कई अर्थ है। इस प्रकार एक ही शब्द विविध वर्गों से सम्बद्ध विविध अर्थों को बोधित करता है। यहाँ अभिहित अर्थों मे भिन्नता होते हुए भी एक अश मे समानता है वह है अश् धातु जिसका अर्थ है- व्याप्ति की क्रिया। यह सभी भिन्न अर्थों मे समान है। इसी प्रकार जाति को भी भिन्न-भिन्न व्यक्तियो से सम्बद्ध मानने मे कोई दोष नही है।[३] इस प्रकार जाति और व्यक्ति दोनो को ही शब्दार्थ मानना चाहिए।

२ ६ महाभाष्यकार का चतुर्विध शब्द-विभाग

महाभाष्य मे जातिशक्तिवाद एव व्यक्तिशक्तिवाद, दोनो ही मतो की एकाङ्गिता को दर्शाते हुए पतञ्जलि ने

---

[१] यथाग्निरानीयतामित्युक्ते केवलस्याग्नेरानयनासभवन्नान्तरीयकत्वादचोदितमपि पात्रमानीयते एतदेवाग्नेरानयन यत् पात्रस्थस्य तथा आकृतावारम्भणादीनि चोद्यमानानि सामर्थ्यात् साहचर्यात् द्रव्यमभिनिविशन्ते। (म० भा० (२), प्र०, १ २ ३, पृ० ६६)।

[२] द्रव्यविनाशे आकृतेरविनाश। कुत ? अनैकात्म्यात् अनेक आत्मा आकृतेर्द्रव्यस्य च। तद्यथा वृक्षस्थोऽवतानो वृक्षे छिन्नेपि न विनश्यति। (म० भा० (२), १ २ ३, पृ० १००)।

इनका समन्वय प्रस्तुत किया ह। इसके साथ-साथ अपने चतुर्विध शब्द-विभाग सम्बन्धी मान्यता की व्याख्या भी की हे।[1] इन्होने शब्दो की चार प्रवृत्तियाँ स्वीकार की हे। - जाति, गुण, क्रिया तथा यदृच्छा।[2] अर्थात् शब्दो की अर्थ के विषय मे जो प्रवृत्ति होती हे उस प्रवृत्ति के निमित्त चार प्रकार के होते है।[3]

पतञ्जलि से पूर्व पाणिनि ने 'जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्' (पा० सू० १ २ ५८) सूत्र का निर्माण जाति को पदार्थ मान कर तथा 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तो (१ २ ५८) का निर्माण व्यक्ति को शब्दार्थ मानकर किया हे। 'उपसर्गा क्रियायोगे' (१ ४ ५६) सूत्र क्रिया के विधान को मान्यता देता है। 'पूरणगुणसुहितार्थसदव्ययतव्यसमानाधिकरणेन' (२ २ ११) सूत्र द्वारा पूरणगुण आदि वाले तथा सत् आदि शब्दो से प्राप्त षष्ठी समास का निषेध किया है। यह सूत्र पाणिनि को मान्य गुण रूप पदार्थ को सिद्ध करता है। महाभाष्य मे पतञ्जलि ने एक स्थल पर यदृच्छा शब्दो को न मानते हुए शब्दत्रयीवाद को स्वीकार किया हे।[4] किन्तु अन्तत इन्होने चतुष्टयवाद की ही स्थापना की है। पतञ्जलि ने लोकव्यवहार मे अर्थबोध कराने वाली ध्वनि को ही शब्द कहा है। इन्होने पाणिनि के 'ऋलृक्' सूत्र की व्याख्या करते हुए इसका प्रयोजन स्पष्ट किया है। इसी लृकारोपदेश के सन्दर्भ मे यदृच्छा शब्दो की स्थिति आती है।[5]

प्रदीपकार के अनुसार अर्थगत प्रवृत्तिनिमित्त की अपेक्षा किये विना ही जो शब्द वक्ता के अभिप्राय से प्रयुक्त होते है। वही यदृच्छा शब्द है। उद्योतकार का विचार है कि स्वेच्छा से एक व्यक्ति मे सकेतित शब्द यदृच्छा शब्द है।[6] पतञ्जलि की ऐसी मान्यता है कि पाणिनि ने लृकार का उपदेश यदृच्छा शब्दो के लिए ही किया हे। जैसे -किसी का नाम 'लृतक' रख दिया जाता है तो यह नाम यदृच्छा शब्द ही है। 'लृतक' शब्द के परे रहते भी अच् निमित्तक कार्य हो सके इसके लिए लृकार का उपदेश सार्थक है। जैसे किसी ने कहा - 'दध्लृतकाय देहि', 'मध्वलृतकाय देहि' इन स्थलो

---

[1] विभिन्नार्थेषु च सामान्यात्सिद्धम्। सर्वत्र अश्नोतेरक्ष, पद्यते पाद, मिमीते माष। तत्र क्रियासामान्यात्सिद्धम् । (म० भा० (२), १ २ ३, पृ० १०१)।

[2] चतुष्टयी शब्दाना प्रवृत्ति - जातिशब्दा., गुण शब्दा, क्रिया शब्दा, यदृच्छाशब्दाश्चतुर्था। (म० भा० (१), १ १ २, पृ० १०१)।

[3] शब्दानामर्थे या प्रवृत्ति सा प्रवृत्तिनिमित्तभेदात्प्रकारचतुष्टयवतीत्यर्थ। (म० भा० (१), उ०, १ १ २, पृ० १०१)।

[4] त्रयी च शब्दाना प्रवृत्ति - जातिशब्दा, गुणशब्दा क्रियाशब्दा इति। न सन्ति यदृच्छाशब्दा। (म० भा० (१), १ १ २, पृ० १०३)।

[5] अथ लृकारोपदेश किमर्थ ? लृकारोपदेशो यदृच्छाऽशक्तिजानुकरणप्लुत्याद्यर्थ। (म० भा० (१), १ १ २, पृ० १०० - १०१)।

[6] (क) अर्थगत प्रवृत्तिनिमित्तमनपेक्ष्य य शब्द प्रयोक्त्रभिप्रायेणैव प्रवर्तते स यदृच्छाशब्दो डित्यादि। (म० भा० (१), प्र०, १ १ २, पृ० १०१)।
(ख) स्वेच्छयैकस्या व्यक्तौ सङ्केत्यमान शब्द यदृच्छाशब्द इति बोध्यम्। (म० भा० (१), उ०, १ १ २, पृ० १०१)।

मे लृतक के लृकार को अच् मानकर उसके परे रहते क्रमश दधि एव मधु के इ, उ के स्थान पर यण् हुआ ह। इसी प्रकार जैसे - 'उदङ्डलृतकोऽगमत्', 'प्रत्यङ्ङ्लृतकोऽगमत्' मे उदङ् तथा प्रत्यङ् से परे लृतक का अच् अर्थात् लृकार है इसी कारण यहाँ ङ्मुट का आगम हुआ है।[1] इन्ही कारणो से पतञ्जलि के अनुसार शब्दो का प्रयोग चार प्रकार का देखा जाता है- जातिशब्द, गुण शब्द, क्रिया शब्द तथा यदृच्छा शब्द।

यहाँ यदि यदृच्छा शब्द को न माना जाए तो लृकार के अस्तित्व को समाप्त करने के लिए सर्वत्र लृकार के स्थलो मे ऋकार सिद्ध करना होगा। अत यदृच्छा शब्दो की स्थिति को स्वीकार कर लेना ही श्रेयस्कर हे अन्यथा लृकार का उपदेश व्यर्थ हो जाएगा।

महर्षि पतञ्जलि का यही शब्द चतुष्टयवाद मुकुलभट्ट एव मम्मट सहित अन्य परवर्ती साहित्यकारो के सङ्केतग्रह के उपाधि-चतुष्टय का भी आधार बना है। यदृच्छा शब्द को ही कही-कही सज्ञा शब्द के नाम से भी जाना जाता है।[2] साहित्यदर्पणकार यदृच्छा शब्द के स्थान पर द्रव्य शब्द प्रयुक्त करते हे। इनके अनुसार केवल एक व्यक्ति के वाचक हरि, हर, डित्थ, डवित्थ, देवदत्त, यज्ञदत्तादि शब्दो को द्रव्य शब्द कहते है।[3] हेमचन्द्र ने भी 'यदृच्छा' शब्द के लिए 'द्रव्य' शब्द का प्रयोग किया है।[4]

---

[1] यदृच्छाशब्दार्थस्तावत् - यदृच्छया कश्चिद् लृतको नाम। तस्मिन्नच्कार्याणि यथा स्यु - दध्लृतकाय देहि मध्वलृतकाय देहि, उदङ्ङ्लृतकोऽगमत् प्रत्यङ्ङ्लृतकोऽगमत्। (म० भा० (१), १ १ २, पृ० १०१)।

[2] ------सज्ञारूपो यदृच्छात्मक इति। (श० व्या० वि०, पृ० ४)।

[3] द्रव्यशब्दा एकव्यक्तिवाचिनो हरिहरडित्थडवित्थादय। (सा० द०, पृ० २७)।

[4] अव्यवधानेन यत्र सङ्केत क्रियते स मुखमिव हस्ताद्यवयवेऽभ्योऽर्थान्तरेभ्य प्रथम प्रतीयते इति मुख्य, स च जातिगुणक्रियाद्रव्यरूप -----। (काव्यानुशासनम्, पृ० २७)।

लक्षणावृत्ति - विवेचन

शब्द के साक्षात् सकेतित अर्थ का बोध कराने वाली शक्ति अभिधा है। उससे बोधित अर्थ ही मुख्यार्थ हे जो कि शब्द से सर्वप्रथम जाना जाता हे, परन्तु कभी-कभी मुख्यार्थ अथवा वाच्यार्थ का वाक्य के पदो के साथ अन्वय असङ्गत हो जाता हे अथवा मुख्यार्थ से तात्पर्य की उपपत्ति नही होती। फलत मुख्यार्थ बाधित हो जाता है। ऐसी दशा मे उससे सम्बद्ध किसी अन्य अर्थ की प्रतीति हो जाती हे। यह प्रतीति रूढि या प्रसिद्धि के कारण अथवा किसी विशेष प्रयोजन के प्रतिपादन के लिए ही होती है। इसी 'अन्य' अर्थ को 'लक्ष्यार्थ' तथा उसकी बोधिका शक्ति को 'लक्षणाशक्ति' के नाम से जाना जाता है। उदाहरण के लिए 'गङ्गाया घोष' (गङ्गा मे बस्ती है) इस वाक्य का प्रवाह रूप मुख्यार्थ बाधित हो जाता है क्योकि गङ्गा की धारा के साथ घोष का आधाराधेय सम्बन्ध नही बन सकता। इसलिए लक्षणा द्वारा गङ्गा पद का तट अर्थ निकलता हे। यहॉ बस्ती मे अतिशय शैत्य और पावनत्व की प्रतीति कराना ही इस प्रकार के लाक्षणिक प्रयोग का प्रयोजन है।

मानव व्यवहार मे इस प्रकार के प्रयोग अति साधारण है। शास्त्र-जगत् मे शब्द की शक्ति के रूप मे लक्षणा सुप्रतिष्ठित ही है।

लक्षणा को 'भक्ति' तथा 'गुणवृत्ति' के नाम से भी जाना जाता है। कही ये तीनो ही पर्यायावाची के रूप मे प्रयुक्त हुए है तो कही भक्ति अथवा गुणवृत्ति को लक्षणा से अलग वृत्ति के रूप मे मान्यता मिली है।

काव्यशास्त्र मे ही हमे लक्षणा का विकसित रूप तथा शब्द की द्वितीय शक्ति के रूप मे स्पष्ट स्थापना देखने को मिलती है, परन्तु इसके बीज वैदिक साहित्य, व्याकरण ग्रन्थो तथा दर्शन ग्रन्थो मे देखे जा सकते है। सस्कृत काव्यशास्त्र मे प्रतिष्ठित लक्षणा की आधारभूमि मुख्यरूप से व्याकरण, मीमासा तथा न्याय-दर्शन की तत् सम्बन्धी मान्यताएँ ही हे।

वेदिक काल से ही लक्षणा का स्वरूप - विवेचन प्रारम्भ हो गया था। ब्राह्मण ग्रन्थो मे भाक्त प्रयोग का उल्लेख पाया जाता हैं। ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण मे 'भक्ति' शब्द का प्रयोग मिलता है।[1] यास्क ने 'निरुक्त' मे 'बहुभक्तिवादीनि ब्राह्मणवाक्यानि भवन्ति' कहकर ब्राह्मण ग्रन्थो मे लक्षणा के निरूपण का समर्थन किया है। स्वय यास्क ने भी 'निरुक्त' के द्वितीय अध्याय मे लक्षणा का विवेचन प्रस्तुत किया है। यास्क ने मुख्य रूप से सादृश्यमूलक प्रयोगो के आधार पर ही लक्षणा को स्वीकारा ह। 'निरुक्त' के द्वितीय अध्याय मे कुछ वदिक उदाहरणो को प्रस्तुत कर यास्क ने उनमे लक्षणा प्रदर्शित की हे। उदाहरण स्वरूप गमनार्थक 'पद' धातु से निष्पन्न होने वाले पाद एव पद शब्द मुख्यत पशुओ के पेर के बोधक होते हे। पशुओ के चार पैर होते है इसी सादृश्य के आधार पर चार चरण वाले श्लोक के प्रत्येक चरण को 'पाद' कह दिया जाता है। यह लाक्षणिक प्रयोग है। इस प्रकार किसी भी वस्तु के चतुर्थांश को पाद कहना भी लाक्षणिक प्रयोग ही हे। इसी प्रकार गो शब्द का मुख्यार्थ पृथ्वी तथा गाय, बैल है। किन्तु वह उससे सम्बद्ध अन्य पदार्थो को भी प्रकट करता है। इस प्रकार का प्रयोग भी लाक्षणिक ही है।[2]

वैयाकरणो मे पाणिनि ने 'पुयोगादाख्यायाम्' (४ १ ४८) सूत्र की रचना की, जिसके अनुसार पुरुषवाची शब्दो से पुयोग मे स्त्री की आख्या मे 'डीष्' का विधान होता है। जेसे 'प्रष्ठस्य स्त्री', 'ब्राह्मणस्य स्त्री' आदि अर्थो मे 'प्रष्ठ', 'ब्राह्मण' आदि से स्त्रीत्व की आख्या मे उपर्युक्त सूत्र से डीष् प्रत्यय करने पर प्रष्ठी, ब्राह्मणी शब्द निष्पन्न होते हे। यहॉ यह प्रश्न उठता है कि ये शब्द मूलत पुल्लिङ्ग कैसे हो सकते है ? अर्थात् भिन्न मे अभिन्नता का ज्ञान, अतत् मे तत् का ज्ञान केसे सम्भव हो सकता है ?[3] इसके समाधान का अन्वेषण महाभाष्यकार ने पाणिनि के सूत्रो मे ही किया है - पाणिनि के 'तदर्हति' (५ १ ६३) तथा 'तदर्हम्' (५ १ १७) सूत्र इस तथ्य का सङ्केत देते हे कि इन्हे दो पदार्थो मे योग्यता रूप सम्बन्ध अभिमत था। इसी के कारण भिन्न पदार्थ मे भिन्न पदार्थ का अभेद आरोपित होता है इसी अभेद सम्बन्ध को स्पष्ट करने मे लक्षणा की स्थिति आती है। पतञ्जलि ने अन्य मे अन्य के धर्म के आरोप के लिए चार प्रकार माने है -

(१) तात्स्थ्य (२) ताद्धर्म्य (३) तत्सामीप्य (४) तत्साहचर्य[4]

---

[1] मरुता सा भक्तिर्मरुत्वतीयमुक्थ शस्त्वा मरुत्वतीयया यजति यथाभाग तद्देवता प्रीणाति। (ऐ० ब्रा०, ३ १२ ६, पृ० ४५२)।

[2] (क) पाद पद्यते। तन्निधानात् पदम्। पशुपादप्रकृति प्रभागपाद। प्रभागपादसामान्यादितराणि पदानि। (निरुक्त, २/७)।

(ख) ज्यापि गौरुच्यते। गव्या चेत् तद्धितम्। (निरुक्त, २/५)

[3] कि पुनरिहोदाहरणम् ? प्रष्ठी, प्रचरी। कथ पुनरय प्रष्ठशब्दोऽकारान्त स्त्रिया वर्तते? तस्येदमित्यनेनाभिसम्बन्धेन। यथैव ह्यसौ तत्कृतान् स्नानोद्वर्तनपरिषेकान् लभते एव प्रष्ठशब्दमपि लभते॥ (म० भा० (४), ४ १ २, पृ० ६४ - ६५)।

[4] कथ पुनरतस्मिन् 'स' इत्येतद्भवति ? चतुर्भि प्रकारैस्तस्मिन् 'स' इत्येतद्भवति - तात्स्थ्यात्, ताद्धर्म्यात्, तत्सामीप्यात् तत्साहचर्यादिति। (म० भा० (४), ४ १ २, पृ० ६७)।

१ - इनमे तात्स्थ्य सम्बन्ध आधाराधेयभाव रूप होता है । यह सम्बन्ध लक्षणा का प्रयोजक हे। मुख्य अर्थ के अनुपपन्न होने के बाद लक्षणा द्वारा जिस अन्य अर्थ का बोध होता ह वह अथ मुख्यार्थ से किसी न किसी सम्बन्ध से सम्बद्ध होता है। तात्स्थ्य सम्बन्ध से होने वाली लक्षणा मे मुख्याथ तथा लक्ष्यार्थ मे आधाराधेय सम्बन्ध होता हे। महाभाष्यकार ने इस प्रकार के सम्बन्ध के लिए दो उदाहरण प्रस्तुत किए ह - 'मञ्चा हसन्ति' तथा 'गिरिर्दह्यते' ।[1] यहॉ प्रथम उदाहरण मे मञ्च पर रहने वाले बालको को भिन्न होते हुए भी आधाराधेय सम्बन्ध के कारण 'मञ्च' कह दिया गया ह। यही तात्स्थ्य सम्बन्ध से होने वाली लक्षणा ह।

२ - जब गुणो या क्रिया की समानता के कारण एक वस्तु पर दूसरे का आरोप किया जाता हे तब वहॉ ताद्धर्म्य सम्बन्ध होता हे। इसका उदाहरण हे 'जटी ब्रह्मदत्त' यहॉ ताद्धर्म्य के कारण गुणो की समानता के आधार पर जो व्यक्ति ब्रह्मदत्त नही है उसे ब्रह्मदत्त कह दिया गया है।[2]

३ - सामीप्य सम्बन्ध के कारण होने वाली लक्षणा के लिए पतञ्जलि ने 'गङ्गाया घोष तथा 'कूपे गर्गकुलम्' उदाहरण दिया है। यहाँ सामीप्य के कारण गङ्गा तट मे गङ्गा का तथा कुएँ के तट मे कुएँ का आरोप किया गया है।[3]

४ - किसी वस्तु के साहचर्य के कारण वस्तुधारी व्यक्ति को उसी वस्तु के नाम से सम्बोधित कर दिया जाता है । ऐसे स्थलो मे साहचर्य के कारण ही अन्य वस्तु मे अन्य के धर्म का आरोप होता है। महाभाष्यकार ने 'कुन्तान् प्रवेशय' तथा 'यष्टी प्रवेशय' उदाहरण तत्साहचर्य से होने वाली लक्षणा के लिए प्रस्तुत किया हे। यहॉ अचेतन कुन्त एव यष्टी के द्वारा प्रवेशन क्रिया बाधित है अत उनके साहचर्य सम्बन्धी कुन्तधारी तथा यष्टीधारी पुरुषो का लक्षणा से बोध होता है।[4]

इस प्रकार पतञ्जलि ने लक्षणा को आवश्यक मानते हुए अन्यत्र भी उसका स्वरूप स्पष्ट किया है। महाभाष्य मे अनेक स्थलो पर 'उपचार' के रूप मे लक्षणा के सङ्केत द्रष्टव्य है -

१ - युवत्व लोके ईप्सित पूजेत्युपचर्यते (म० भा० (४), ४ १ ४, पृ० २५३) ।

२ - लोके हि सख्या प्रवर्त्तमानामुचरन्ति । (म० भा० (४), ४ १ ३, पृ० १३२) ।

इसके अतिरिक्त पतञ्जलि के द्वारा 'त्रैकाल्य खल्वपि लोके लक्ष्यते' (३ १ ६६) वाक्याश मे प्रयुक्त 'लक्ष्यते' पद ही लक्षणा का मूल है।

---

[1] तात्स्थ्यात्तावत् मञ्चा हसन्ति गिरिर्दह्यते। (म० भा० (४), ४ १ २, पृ० ६७)।

[2] ताद्धर्म्यात् - जटिन यान्त ब्रह्मदत्त इत्याह। ब्रह्मदत्ते यानि कार्याणि जटिन्यपि तानि क्रियन्त इत्यतो जटी ब्रह्मदत्त इत्युच्यते। (म० भा० (४), ४ १ २, पृ० ६७)।

[3] तत्सामीप्यद् - गङ्गाया घोष, कूपे गर्गकुलम् । (म० भा० (४), ४ १ २, पृ० ६७)।

[4] तत्साहचर्यात् - कुन्तान् प्रवेशय, यष्टी प्रवेशयेति। (म० भा० (४), ४ १ २, पृ० ६७)।

भर्तृहरि प्रणीत 'वाक्यपदीयम्' मे भी लक्षणा के स्पष्ट सङ्केत द्रष्टव्य है। भर्तृहरि के अनुसार शब्द मे सभी प्रकार के अर्थों के बोधन की शक्ति होती हे। प्रसिद्ध अर्थ के प्रतिपादन मे शब्द की मुख्य वृत्ति प्रवृत्त हाती है तथा अप्रसिद्ध अर्थ के प्रतिपादन मे गोणवृत्ति।[1] गो शब्द का जो 'गोत्व' अर्थ होता हे वह प्रसिद्ध होने के कारण मुख्य हे तथा वाहीक अर्थ अप्रसिद्ध ह। इस अप्रसिद्ध अर्थ मे शब्द की प्रवृत्ति सादृश्य के निमित्त से होती ह। इस प्रकार भर्तृहरि ने यह माना ह कि अथ, प्रकरण तथा मुख्यार्थबाध आदि की अपेक्षा किए विना शब्द के श्रवण के पश्चात ही जिस अथ का बोध होता ह वह मुख्य अर्थ हे। अर्थ, प्रकरण, मुख्यार्थबाध आदि के बाद जिस अर्थ का बोध होता है वह गोण अर्थ है।[2]

३.१ मीमासको के अनुसार लक्षणा -

दर्शन के क्षेत्र मे लक्षणा शब्द का प्रयोग मीमासा-दर्शन मे बहुलता से मिलता है। शाबरभाष्य मे 'लक्षणा' शब्द का प्रयोग मीमासा-दर्शन मे लक्षणा की स्पष्ट स्थिति का सङ्केत देता है।[3] मीमासको मे अग्रगण्य कुमारिलभट्ट की 'तन्त्रवार्तिक' मे लक्षणा की परिभाषा एव इसकी विस्तृत व्याख्या मिलती है।

मीमासको ने 'गौणी' एव 'लक्षणा' को भिन्न-भिन्न वृत्तियो के रूप मे स्वीकार किया है। कुमारिलभट्ट ने भी गौणी तथा लक्षणा को भिन्न - भिन्न ही माना है। इनके मतानुसार अभिधेय से अविनाभूत अर्थ की प्रतीति कराने वाली शक्ति लक्षणा है तथा लक्षणा से बोधित गुणो के योग से होने वाली शब्दवृत्ति की गौणता होती है।[4] अर्थात् गुणो के योग से अर्थ-प्रतीति कराने वाली वृत्ति गौणी है। आचार्य मम्मट के अनुसार कुमारिलभट्ट की लक्षणा-परिभाषा मे 'अविनाभूत सम्बन्ध' का तात्पर्य सम्बन्ध मात्र है न कि किसी प्रकार की व्याप्ति । 'अविनाभाव' का दार्शनिक अर्थ होता है व्याप्ति । व्याप्ति कहते है एक के विना दूसरे का न होना । जैसे अग्नि के विना धूम नही हो सकता। लक्ष्यार्थ की वाच्यार्थ से इस प्रकार की व्याप्ति नही होती। यदि व्याप्ति के कारण ही लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती तब 'मञ्चा क्रोशन्ति'

---

[1] सर्वशक्तेस्तु तस्यैव शब्दस्यानेकधर्मण।
प्रसिद्धिभेदाद् गौणत्व मुख्यत्व चोपवर्ण्यते॥ (वा० प०, २ २५३)।

[2] श्रुतिमात्रेण यत्रास्य तादर्थ्यमवसीयते।
मुख्य तमर्थं मन्यन्ते गौण यत्नोपपादितम्॥ (वा० प०, २ २७८)।

[3] (क) लक्षणाऽपि हि लौकिकी। (शा० भा०, मी० द० (२), पृ० ३६)।
(ख) लौकिकी हि लक्षणा हठोऽप्रसिद्धकल्पनेति। (शा० भा०, मी० द० (२), पृ० २७५)।

[4] अभिधेयाविनाभूते प्रवृत्तिर्लक्षणेष्यते
लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता। (त० वा०, मी० द० (२), पृ० ३१३)।

इस उदाहरण मे 'मञ्च' शब्द की मञ्चस्थ पुरुषो मे लक्षणा नही हो सकती थी, क्योकि मञ्च पर स्थित पुरुष मञ्च के साथ व्याप्ति-सम्बन्ध से सम्बन्धित नही है।[1]

प्रभाकर मतानुयायी शालिकनाथमिश्र अपने ग्रन्थ मे प्रभाकरमिश्र के अनुसार लक्षणा का विवेचन करते हुए लिखते हे कि वाक्यार्थ मे वाच्यार्थ के सम्बन्ध की अनुपपत्ति ही लक्षणा का कारण है। सम्बन्ध की अनुपपत्ति के कारण अन्वय की कल्पना की जाती हे। यह अन्वय जिस व्यापार द्वारा कल्पित होता हे उसी व्यापार को लक्षणा कहते हे।[2]

लक्षणा की परिभाषा एव स्वरूप-विवेचन के साथ-साथ मीमासा-दर्शन मे इसके कारण एव प्रयोजनो पर भी विचार किया गया है। महर्षि जैमिनि ने अपने सूत्र मे लक्षणा के छ कारण उल्लिखित किए है । ये हे - तत्सिद्धि, जाति, सारूप्य, प्रशसा, भूमा तथा लिङ्गसमवाय।[3]

३ २ नैयायिको के अनुसार लक्षणा -

न्याय-दर्शन के प्राचीन ग्रन्थो मे लक्षणा की स्पष्ट परिभाषा दृष्टिगोचर नही होती है। आचार्य गौतम के 'न्याय-सूत्र' मे 'उपचार' शब्द का प्रयोग लक्षणा के पर्याय के रूप मे हुआ है।[4] गौतम-सूत्र मे लक्षणा के निमित्तो की चर्चा करते हुए उसके दस प्रकार माने गये है - सहचरण, स्थान, तादर्थ्य, वृत्त, मान, धारण, सामीप्य, योग, साधन तथा आधिपत्य ।[5]

न्यायसिद्धान्तमुक्तावलीकार लक्षणा की परिभाषा देते है - तात्पर्य की अनुपपत्ति होने पर शक्यार्थ से सम्बन्ध को लक्षणा कहते है। लक्षणा के उदाहरण मे इन्होने 'गङ्गाया घोष' वाक्य को प्रस्तुत किया है तथा तात्पर्यानुपपत्ति को लक्षणा का बीज स्वीकार किया है।[6]

---

[1] अविनाभावोऽत्र सम्बन्धमात्रम्, न तु नान्तरीयकत्वम्, तत्त्वे हि मञ्चा क्रोशन्तीत्यादौ लक्षणा न स्यात्, - - - । (श० व्या० वि०, पृ० १२)।

[2] गुरुमतेन लक्षणा निरूपणम् -
वाच्यस्यार्थस्य वाक्यार्थे सम्बन्धानुपपत्तित ।
तत्सम्बन्धवशप्राप्तस्यान्वयाल्लक्षणोच्यते।। (सग्रह श्लोक, वा० मा०, पृ० ४६ - ५०)।

[3] तत्सिद्धि जाति सारूप्य प्रशसा भूमा लिङ्गसमवायात् - - - । (मी० सू० , पृ० ३८ - ३६)।

[4] (क) तदर्थे व्यक्त्याकृतिजातिसनिधावुपचारात् सशय । (न्या० सू०, २/२/६०) ।
(ख) या शब्दसमूहत्यागपरिग्रहसख्यावृद्ध्यपचयवर्णसमासाऽनुबन्धाना व्यक्तावुपचाराद् व्यक्ति । (न्या० सू०, २/२/६१)।

[5] सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाऽधिपत्येभ्यो
ब्राह्मणमञ्चकटराजसक्तुचन्दनगङ्गाशाकटाऽन्नपुरुषेष्वऽतद्भावेपि तदुपचार । (न्या० सू०, २/२/६३)।

[6] लक्षणा शक्यसम्बन्धस्तात्पर्यानुपपत्तित । लक्षणाशक्यसम्बन्ध इति। गङ्गाया घोष इत्यादौ गङ्गापदस्य शक्यार्थे प्रवाहरूपे घोषस्यान्वयानुपपत्तिस्तात्पर्यानुपपत्तिर्वा यत्र प्रतिसन्धीयते तत्र लक्षणयैव तीरस्य बोध । (न्या० सि० मु०, शब्दप्रमाणनिरूपणम्, पृ० ४८)।

नागेशभट्ट ने नैयायिको के अनुसार लक्षणा का विवेचन करते हुए लिखा है कि स्व से शक्य का सम्बन्ध लक्षणा ह तथा वह गोणी आर शुद्धा रूप से दो प्रकार की होती हे। इसी प्रसङ्ग मे इन्होने तात्स्थ्यादि लक्षणा के पाँच कारणो का भी उल्लेख किया हे।[1]

नेयायिक लक्षणा एव गाणी को भिन्न वृत्ति नही मानते जेसा कि मीमासको ने माना हे।

३.३ लक्षणा सम्बन्धी काव्यशास्त्रीय मत

सस्कृत काव्य-शास्त्र मे शब्द शक्ति के रूप मे लक्षणा की सुस्पष्ट व्याख्या ध्वनि की स्थापना के पश्चात् अर्थात् आनन्दवर्धन के परवर्ती आचार्यो के ही ग्रन्थो मे उपलब्ध होती है, परन्तु इसकी मान्यता का सङ्केत पूर्ववर्ती आचार्यो के मतो मे भी अवश्य देखा जा सकता हे, जिसे हम लक्षणा का काव्यशास्त्रीय जगत् मे प्रारम्भिक रूप कह सकते हे।

आचार्य भामह अलङ्कार सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्य कहे जाते है। इनके ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार' मे विविध अलङ्कारो का निरूपण किया गया है। आचार्य भामह ने अपने ग्रन्थ मे न तो शब्द-शक्ति की पृथक् चर्चा की है न ही लक्षणा का स्वरूप निर्धारित किया है, किन्तु समासोक्ति[2], वक्रोक्ति[3] तथा पर्यायोक्त[4] अलङ्कारो के वर्णन के माध्यम से वाच्य से भिन्न अर्थ की सत्ता मे सङ्केत किया है। इससे स्पष्ट होता है कि भामह व्यञ्जना से अवश्य परिचित थे और व्यञ्जना से परिचित होना ही इस तथ्य को पुष्ट करता है कि भामह को लक्षणा भी अवश्य ज्ञात थी।

काव्यशास्त्रियो मे **दण्डी** ने भी शब्दशक्तिविषयक चर्चा पृथक् रूप से नही की है किन्तु 'काव्यादर्श' मे इन्होने 'समाधि' नामक गुण का वर्णन करते हुए लिखा है कि दूसरे के धर्म का दूसरे मे व्यवहार करना समाधि नामक गुण है।[5] 'काव्यादर्श' के टीकाकार श्री प्रेमचन्द्रतर्कवागीशभट्टाचार्य का स्पष्ट मन्तव्य है कि समाधि गुण मे 'उपचार' रहता है

---

[1] (क) ननु लक्षणा क पदार्थ इति चेत्, अत्र तार्किका-स्वशक्यसम्बन्धो लक्षणा। सा च द्विधा गौणी शुद्धा च। (प० ल० म०, पृ० ४५)।
(ख) तात्स्थ्यात्तथैव ताद्धर्म्यात्तत्सामीप्यात्तथैव च
तत्साहचर्यात्तादर्थ्याज् ज्ञेया वै लक्षणा बुधै। (प० ल० म०, पृ० ४८)।

[2] यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषण
सा समासोक्तिरुद्दिष्टा संक्षिप्तार्थतया यथा॥ (भा० काव्या०, २/७६, पृ० ६०)।

[3] समानवस्तुन्यासेन प्रतिवस्तूपमोच्यते
यथेवानभिधानेऽपि गुणसाम्यप्रतीतित ॥ (भा० काव्या०, २/३४, पृ० ४३)।

[4] पर्यायोक्त यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते । (भा० काव्या०, ३/८, पृ० ७०)।

[5] अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना
सम्यगाधीयते तत्र स समाधि स्मृतो यथा॥ (काव्यादर्श, १/९३, पृ० ६६)।

आर 'उपचार' ही लक्षणा का मूल हे अत स्पष्ट है कि समाधि गुण मे लक्षणा होती हे। प्रेमचन्द्रतर्कवागीश इस स्थल पर साध्यवसान गाणी लक्षणा मानते है।[1]

आचार्य उद्भट ने 'काव्यालङ्कारसारसग्रह' नामक ग्रन्थ तथा भामहविवरण' नाम से भामहकृत 'काव्यालङ्कार' पर टीका लिखी हे। यह टीका वर्तमान समय मे अनुपलब्ध है। अभिनवगुप्त की लोचन टीका से यह सिद्ध होता ह कि यद्यपि उद्भट ने अपने ग्रन्थ मे कही शब्दशक्तियो की चर्चा नही की है तथापि वे अभिधा, लक्षणा आदि से परिचित अवश्य थे।[2] ध्वनि का अन्तर्भाव भक्ति अथवा लक्षणा मे करने की पूर्वपक्षीय सम्भावना को आनन्दवर्धन ने अपने ग्रन्थ मे प्रस्तुत किया हे। इसी खण्ड की व्याख्या मे अभिनवगुप्त ने भामह, वामन इत्यादि को भी उल्लिखित किया हे। भामह ने काव्य के हेतुओ की गणना करते हुए यह लिखा था कि शब्द, छन्द, अभिधान, इतिहासाश्रित कथा, लोकयुक्ति एव कला ये काव्य के हेतु होते हे। भामह की इस कारिका मे कथित शब्द ओर अभिधान की व्याख्या करते हुए उद्भट लिखते है कि अभिधान का अर्थ हे शब्दो का अभिधा व्यापार। वह दो प्रकार का होता हे - मुख्य एव गुणवृत्ति। इससे स्पष्ट है कि उद्भट लक्षणा से भली-भाँति परिचित थे। 'काव्यालङ्कारसारसग्रह' के टीकाकार प्रतीहारेन्दुराज के अनुसार गुणवृत्ति लक्षणा ही है। जब अभिधाव्यापार से विरुद्ध अर्थ का अभिधान करने वाले समानविभक्तियुक्त शब्दो का अभेद अर्थात् समन्वय नही हो पाता तब इनमे से एक को लक्षणा का आश्रय लेना पडता हे अत उसे गुणवृत्ति कहा जाता है।[3]

उद्भट का रूपक अलङ्कार-वर्णन भी लक्षणा की ही उपादेयता सिद्ध करता है। इनके अनुसार जहाँ अभिधाशक्ति से प्राप्त अर्थो का सम्बन्ध उपपन्न न हो सकने के कारण गुणवृत्ति पद का प्रधानपद से योग हो वहाँ रूपक अलङ्कार होता है। गुणवृत्ति पद का अभिप्राय यहाँ गुणबोधक पद से है।[4] अभिधा से प्राप्त दो भिन्न अर्थो का

---

[1] यत्र वाक्यार्थे सम्यगाधीयते गौणशब्दप्रयोगेण साध्यवसानगौण्या लक्षणया उपचर्यते स वाक्यार्थ समाधि---- । उपचारश्चात्राहार्य्याभेदप्रतीतिरूप स च लक्षणाया प्रयोजनभूत ---- लक्षणा चात्र साध्यवसानरूपा सा च विषयस्यानुपादान एव सम्भवति तेन च विषयोपादाने सारोपगौण्या न समाधे सम्भव । (काव्यादर्श, सटीक, पृ० ८४) प्रेमचन्द्रतर्कवागीश भट्टाचार्य।

[2] भामहेनोक्तम् - 'शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्था ' इति। अभिधानस्य शब्दादभेद व्याख्यातु भट्टोद्भटोबभाषे - शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च इति। वामनोऽपि सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति ' इति । (ध्व० लो०, प्र० उ०, पृ० ५२)।

[3] विरुद्धार्थाभिधायिनो समानाधिकरणयो शब्दयोनिरन्तरार्थनिष्ठेन अभिधाव्यापारेण अनुपपद्यमानोन्यान्यसमन्वयत्वाद्यद्येकस्य लक्षणया गुणवृत्तित्वमधीयते। (काव्या० ल० वृ०, पृ० २७०)।

[4] श्रुत्या सम्बन्धविरहाद्यत्पदेन पदान्तरम्
गुणवृत्ति प्रधानेन युज्यते रूपक तु तत् । (काव्या० सा० स०, पृ० ७)।

अभेद सम्बन्ध सम्भव नही हो सकता जबकि रूपक दो पदार्थो के अभेद सम्बन्ध को ही कहते हे। ऐसी दशा मे अभिधा से अनुपपन्न अभेद सम्बन्ध के लिए लक्षणा का आश्रय लेना ही पडेगा।

आलङ्कारिको मे **आचार्य वामन** ने अपने ग्रन्थ के प्रथम सूत्र की व्याख्या के सन्दर्भ मे 'भक्ति' शब्द का प्रयोग किया हे जो कि लक्षणा अथवा 'उपचार' के लिए ही प्रयुक्त हे।[१] वामन यह स्वीकार करते हे कि लक्षणा की प्रवृत्ति अनेक निमित्तो से होती इनमे सादृश्य निमित्त के कारण होने वाली लक्षणा के स्थल मे वक्रोक्ति अलङ्कार होता ह।[२] वामन ने सादृश्यमूलक तथा सामीप्यमूलक लक्षणा की सोदाहरण व्याख्या भी की है। इससे स्पष्ट है कि वामन लक्षणा मे विभिन्न प्रयोजक हेतुओ को मानते थे।[३]

आचार्य आनन्दवर्धन के ग्रन्थ का मुख्य प्रतिपाद्य ध्वनि ही है, किन्तु प्रसङ्गवश उसमे इन्होने अभिधा, लक्षणा की भी चर्चा की हे। ध्वन्यालोक के प्रारम्भ मे ही यह स्पष्ट हो जाता हे कि आनन्दवर्धन के पूर्व भी लक्षणा सुस्थापित हो चुकी थी।[४]

आनन्दवर्धन ने शाब्द व्यवहार के तीन प्रकार माने है - वाचकत्व, गुणवृत्ति तथा व्यञ्जकत्व।[५] इनके अनुसार मुख्यावृत्ति अर्थात् अभिधा केवल मुख्यार्थ का ही बोध करा सकती है। उसके अनुपपन्न होने पर जिस द्वितीय वृत्ति का आश्रय लिया जाता है वही गुणवृत्ति है[६] जो कि अभिधा के आश्रित ही रहती हे।[७] लक्षणा के लिए इन्होने कही 'भक्ति'[८] तो कही 'गुणवृत्ति' शब्द का प्रयोग किया हे। इनमे भी 'गुणवृत्ति' ही बहुलता से प्रयुक्त हुआ है।

आनन्दवर्धन ने 'भक्ति' की परिभाषा दी है - 'उपचारमात्र तु भक्ति'।[९] लोचनकार ने इसे ओर अधिक स्पष्ट किया है कि 'उपचार' गुणवृत्ति अर्थात् लक्षणा को कहते है।[१] स्पष्ट है कि 'गुणवृत्ति' और 'भक्ति' लक्षणा ही है।

---

[१] काव्यशब्दोऽय गुणाऽलङ्कारसस्कृतयो शब्दार्थयोर्वर्तते। भक्त्या तु शब्दार्थमात्रवचनोऽत्र गृह्यते। (काव्या० सू०, १ / १ / १ की वृत्ति, पृ० ४) ।

[२] बहूनि हि निबन्धनानि लक्षाणायाम्। तत्र सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिरिति। (काव्या० सू०, ४ / ३, पृ० १७२) ।

[३] 'उन्मिमील कमल सरसीना कैरव च निमिमील मुहूर्तात्।' अत्र नेत्रधर्मावुन्मीलननिमीलने सादृश्याद्विकाससङ्कोचौ लक्ष्यत ।
असादृश्यनिबन्धना तु लक्षणा न वक्रोक्ति यथा -
'जरठकमलकन्दच्छेदगौरैर्मयूखै'
अत्रच्छेद सामीप्याद् द्रव्य लक्षयति, तस्यैव गौरत्वोपपत्ते ॥ (काव्या० सू०, ४/३, पृ० १७२ - १७३)।

[४] भाक्तमाहुस्तमन्ये। अन्ये त ध्वनिसज्ञित काव्यात्मान गुणवृत्तिरित्याहु। (ध्व०, प्र० उ०, पृ० ४५)।

[५] तदेव शाब्दे व्यवहारे त्रय प्रकारा वाचकत्व गुणवृत्तिर्व्यञ्जकत्व च। (ध्व०, तृ० उ०, पृ० ३२४)।

[६] मुख्या वृत्ति परित्यज्य गुणवृत्त्यार्थदर्शनम् । (ध्व०, प्र० उ०, पृ० २७६)।

[७] वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिर्व्यवस्थिता। (ध्व०, प्र० उ०, पृ० २८१)।

[८] भक्त्या बिभर्ति नैकत्व रूपभेदादय ध्वनि । (ध्व०, प्र० उ०, पृ० २६२)।

[९] ध्व०, प्र० उ०, पृ० २६२ ।

आचार्य मुकुलभट्ट एव मम्मट ने लक्षणा के जिन तीन हेतुओ को स्वीकारा है उसका कथन 'ध्वन्यालोक' मे भी किया गया है। यद्यपि उनकी उस प्रकार से स्पष्ट व्याख्या नही की गइ है जसे मुकुलभट्ट, मम्मट इत्यादि ने की है।

लक्षणा के तीन हेतु है मुख्यार्थबाध, सम्बन्ध तथा प्रयोजन अथवा रूढि मे से किसी एक का होना। 'ध्वन्यालोक' की एक कारिका मे मुख्यार्थबाध तथा प्रयोजन रूप हेतु का उल्लेख है -

मुख्या वृत्ति परित्यज्य गुणवृत्त्यार्थदर्शनम्
यदुद्दिश्य फल तत्र शब्दो नैव स्खलद्गति ।। ध्व०, १/१७ ।

इसके अतिरिक्त 'रूढि' से होने वाली लक्षणा की भी चर्चा की गई है।[2]

आचार्य अभिनवगुप्त ने तो 'भक्ति' का अर्थ तीन प्रकार से करते हुए तीनो हेतुओ को स्पष्ट कर दिया है।[3] अन्तत इन हेतुओ को 'उपचार' का बीज कहा है।[4]

३ ४ मुकुलभट्ट के अनुसार लक्षणावृत्ति विवेचन

मुकुलभट्ट के अनुसार मुख्य अर्थ के पश्चात् बोधित होने वाले सभी अर्थ लाक्षणिक है। उसका बोध लाक्षणिक व्यापार से होता है, जो कि अभिधा का ही भेद है। लक्ष्यार्थ का ज्ञान मुख्यार्थ की पर्यालोचना से ही होता है। इसकी परिभाषा इन्होने दी है-

अर्थावसेयस्य पुनर्लक्ष्यमाणत्वमुच्यते।[5]

'गौरनुबन्ध्य' उदाहरण मे व्यक्ति रूप अर्थ जाति रूप मुख्यार्थ के आश्रय से आक्षिप्त होने के कारण लाक्षणिक अर्थ है।[6] मुख्य अर्थ के व्यवधान से युक्त होने के कारण ही इस अर्थ को 'सान्तरार्थनिष्ठ' भी कहा जाता है।

---

[1] उपचारो गुणवृत्तिर्लक्षणा। उपचरणमतिशयितो व्यवहार इत्यर्थ । (ध्व०, प्र० उ०, पृ० २६३)।

[2] रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दा स्वविषयादपि
लावण्याद्या प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पद ध्वने। (ध्व०, १/१६, पृ० २७१)।

[3] (क) मुख्यस्य चार्थस्य भङ्गो भक्ति । (ध्व० लो०, प्र० उ०, पृ० ४६)।
(ख) भज्यते सेव्यते पदार्थेन प्रसिद्धतयोत्प्रेक्ष्यते इति भक्तिधर्मोऽभिधेयेन सामीप्यादि (ध्व० लो०, प्र० उ०, पृ० ४८)।
(ग) गुणसमुदायवृत्ते शब्दस्यार्थभागस्तैक्ष्ण्यादिर्भक्ति। (ध्व० लो०, प्र० उ०, पृ० ४६)।

[4] एव मुख्यार्थबाधानिमित्तप्रयोजनमितित्रयसद्भाव उपचारबीजमित्युक्त भवति। (ध्व० लो०, प्र० उ०, पृ० ४६)।

[5] अ० वृ० मा०, पृ० २ ।

[6] जातिस्तु व्यक्तिमन्तरेण यागसाधनभाव न प्रतिपद्यते इति शब्दप्रत्यायितजातिसामर्थ्यादत्र जातेराश्रयभूता व्यक्तिराक्षिप्यते। तेनासौ लाक्षणिकी। (अ० वृ० मा०, पृ० २ - ३)

मुकुलभट्ट ने 'गौरनुबन्ध्य' मे 'व्यक्ति रूप' अर्थ को लाक्षणिक कहा है। यहाँ इनका विचार पूर्णरूपेण मीमासको के अनुरूप हो गया हे। अन्तर इतना हे कि मीमासक केवल 'जाति' को ही शब्द का प्रथम अर्थ मानते ह ओर मुकुलभट्ट ने जाति, गुणादि चार प्रकार के मुख्यार्थ माने ह।

जाति से व्यक्ति के ज्ञान के विषय मे मीमासको मे भी परस्पर भिन्न-भिन्न मत पाए जाते है। भाट्ट मीमासक व्यक्ति का ज्ञान आक्षेप से मानते है। 'शक्तिवाद' नामक ग्रन्थ मे आक्षेप का अर्थ 'अनुमान' अथवा 'अर्थापत्ति' दिया गया है।[1] कुमारिलभट्ट ने 'तन्त्रवार्तिक' मे स्पष्ट रूप से व्यक्तिरूप अर्थ को लक्ष्यार्थ कहा है।[2] श्रीकर ने जाति से व्यक्ति का बोध उपादान से माना है।[3] मण्डनमिश्र के अनुसार 'लक्षणा' से 'व्यक्ति' रूप अर्थ की प्रतीति होती हे। 'गोरस्ति' 'गौर्नास्ति' इत्यादि प्रयोगो मे वक्ता का अभिप्राय व्यक्ति के अस्तित्व, नास्तित्व से ह। जाति तो नित्य हे।[4]

मीमासको मे प्रभाकरमिश्र का मत सबसे भिन्न है। इनकी मान्यता है कि जाति से व्यक्ति का स्मरण होने से व्यक्ति का बोध हो जाता है । पद के श्रवणान्तर ही जाति तथा व्यक्ति के सम्बन्धज्ञान का स्मरण हो जाता हे।[5]

मीमासको के उपर्युक्त मतो मे मुकुलभट्ट का मत कुमारिलभट्ट एव मण्डनमिश्र के मत से ही साम्य रखता है।

३. ४ १ *लक्ष्यार्थ की सापेक्षता -*

किसी भी शब्द से अर्थ की प्रतीति तभी सम्भव है जबकि उसका अर्थ के साथ निश्चित सम्बन्ध गृहीत हो। शब्द का जो मुख्य अर्थ होता है उसके साथ शब्द का निश्चित सम्बन्ध होता है।[6] सम्बन्ध का तात्पर्य यहाँ सङ्केत से है। सङ्केत गृहीत होने से ही 'गङ्गाया घोष' मे 'गङ्गा' शब्द के मुख्यार्थ 'प्रवाह' का बोध होता है। सम्बन्ध निर्धारण की प्रक्रिया मे सर्वप्रथम वक्ता द्वारा उच्चरित अखण्डवाक्य तथा वाक्यार्थ के मध्य कार्यकारणभाव का निश्चय होता है।

---

[1] अथ भाट्टा - पदान्न व्यक्ते स्मरणमनुभवो वा किन्त्वाक्षेपादेव व्यक्तिधी, आक्षेपिका च जातिरेव।
आक्षेपश्चानुमानमर्थापत्तिर्वा। (शक्तिवाद, पृ० २०७)।

[2] तत्र यथैवाऽऽकृतिवचन शब्दस्तत्सहचरिता व्यक्ति लक्षयति। (मी० द० (२), १/४/२२ पर त० वा०, पृ० ३१४)।

[3] "- - - जातिवाचकपदाज्जातिबोध शाब्दो व्यक्तिबोधस्त्वौपादानिक एवेति श्रीकरमतम्- - -"। (शक्तिवाद, पृ० २११)।

[4] जातेरस्तित्वनास्तित्वे न हि कश्चिद् विवक्षति।
नित्यत्वाल्लक्षणीयाया व्यक्तेस्ते हि विशेषणे।। (मण्डनमिश्र)।

[5] प्रभाकरास्तु जातिज्ञानादेव जातिप्रकारेण व्यक्ते स्मरण शाब्दबोधश्च न तु निर्विकल्पकरूप जातिस्मरण
निर्विकल्पकानभ्युपगमात्। (शक्तिवाद, पृ० २१६)।

[6] मुख्यार्थे शब्दस्य सम्बन्धावधारणात् प्रतिपादकत्वमुपपद्यते। (अ० वृ० मा०, पृ० २४)।

तदनन्तर शनै शनै एक से अधिक बार उच्चारण से अन्वय व्यतिरेक के आधार पर पृथक्-पृथक् शब्दो के अर्थ का ज्ञान होता है। इस प्रकार शब्द एव अर्थ के मध्य कार्यकारणभाव का निधारण होता है।[1]

मुख्य अर्थ का तो शब्द से सम्बन्ध होता है किन्तु लाक्षणिक अर्थ का उससे इस प्रकार का साक्षात सम्बन्ध नही होता। लाक्षणिक अर्थ का भी शब्द से सीधा सम्बन्ध होने की दशा मे वह भी 'मुख्यार्थ' ही कहा जाता लाक्षणिक नही।[2] इस स्थिति मे यह समस्या उपस्थित होती हे कि लक्ष्यमाण अर्थ की प्रतीति केसे होगी? इस समस्या का समाधान मुकुलभट्ट ने इस प्रकार प्रस्तुत किया ह -

शब्द के मुख्य अर्थ के साथ लाक्षणिक अर्थ का सम्बन्ध होता हे जिसके माध्यम से शब्द द्वारा ही उसकी प्रतीति हो जाती हैं। किन्तु यह प्रतीति निरपेक्ष रूप से नही होती क्योकि ऐसा होने पर सदा ही लक्ष्यमाण अथ की प्रतीति होती । यद्यपि लक्ष्य अर्थ का ज्ञान भी अभिधा शक्ति से ही होता हे किन्तु मुख्य अर्थ की भॉति शब्द स्वतन्त्र रूप से लक्ष्यार्थ के प्रतिपादक नही होते अपितु इनके प्रतिपादन मे इन्हे कतिपय कारण सामग्रियो की अपेक्षा होती है।[3] ये कारण तीन हे - वक्ता, वाक्य तथा वाच्य । इन तीनो के समस्त तथा व्यस्त रूप से दो-दो भेद होते है।[4] समस्त का अर्थ है किसी एक का अन्य दोनो के साथ रहना तथा व्यस्त का तात्पर्य है इनका एकाकी रहना। इन्ही अर्थो की सहायता से लक्ष्यार्थ का बोध होता है।[5]

इससे यह स्पष्ट हो गया कि वक्ता आदि की अपेक्षा से तथा मुख्यार्थ-ज्ञान के पश्चात् लक्ष्यमाण अर्थ का ज्ञान होता है। इसी सन्दर्भ मे मुकुलभट्ट ने शबरस्वामी का मत उद्धृत किया है। शबरस्वामी के अनुसार भी अन्य शब्द का अन्य अर्थ मे प्रयोग अपने मुख्य अर्थ के अभिधान के माध्यम से ही होता है। इसके अतिरिक्त इन्होने लक्षणा को

---

[1] सम्बन्धावधारणसमये व्यवहर्तृगतयोस्तावत् शब्दप्रयोगार्थप्रतिपत्त्योरविभक्तोद्देशवाक्यवाक्यार्थनिष्ठतया पूर्वं हेतुफलभावावसायो भवति। तदनन्तर च त्रिचतुरादिदर्शनेभ्योऽन्वयव्यतिरेकाभ्या वाक्यवाक्यार्थोद्देशप्रविभागगते ये शब्दप्रयोगार्थप्रतिपत्ती तन्निष्ठकार्यकारणभावावधारणम्। तदुत्तरकाल च व्यवहर्तृगतार्थप्रतिपत्त्यन्यथानुपपत्त्या शब्दार्थसम्बन्धावगति । (अ० वृ० मा०, पृ० २४)।

[2] न हि लाक्षणिकेनार्थेन सह शब्दस्य सम्बन्ध । मुख्येनैवार्थेन परिदृश्यते। तथाभावे हि सति तस्य मुख्यत्वमेव स्यान्न लाक्षणिकत्वम् (अ० वृ० मा०, पृ० २४)।

[3] अथ शब्दस्य मुख्यो योऽसावर्थस्तेन सह सम्बन्धो लक्ष्यमाणस्यार्थस्य दृष्ट इति तद्द्वारेण शब्दात् तस्यावगतिरित्यभिधीयते एव सति यदि निरपेक्ष स्वार्थप्रतिपादनद्वारेण लक्ष्यमाणमर्थमवगमयति तदा सर्वदा तमर्थमवगयेत् अथ सापेक्ष - - - । (अ० वृ० मा०, पृ० २४)।

[4] वक्तुर्वाक्यस्य वाच्यस्य रूपभेदावधारणात्।
लक्षणा षट्प्रकारैषा विवेक्तव्या मनीषिभि ॥ (अ० वृ० मा०, पृ० २४)।

[5] एतेषा त्रयाणा वक्त्रादीना व्यस्तसमस्तभेदभिन्नाना देशकालावस्थावैलक्षण्यगतसमस्तव्यस्तभेदसयोजिताना य स्वभावभेदप्रपञ्च तत एषा षट्प्रकारा लक्षणा परामर्शकुशलैर्विवेचनीया। (अ० वृ० मा०, पृ० २४ - २५)।

'लोकिकी' भी कहा है। 'लोक मे विदित होना' ही 'लौकिकी' का अर्थ हे। इसका तात्पर्य हे कि शब्द से अर्थ का ग्रहण व्यवहाग्वेद्य ही होता ह।[1]

वक्ता, वाक्य एव वाच्य रूप तीन प्रकार के सम्बन्धो मे **वक्ता का अर्थ** हे वह व्यक्ति जो अन्य व्यक्ति के बोधन हेतु वाक्य का उच्चारण करता हे।[2] वक्ता के आधार पर होने वाले लाक्षणिक अर्थ के लिए मुकुलभट्ट ने उदाहरण दिया है-

दृष्टि हे प्रतिवेशिनि क्षणमिहाप्यस्मद्गृहे दास्यसि
प्रायो नैष शिशो पिताऽस्यविरसा कौपीरप पास्यति।
एकाकिन्यपि यामि तद् वरमित स्रोतस्तमालाकुल
नीरन्ध्रा वपुरालिखन्तु जरठच्छेदा नलग्रन्थय ।[3]

यह कथन एक व्यभिचारिणी स्त्री का हे जो परपुरुषगमनार्थ सङ्केतस्थल पर जा रही हे तथा भावी सभोग चिह्नो को नलगाँठो की सम्भावना से छिपा रही है। यहाँ वक्त्री के कथन मे अपह्नव हे। उसका कथन अलीक अर्थात् असत्य है। यह असत्य उक्ति ही मुख्यार्थ है, किन्तु इसकी असत्यता का भान श्रोता को तभी होता है जब उसे यह ज्ञात रहता है कि वक्त्री स्त्री व्यभिचारिणी है और इस असत्य रूप मुख्यार्थ की सिद्धि के लिए भावी रतगोपन रूप सत्य अर्थ का आक्षेप कर लिया जाता है। यही लक्ष्यार्थ हे। यहाँ लक्ष्ययार्थ का बोध 'वक्ता' की सापेक्षता से हुआ है। यहाँ उपादान लक्षणा है। इस लक्ष्यार्थ बोधन मे 'वाक्य' तथा 'वाच्य' का सामर्थ्य नही है क्योंकि यदि यह किसी साध्वी का

---

[1] यदुक्तमाचार्यशबरस्वामिना कथ पुन परशब्द परत्र वर्त्तते। स्वार्थाभिधानेनेति ब्रूम इति अत्र हि स्वार्थद्वारेण लक्ष्माणार्थाभिनिवेशिता शब्दानामुक्ता। पुनश्चासावेवाह 'लक्षणापि हि लौकिक्येवे' ति। अत्र हि सम्बन्धावधारणसापेक्षाणा शब्दाना लक्ष्यमाणेऽर्थे प्रवृत्तिरुक्ता। व्यवहारोपारूढानि हि प्रत्याक्षादीनि प्रमाणानि लोकशब्देनाभिधीयन्ते। लोक एव विदिता लौकिकी व्यवहारावगम्या परिगृहीतसबन्धशब्दनिष्ठेत्यर्थ । (अ० वृ० मा०, पृ० २५)।

[2] य परप्रतिपत्तये वाक्यमुच्चारयति स वक्ता। (अ० वृ० मा०, पृ० २४)।

[3] अ० वृ० मा०, पृ० ३१ ।

वक्तृत्व होता तब इस प्रकार के अर्थ के आक्षेप की आवश्यकता ही न होती अर्थात् यहाँ लक्षणा का प्रसङ्ग ही नही होता।[1]

'वाक्य' की सापेक्षता से लक्ष्यार्थ-ज्ञान मे 'वाक्य' कहते हे साकाङ्क्ष पदो के एकार्थक प्रयोग को।[2] वाक्यगत विशिष्टता के आधार पर प्रतीत होने वाले लाक्षणिक अर्थ के लिए मुकुलभट्ट ने जो पद्य उद्धृत किया हे वह एक चाटु उक्ति है। इसमे किसी राजा की स्तुति की गई हे -

प्राप्तश्रीरेष कस्मात् पुनरपि मयि त मन्थखेद विदध्या-

न्निद्रामप्यस्य पूर्वामनलसमनसो नैव सम्भावयामि।

सेतु बध्नाति भूय किमिति च सकलद्वीपनाथानुयात-

स्त्वय्यायाते वितर्कानिति दधत इवाभाति कम्प पयोधे ॥[3]

इस पद्य मे जिस राजा की स्तुति है उसकी विशाल सेना से असामान्य स्थिति वाले समुद्र का कम्पन अतिशयोक्ति द्वारा वर्णित किया गया हे। उस कम्पन का कारण है वितर्क, जिसमे 'उत्प्रेक्षा' की गई है ।[4]

चेतनव्यक्तियो मे वितर्क करते समय सशय के कारण सिर हिलाने की जो क्रिया होती है उसकी समानता के आधार पर समुद्र के कम्पन मे वितर्क की सम्भावना की गई है। कम्पन युक्त वस्तु के सादृश्य के कारण समुद्र मे कम्पन का जो अध्यवसान है वह गौण उपचार है।[5]

---

[1] अत्र हि परपुरुषसभोगानुभवेच्छया सङ्केतस्थान युवतिर्व्रजन्ती स्वप्रवृत्तिप्रयोजन विशिष्टसङ्केतस्थानाधार परपुरुषसभोगात्मक तथा सभोगचिह्नानि नखदशनक्षतानि गात्रसलग्नतया शङ्क्यमानाविर्भावाणि यथाक्रम भर्तृपिपासानिवृत्तिक्षमनादेयसरसपानीयानयनेन चिरच्छिन्ननलग्रन्थिपरुषजर्जरप्रान्तजनयिष्यमाणेन च गात्रगतविकारविशेषोद्गमेनापह्नुत्याभिधत्ते। सा चात्रापह्नुतिरसाध्व्या वक्तृत्व पर्यालोच्यावगम्यते। अपह्नवस्य चालीकवस्त्वभिधानात्मकत्वादलीकस्य च सत्यार्थविपर्यासकारित्वादलीकेनार्थेन त्वसत्योक्त स्वसिद्ध्यर्थवेनाक्षिप्यते। तेनात्र वक्तृविशेषपर्यालोचनया सत्यार्थे निष्ठाया उपादानात्मिकाया लक्षणाया प्रतिपत्ति । न ह्यत्र वाक्यवाच्ययो सामर्थ्यम्। साध्व्या वक्तृत्वे सति तयोरेवंविधार्थाक्षेपासमर्थत्वात्। (अ० वृ० मा०, पृ० ३१-३२)।

[2] साकाङ्क्षाणा पदानामेकार्थ समूहो वाक्यम्। (अ० वृ० मा०, पृ० २४)।

[3] अ० वृ० मा०, पृ० ३३ ।

[4] अत्र हि चाटुश्लोकेनोपश्लोक्यते यो नृपतिस्तदीयबलभरक्षोभ्यमाणस्वावस्थस्य समुद्रस्य य कम्प अतिशयोक्त्योपवर्णित तस्य समुद्रकर्तृकवितर्कधारणहेतुकत्वमत्रोत्प्रेक्षितम् इति वितर्कान् दधत इवे' ति। (अ० वृ० मा०, पृ० ३३)।

[5] अतोऽत्र यदेतद् बलभराक्रान्तत्वेन समुद्रस्याकम्पमानस्यापि कम्पमानार्थसादृश्यात् कम्पमानत्वमध्यवसित तत्राध्यवसानगर्भगौणोपचार । (अ० वृ० मा०, पृ० ३३)।

चेतन एव अचेतनगत भिन्न-भिन्न कम्पनो मे अभिन्नता होने के कारण इस स्थल पर भेद मे अभेदरूपा अतिशयोक्ति है। इसी अतिशयोक्ति को अन्तर्निहित करके यहाँ उत्प्रेक्षा हुई है।[१] उत्प्रेक्षा अतिशयोक्ति से गर्भित रहती है इसके समर्थन मे मुकुलभट्ट ने उद्भट का उत्प्रेक्षा-लक्षण भी प्रस्तुत किया है।[२]

इस उदाहरण मे राजा पर भगवान् विष्णु के स्वरूप का अध्यवसान किया गया ह, यही लक्ष्यार्थ हे। यहाँ लक्षणा उपादानात्मिका हे। वाक्य के रूप की पर्यालोचना से ही यहाँ लक्ष्यार्थ की प्रतीति हो रही है। अत लक्षणा वाक्यनिबन्धना है।[३]

'वाच्य' के सामर्थ्य से भी कही-कही लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती हे। मुख्य अथवा लाक्षणिक व्यापार के द्वारा शब्द से जो अर्थ प्रकट होता है उसे ही मुकुलभट्ट ने 'वाच्य' कहा है।[४] इसका उदाहरण है -

> दुर्वारा मदनेषवो दिशि दिशि व्याजृम्भते माधवो-
>
> हृद्युन्मादकरा शशाङ्करुचयश्चेतोहरा कोकिला।
>
> उत्तुङ्गस्तनभारदुर्धरमिद प्रत्यग्रमन्यद् वय
>
> सोढव्या सखि साम्प्रत कथममी पञ्चाग्नयो दु सहा ॥[५]

इस पद्य मे कामदेव के बाण, वसन्त तथा चन्द्रकिरणो इत्यादि पर अग्नित्व का आरोप किया गया है। इनकी असह्यता ही वाच्यार्थ है। इसी वाच्यार्थ की पर्यालोचना से विप्रलम्भ शृङ्गार का आक्षेप किया गया है। यहाँ विप्रलम्भ शृङ्गार लक्ष्यार्थ है। उसकी प्रतीति उपादान लक्षणा से हो रही है। इस प्रकार इस उदाहरण मे वाच्यमूला लक्षणा है।[६]

---

[१] विकल्पवशाद् यश्चेतनाना मूर्धकम्पो बाहुल्येन परिदृश्यते चेतनगतसशयहेतुकमूर्धकम्पसादृश्यात् तद्भावोऽस्य कम्पस्योपचर्यते ---। इयमपि च विभिन्नयोरपि कम्पयोरभेदेनाध्यवसानात् भेदेप्यभेद इत्येवात्मिकातिशयोक्ति। (अ० वृ० मा०, पृ० ३३-३४)।

[२] तदुक्तमुत्प्रेक्षा लक्षणे -
साम्यरूपविवक्षाया वाच्ये वाच्यात्मभि पदै
अतद्गुणक्रियायोगदुत्प्रेक्षातिशयान्विता॥ (अ० वृ० मा०, पृ० ३४)।
उत्प्रेक्षा का यह लक्षण पाठ-भेद के साथ उद्भट के ग्रन्थ मे मिलता है।

[३] प्राप्तश्रीरित्यादिषु तु त्रिषु वितर्केषु भगवद्वासुदेवविषयेषु यथायोग तत्तत्कार्यनिराकरणहेतुगर्भतया प्रवर्त्तमानेषु नृपतेर्भगवद्वासुदेवताऽऽक्षिप्ता। तेनात्रोपादानात्मिका लक्षणा। भगवद्वासुदेवरूपतया चात्र नृपतेरध्यवसानादध्यवसानगर्भो गौण उपचार। एतच्चात्र सर्ववाक्योपात्तपदसमन्वयान्यथानुपपत्त्यावगम्यत इति वाक्यनिबन्धनात्र लक्षणा। (अ० वृ० मा०, पृ० ३४)।

[४] शब्देन मुख्य लाक्षणिक वाभिधाव्यापारमाश्रित्य यद् गोचरीक्रियते तद् वाच्यम्। (अ० वृ० मा०, पृ० २४)।

[५] अ० वृ० मा०, पृ० ३७।

[६] अत्र हि स्मरशरप्रभृतीना पञ्चानामध्यारोपितवह्निभावानामसह्यत्व वाक्यार्थीभूतम् अतस्तस्य वाच्यता। तात्पर्यालोचनसामर्थ्याच्च विप्रलम्भशृङ्गारस्याक्षेप इत्युपादानात्मिका लक्षणा वाच्यनिबन्धना। (अ० वृ० मा०, पृ० ३७)।

यहाँ शब्दो की उपेक्षा करके वक्ता के स्वभाव का परिशीलन नही किया गया है अत लक्षणा वक्ता की सापेक्षता से नही है। न ही इस स्थल पर वाक्य मे पदो का अन्वय विप्रलम्भ शृङ्गार के आक्षेप के अनन्तर होता है। अत वाक्यमूला लक्षणा भी नही है। केवल वाच्यार्थ के स्वरूप ज्ञान के अनन्तर ही लक्षणा हो रही है। विप्रलम्भ शृङ्गार यद्यपि यहाँ आक्षेपलभ्य है तथापि प्रधानता वाच्य की अपेक्षा उसकी ही है क्योकि उसमे सहृदयहृदयाह्लादकता है।[१]

इस प्रकार वक्ता, वाक्य एव वाच्य के आधार पर होने वाली लक्षणा मे एक का अन्य दो के साथ सयोजन होने पर तीन और स्थितियाँ हो सकती है तथा तीनो को एक साथ सयोजित करने पर एक अन्य भेद बना जाता है।[२]

३. ४. २ *लक्षणा के हेतु* -

मुख्यार्थ के पश्चात् लक्ष्यार्थ की प्रतीति हेतु होने वाली प्रवृत्ति के लिए मुकुलभट्ट ने तीन कारण माने है - मुख्यार्थ का असम्भ होना, मुख्यार्थ से लक्ष्यार्थ की आसत्ति तथा रूढि अथवा प्रयोजन।[३]

इनमे मुख्यार्थ के असम्भव होने का तात्पर्य है अन्य प्रमाणो से मुख्यार्थ के बाधित होने के कारण उसका अपनाया जाना सम्भव न होना।[४] दूसरा कारण है लक्ष्यार्थ का मुख्यार्थ के साथ किसी न किसी सम्बन्ध से सम्बन्धित होना। सम्बन्धो को आचार्य भर्तृमित्र ने पाँच प्रकार का माना है - अभिधेय से सम्बन्ध, सादृश्य सम्बन्ध, समवाय सम्बन्ध, वैपरीत्य तथा क्रियायोग सम्बन्ध।[५]

सम्बन्ध रूप सम्बन्ध के उदाहरण मे मुकुलभट्ट ने 'गङ्गाया घोष' उदाहरण प्रस्तुत किया है तथा इसे समीपसमीपिभावात्मक माना है। यहाँ 'गङ्गा' शब्द का मुख्यार्थ जलप्रवाह बाधित है अत वह लक्षणा द्वारा जलप्रवाह से सामीप्य सम्बन्ध से सम्बद्ध तट रूप अर्थ का बोध कराता है। यहाँ लक्षणा का प्रयोजन है एकमात्र गङ्गा रूप अर्थ मे

---

[१] नह्यत्र वक्तृस्वभावपरिशीलनस्य शब्दरहितस्योपयोग नापि च वाक्ये पदाना विप्रलम्भशृङ्गाराक्षेपमन्तरेणान्वयोपपत्ति। वाच्यस्वरूपविचारेण तत्र विप्रलम्भशृङ्गाराक्षेपादुपादानात्मिका लक्षणा वाच्यनिबन्धना। विप्रलम्भशृङ्गारस्य चाक्षिप्यमाणस्यापि वाच्यापेक्षया प्राधान्यम्, सहृदयहृदयाह्लादहेतुतया प्राधान्येनाक्षेपात् । (अ० वृ० मा०, पृ० ३७ - ३८)।

[२] एव वक्तृवाक्यवाच्यानामेकैकसमाश्रयेण ये त्रयो भेदा भवन्ति ते तावदुदाहृता। अन्येऽपि च ये वक्तार वाक्यवाच्ययोरन्यतरेणसयुज्य तथा वाक्य वाच्येन सह समुच्चित्य द्विकभेदास्त्रय तथा तत्त्रिकभेदाश्च वक्तृवाक्यवाच्याना त्रयाणामपि परस्परसयोजनया चैक इत्येव चत्वारो भेदा दृश्यन्ते ते स्वबुद्ध्या षट्प्रकारलक्षणाविषयत्वेन मनीषिभिरुदाहार्या। (अ० वृ० मा०, पृ० ४०-४१)।

[३] मुख्यार्थासम्भवात् सेय मुख्यार्थासत्तिहेतुका
रूढे प्रयोजनाद् वापि व्यवहारे विलोक्यते॥ (अ० वृ० मा०, पृ० ५०)।

[४] मुख्यास्यार्थस्य प्रमाणान्तरबाधितत्वेनासम्भवात् । (अ० वृ० मा०, पृ० ५०)।

रहने वाले तथा 'तट' शब्द से अविदित पुण्यत्व आर मनोहारित्व रूप धर्मविशेष का प्रतिपादन करना जिसकी प्रतीति 'तट' शब्द से कदापि नही हो सकती थी। 'तट' शब्द का प्रयोग करने पर 'अव्याप्ति' आर अतिव्याप्ति दोष हो जाएँगे।[2] इसका तात्पर्य यही है कि 'गङ्गाया घोष' की अपेक्षा 'गङ्गातटे घोष' प्रयोग करने पर तट मे पुण्यत्वादि का ज्ञान न होने से अव्याप्ति हो जाएगी। यदि इन धर्मो को किसी भी प्रकार से तट मे विद्यमान मान भी लिया जाये तब तटेतर पटादि मे भी उन्हे मानना पडेगा इस प्रकार से 'अतिव्याप्ति' दोष हो जाएगा।

सादृश्य सम्बन्ध से होने वाली लक्षणा का उदाहरण हे -

भमर भ्रमता दिगन्तराणि क्वचिदासादितमीक्षित श्रुत वा।

वद सत्यमपास्य पक्षपात यदि जातीकुसुमानुकारि पुष्पम्॥[3]

इस उदाहरण मे भ्रमर जैसे प्राणी के लिए सम्बोधन सम्भव न होने से 'भ्रमर' शब्द का मुख्यार्थ बाधित है। इसी प्रकार पुष्प का भी मुख्यार्थ बाधित है। ये दोनो ही शब्द अपने वाच्यार्थ से सादृश्य सम्बन्ध रखने वाले वाच्यार्थ के गुणो के समान गुणो से युक्त होने के आधार पर लक्षणा द्वारा क्रमश कामी पुरुष एव नायिका का बोध कराते हे।[4]

समवाय सम्बन्ध से होने वाली लक्षणा का उदाहरण है 'छत्रिणो यान्ति'। यहाँ एक छत्रधारी व्यक्ति के लिए बहुवचन का प्रयोग होने से मुख्यार्थ बाधित है अत छत्रधारी पुरुष के साथ गमन करने वाले अन्य व्यक्तियो के समुदाय का साहचर्य होने के कारण छत्ररहित पुरुषो के समूह मे लक्षणा होती है। इस प्रकार के लाक्षणिक प्रयोग का प्रयोजन है छत्ररहित व्यक्तियो मे छत्रधारी स्वामी का अनुयायित्व प्रतिपादन।[5]

---

[1] यच्च तत् मुख्यार्थासन्नत्व तत् पञ्चप्रकारतयाचार्यभर्तृमित्रेण प्रदर्शितम् -
अभिधेयेन सम्बन्धात् सादृश्यात् समवायत।
वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मते-॥ ति। (अ० वृ० मा०, पृ० ५०)।

[2] अत्र हि गङ्गाशब्दाभिधेयस्य स्रोतोविशेषस्य घोषाधिकरणत्वानुपपत्त्या मुख्यशब्दार्थबाधे सति योऽसौ समीपसमीपिभावात्मक सम्बन्ध तदाश्रयेण तट लक्षयति। अत्र च लक्षणाया प्रयोजन तटस्य गङ्गात्वैकार्थसमवेतासविज्ञानपदपुण्यत्वमनोहरत्वादिप्रतिपादनम्। न हि तत् पुण्यत्वमनोहरत्वादि स्वशब्दै स्प्रष्टु शक्यते अव्याप्त्यतिव्याप्तिप्रसङ्गात्। (अ० वृ० मा०, पृ० ५३)।

[3] अ० वृ० मा०, पृ० ५३।

[4] अत्र हि भ्रमरपुष्पशब्दौ सबोधनान्यथानुपपत्त्या बाधितमुख्यार्थावभिधेय-सादृश्यात् तद्गतगुणसदृशगुणप्रयुक्तमर्थान्तर लक्षणयावगमयत। प्रयोजन चात्र भ्रमरत्वपुष्पत्वैकार्थसमवेतक्रियागुणसदृशानामसंविज्ञानपदाना क्रियागुणाना प्रतिपादनम्। (अ० वृ० मा०, पृ० ५४)।

[5] समवायतो लक्षणा यथा - 'छत्रिणो यान्ती'ति। अत्र बहुवचनप्रयोगान्मुख्यशब्दार्थबाध। नह्येकस्मिश्छत्रिणि बहुवचनस्य प्रयोग उपपद्यते अतोऽत्र गमनलक्षणाया क्रियाया छत्रिणा सह योऽसौ छत्रशून्याना समवाय साहचर्य तद्वशात् छत्रिशब्देन छत्रशून्या अपि लक्षणयाऽवगम्यन्ते। प्रयोजन चात्र छत्रशून्याना सर्वात्मना छत्रोपेतस्वाम्यनुयायितया प्रतिपादनम्। (अ० वृ० मा०, पृ० ५४)।

वेपरीत्य लक्षणा का उदाहरण हे - 'भद्रमुख'। किसी अभद्रमुख व्यक्ति के लिए इस पद का प्रयोग होने से मुख्यार्थ बाधित हो जाता है अत 'भद्रमुख' पद अपने अर्थ के विपरीत 'अभद्रमुख' अर्थ का वपरीत्य लक्षणा से बोध कराता है। इस लक्षणा का प्रयोजन हे गुप्त असत्य अर्थ का प्रतिपादन।[1]

क्रियायोग लक्षणा मे 'महति समरे शत्रुघ्नस्त्वम्' इस वाक्य मे जो व्यक्ति शत्रुघ्न (दशरथ-पुत्र) नही हे उसके लिए इस पद का प्रयोग होने से मुख्यार्थ बाधित हो जाता हे। शत्रुहनन रूप क्रिया के आधार पर अशत्रुघ्न हे लिए शत्रुघ्न कथन लक्षणा से हुआ है। इसका प्रयोजन है शत्रुघ्न शब्द के मुख्यार्थ (दशरथ-पुत्र) के साथ राजा की अभिन्नता प्रतिपादन।[2]

लक्षणा के त्रिविध कारणो मे प्रयोजन तृतीय कारण हे। मुकुलभट्ट के अनुसार यह प्रयोजन भी दो प्रकार का होता है। इनमे प्रथम लाक्षणिक अर्थ को अपनाने मे अनादिकाल से चले आ रहे रूढि (प्रसिद्धि) और वृद्ध व्यवहार पर निर्भर रहता है। इस प्रकार प्रथम प्रयोजन रूढि का अनुसरण होता है। जैसे - 'द्विरेफ' शब्द का मुख्य अर्थ है दो रेफ से युक्त, किन्तु लक्षणा से यह 'भ्रमर' अर्थ का बोध कराता है। इस प्रकार का प्रयोग अनादि काल से होता चला आ रहा है जिसके फलस्वरूप 'द्विरेफ' से तत्काल ही 'भ्रमर' का बोध हो जाता है। यही रूढि के अनुसरण पर होने वाली लक्षणा हे। मुकुलभट्ट ने इसे भी एक प्रकार का प्रयोजन मान लिया है।[3]

दूसरा प्रयोजन किसी अन्य वस्तु के अन्तर्निहित ऐसे विशिष्ट रूप का प्रतिपादन करना हैं, जिसका प्रतिपादन अभीष्ट हो।[4] जैसे -

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना

वाता सीकरिण पयोदसुहृदामानन्दकेका कला।

काम सन्तु दृढ कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे

---

[1] वैपरीत्याल्लक्षणा यथा - 'भद्रमुख' इति। अत्र हि भद्रमुख शब्दस्याभद्रमुखे प्रयोगात् स्वार्थबाध अतोऽसौ वाच्यभूतभद्रमुखत्वविपरीतत्वादभद्रमुखत्व विपरीतनिबन्धनया लक्षणया प्रत्याययति। अत्र च लक्षणाप्रयोजन गुप्तासत्यार्थप्रतिपत्ति । गुप्तो ह्यसत्योऽर्थ तत्तदभिप्रायवशेन प्रायेण प्रयोक्तृभि प्रतिपाद्यते। (अ० वृ० मा०, पृ० ५६)।

[2] क्रियायोगाल्लक्षणायाम् उदाहरण यथा- 'महति समरे शत्रुघ्नस्त्वमिति'। अत्र हि अशत्रुघ्ने शत्रुघ्नशब्दप्रयोगान्मुख्यशब्दार्थबाध । शत्रुघ्नशब्दश्चाशत्रुघ्ने शत्रुहननक्रियाकर्तृत्वयोगाल्लक्षणयोक्त । प्रयोजन चात्र शत्रुघ्नशब्दाभिधेये नृपतिरूपताप्रतिपादनम्। (अ० वृ० मा०, पृ० ५६)।

[3] प्रयोजनस्यापि द्वैविध्यम्। किञ्चिद्धि सान्तरार्थपरिग्रहे प्रयोजनम् अनादिवृद्धव्यवहार प्रसिद्ध्यनुसरणात्मकत्वाद् रूढ्यनुवृत्तिस्वभाव यथा द्विरेफादौ । द्विरेफशब्देन हि रेफद्वितययोगितया भ्रमरशब्दलक्षणाद्वारेण रूढ्यनुवृत्तिरेव क्रियते। (अ० वृ० मा०, पृ० ५०)।

[4] अपर तु रूढ्यनुसरणात्मक यत् प्रयोजनमुक्त तद्व्यतिरिक्तवस्त्वन्तरगतस्य संविज्ञानपदस्य रूपविशेषप्रतिपादन नाम यथा पूर्वमुदाहृत 'रामोऽस्मी'ति। (अ० वृ० मा०, पृ० ५०)।

वैदेही तु कथ भविष्यति ह हा हा देवि धीरा भवे'-ति॥[1]

इस उदाहरण मे 'राम' शब्द का सज्ञी रूप मुख्यार्थ स्वय राम के ही वक्ता होने से बाधित हे । फलत राम पद के अर्थ मे विद्यमान राज्यभ्रश, वनवास, सीता का अपहरण पिता की मृत्यु आदि असाधारण दु:खो के सहिष्णु धर्म से युक्त 'राम व्यक्ति' का ज्ञान लक्षणा से होता हे। राम व्यक्तित्व मे विद्यमान इन धर्मो का प्रतिपादन ही लक्षणा का प्रयोजन ह।

इस प्रकार मुकुलभट्ट निरूढा तथा प्रयोजनवती लक्षणाओ को भी स्वीकार करते है । इनके अतिरिक्त कुछ लक्षणाएँ ऐसी भी होती हे जो त्याज्य होती है क्योकि वे अर्थज्ञान की शक्ति से बाहर होती है। इसके लिए इन्होने 'तन्त्रवार्तिक' की कारिका उद्धृत की है तथा प्रसङ्गवश उसकी व्याख्या भी की है -

निरूढा लक्षणा काश्चित् सामर्थ्यादभिधानवत्।

क्रियन्ते साम्प्रत काश्चित् काश्चिन्नैव त्वशक्तित ॥[2]

इसमे निरूढा लक्षणा 'राजा', 'द्विरेफ' आदि है। कुछ लक्षणाएँ ऐसे होती है जो तत्काल की जाती है । इसका तात्पर्य उन लक्षणाओ से है जो वृद्धव्यवहार और वक्ता आदि के आधार पर प्रयोजन-प्रतिपादन हेतु की जाती हे। जैसे- 'स्निग्धश्यामल - - - - - ' इत्यादि उदाहरण मे 'लिप्त' शब्द बाधितमुख्यार्थ है क्योकि कुड्कुम आदि के समान कान्ति लेपन का साधन नही बन सकती। अत लक्षणा द्वारा कान्ति से युक्त वस्तु का बोध होता है। यह प्रतीति 'लिप्त' अर्थ मे विद्यमान 'आच्छादित करने की शक्ति' आदि धर्म के सादृश्य के आधार पर हो रही हे।[3] इसी प्रकार 'सुहृद्' शब्द का मुख्य अर्थ है मित्र, वह बाधित हो रहा है क्योकि मेघ के साथ मैत्री सम्बन्ध सम्भव नही है, वे अचेतन होते है अत सुहृद् मे रहने वाले साम्मुख्य आदि गुणो की समानता के आधार पर पयोद्सुहृद् का अर्थ मेघाभिमुख मयूर होता है। यह अर्थ लाक्षणिक है ।[4]

कतिपय लक्षणाएँ ऐसी होती है जो न तो लिप्त आदि शब्दो के समान वृद्धव्यवहार मे दृष्टिगत होती है और न ही 'राजा' आदि शब्द के समान रूढि के अनुसरण पर होती है। ऐसी लक्षणाएँ सर्वथा अशक्य होती है, वे ही त्याज्य लक्षणाएँ कहलाती है। उदाहरण स्वरूप -

---

[1] अ० वृ० मा०, पृ० २७ ।

[2] अ० वृ० मा०, पृ० २५ ।

[3] अत्र हि लिप्तशब्द कान्ते कुड्कुमादिवल्लेपनसाधनत्वाभावाद् बाधितमुख्यार्थ अतस्तेन स्वार्थगतो योऽसावीषत्तिरोधीयमानत्वादि धर्म प्रतिपादित तत्सदृशेषत्तिरोधीयमानत्वादिधर्मयोगात् कान्तिसपृक्तोऽर्थो लक्ष्यते। (अ० वृ० मा०, पृ० २७-२८) ।

[4] एव सुहृच्छब्देनापि पयोदानामचेतनत्वेन मैत्री सम्बन्धाभावान्मुख्यशब्दार्थबाधे सति सुहृद्गता ये ते ते सामुख्यादयो धर्मा तत्सदृशसामुख्यादिधर्मयोगत पयोदाभिमुखा मयूरा लक्ष्यन्ते। (अ० वृ० मा०, पृ० २८) ।

मध्येसमुद्र कुकुभ पिशङ्गीर्या कुर्वती काञ्चनभूम्भिासा।

तुरङ्गकान्ताननहव्यवाहज्वालेव भित्त्वा जलमुल्ललास॥[1]

इसमे प्रयुक्त 'तुरङ्गकान्ताननहव्यवाह' पद लक्षणा द्वारा समुद्र की अग्नि के लिए प्रयुक्त ह। यह पद न तो वडवामुखानल (समुद्र मे प्रज्ज्वलित अग्नि) के लिए रूढि से युक्त ह आर न ही ऐसा प्रयोग वृद्धव्यवहार मे स्वीकार किया गया हे।[2] द्विरेफ आदि शब्दो की समानता के आधार पर ऐसे शब्दो को लक्षक नही कहा जा सकता। वृद्धव्यवहार मे लाक्षणिक रूप से प्रचलित शब्द ही लक्षक होते हे। उनसे जिस किसी प्रकार से समानता रखने वाले शब्द भी लक्षक नही हो सकते। अन्यथा सभी शब्दो मे आशिक साम्य देखकर ही उन्हे सभी अर्थो का लक्षक स्वीकार किया जाने लगेगा। कोइ भी शब्द जिस किसी भी अर्थ का बोधक नही होता।[3]

'तुरङ्गकान्ताननहव्यवाह' शब्द के प्रयोग का कोई विशेष प्रयोजन भी नही है अत प्रयोजन के अभाव मे इसे दोषयुक्त ही माना जाएगा। यदि इस प्रकार के प्रयोग मे किसी गुप्त अर्थ का प्रतिपादन रूप प्रयोजन सम्भव हो तब इस प्रकार के लाक्षणिक प्रयोग को भी दोषरहित माना जाएगा।[4] अन्यथा ऐसी लक्षणाएँ त्याज्य ही होती है।

३. ४. ३ लक्षणा मे वाच्यार्थ की स्थिति -

लक्षणा मे लाक्षणिक अर्थ वाच्यार्थ से किसी न किसी रूप मे सम्बद्ध रहता है। ये सम्बन्ध सादृश्यादि पॉच प्रकार के होते है। इनसे होने वाली लक्षणा मे वाच्यार्थ की स्थिति भिन्न-भिन्न होती है। कही उसका अत्यन्त तिरस्कार होता हे, कही उसकी विवक्षा रहती है तो कही वह अविवक्षित रहता है।[5]

---

[1] अ० वृ० मा०, पृ० २६ ।

[2] अत्र हि तुरङ्गकान्ताननहव्यवाह शब्दो वडवामुखाग्नौ लक्षणया प्रयुक्त । न चासौ वडवामुखाग्नौ निरूढ नापि च तज्जातीय शब्दो विशिष्टसामग्र्यनुप्रविष्टतया विद्धाविद्धार्थावगाहित्वेन परिदृष्ट । (अ० वृ० मा०, पृ० २६)।

[3] ननु द्विरेफादीना शब्दाना रेफद्वितयानुगतभ्रमरादिशब्दलक्षणाद्वारेण यथा षट्पदादौ प्रवृत्ति तथा तुरङ्गकान्ताननहव्यवाहशब्दस्यापि वडवामुखाग्नौ वडवादिशब्दलक्षणाद्वारेण कथ प्रवृत्तिर्न स्यात् तज्जातीये द्विरेफादौ शब्दलक्षाणाया परिदृष्टत्वात् ।
नैतत् यतो वृद्धव्यवहाराभ्यनुज्ञातेष्वेव शब्देषु तज्जातीयशब्ददर्शनात् लक्षणात्वमभ्युपगम्यते न तु सर्वत्र । अन्यथा सर्वेषामेव शब्दाना येन केनचिज्जातिलेशेन सर्वानर्थान् प्रति लक्षणाशब्दत्वस्य वक्तु शक्यत्वात् न कश्चिच्छब्द कंचिदर्थं प्रत्यवगमक स्यात्। (अ० वृ० मा०, पृ० २६-३०)।

[4] - - - तुरङ्गकान्ताननहव्यवाहेत्यादीनामसति प्रयोजने दुष्टत्वमेव सति तु गुप्तार्थप्रतिपादनादिप्रयोजनसभवे एवंविधानामपि लक्षणानामदुष्टत्वम् । (अ० वृ० मा०, पृ० ३०)।

[5] इदानी पञ्चविधसबन्धनिबन्धनायामासत्तौ पूर्वोपवर्णिताया क्वचिद् वाच्यस्यातितिरस्कार क्वचिद् विवक्षितत्व क्वचिच्चाविवक्षितत्वम्। (अ० वृ० मा०, पृ० ५८)।

मुकुलभट्ट ने विविध लक्षणाओ मे वाच्यार्थ की स्थिति का विस्तृत विवेचन किया हे। इन्होने 'सहृदय' नामक विद्वान् की मान्यता को इसका आधार माना है।[१] 'सहृदय' आनन्दवर्धन ही थे अथवा उनसे भिन्न, उनका सम्बन्ध ध्वन्यालोक से था ही। 'ध्वन्यालोक' मे ध्वनि के 'अविवक्षितवाच्य' तथा 'विवक्षितान्यपरवाच्य' रूप से दो प्रकार माने गये हे। इनमे अविवक्षितवाच्यध्वनि लक्षणामूलाध्वनि हे जिसके अर्थान्तरसक्रमित तथा अत्यन्ततिरस्कृत ये दो अवान्तर भेद हो जाते हे।[२]

मुकुलभट्ट के मतानुसार सादृश्य एव वेपरीत्य सम्बन्ध से होने वाली लक्षणा मे वाच्य का अत्यन्त तिरस्कार रहता हे।[३] सादृश्य से होने वाली लक्षणा मे उपमानवाची पद उपमेयपरक रहता हें। ऐसी दशा मे उपमान रूप वाच्यार्थ त्यक्त रहता है। उदाहरणस्वरूप 'स्निग्धश्यामलकान्ति' और 'पयोदसुहृदाम्' इत्यादि स्थलो मे 'लिप्त' एव 'सुहृद्' शब्द का मुख्यार्थ उपमानरूप हे जो पूर्णतया तिरस्कृत है।[४] इसी प्रकार वैपरीत्य सम्बन्ध मे भी वाच्य अर्थ से सर्वथा विपरीत अर्थ का ग्रहण होने से वाच्यार्थ तिरस्कृत रहता है।[५]

सम्बन्ध ओर समवाय के स्थलो मे वाच्य अर्थ विवक्षित भी रहता है और अविवक्षित भी। इन दोनो मे जहॉ उपादान लक्षणा का प्रसङ्ग होता है वहॉं वाच्य की विवक्षा रहती है तथा लक्षणलक्षणा मे वाच्य की अविवक्षा रहती है।[६] समवाय सम्बन्ध के आधार पर होने वाली उपादान लक्षणा 'छत्रिणो यान्ति' वाक्य मे छत्रधारी व्यक्ति रूप मुख्यार्थ भी विवक्षित रहता है।[७]

---

[१] इत्येवविध त्रय यत् सहृदयैरुपदर्शित तस्य विषयविभागमुपदर्शयितुमाह - - - - । (अ० वृ० मा०, पृ० ५८)।

[२] (क) अस्ति ध्वनि । स चासावविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्विविध। (ध्व०, प्र० उ०, पृ० २५४)।
(ख) अर्थान्तरे सक्रमितमत्यन्त वा तिरस्कृतम्
अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्य द्विधा मतम् ॥ (ध्व०, द्वि० उ०, पृ० १)।

[३] सादृश्ये वैपरीत्ये च वाच्यस्यातितिरस्क्रिया। (अ० वृ० मा०, पृ० ५८)।

[४] सादृश्यनिबन्धनाया लक्षणायामुपमानवाचिन पदस्योपमेयपरत्वमुपमानात्मक वाच्यमत्यन्त तिरस्क्रियते। यथोपदर्शित 'स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्ते' ति 'पयोदसुहृदामि' ति च । अत्र हि लिप्तसुहृच्छब्दयो स्वार्थोपमितवस्तुपरत्वात् स्वार्थस्यात्यन्त कार्येऽनन्वितत्वम्। (अ० वृ० मा०, पृ० ५८)।

[५] वैपरीत्यसमाश्रयायामपि तस्यामर्थान्तरस्य वाच्यविपरीतस्योपादेयत्वाद् वाच्यस्यात्यन्त तिरस्कार। (अ० वृ० मा०, पृ० ५८-५६)।

[६] विवक्षा चाविवक्षा च सबन्धसमवाययो ।
उपादाने विवक्षात्र लक्षणे त्वविवक्षणम्॥ (अ० वृ० मा०, पृ० ५८)।

[७] उपादाने वाच्यस्य विवक्षितत्व यथा 'छत्रिणो यान्ती'ति। अत्र हि यदा छत्री बहुत्वोपेतत्वात् स्वगतबहुत्वान्वयसंसिद्ध्यर्थत्वेन छत्रशून्यानपि आक्षिपति तदा समवायनिबन्धने छत्रशून्यानामुपादाने क्रियमाणे वाच्यश्छत्री विवक्षित। (अ० वृ० मा०, पृ० ६०)।

सम्बन्ध से उपादान लक्षणा के उदाहरण मे मुकुलभट्ट ने 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' वाक्य प्रस्तुत किया ह। इसमे रात्रिभोजन रूप कारण का लक्षणा से आक्षेप होता ह । यहाँ वाच्यार्थ 'दिन मे भोजन का अभाव होने पर भी देवदत्त की स्थूलता' विवक्षित रहती हे।[1]

सम्बन्ध तथा समवाय से होने वाली लक्षणलक्षणा मे वाच्य की अविवक्षा रहती ह किन्तु उसका अत्यन्त तिरस्कार नही रहता।[2] सम्बन्ध से लक्षणा के उदाहरणस्वरूप 'रामोऽस्मि - - ' । इत्यादि पद्य मे पद का वाच्यार्थ दशरथपुत्र रूप अर्थ अविवक्षित रहता हे किन्तु उसका अत्यन्त तिरस्कार भी नही होता क्योकि अन्य व्यङ्ग्य धर्मों मे उसका अन्वय हो जाता है। इसी प्रकार की स्थिति 'गङ्गाया घोष' मे भी है।[3] यहाँ गङ्गा पद का मुख्यार्थ जलप्रवाह अविवक्षित तो होता हे किन्तु अत्यन्त तिरस्कृत नही रहता। तट रूप लक्ष्यार्थ मे प्रतीयमान शेत्य एव पावनत्व का जो बोध होता है वह मुख्यार्थ जल-प्रवाह का ही धर्म है।

समवाय से होने वाली लक्षणलक्षणा मे वाच्य की अविवक्षा दर्शाते हुए मुकुलभट्ट ने 'छत्रिणो यान्ति' उदाहरण ही प्रस्तुत किया है जिसे उन्होने वाच्य की विवक्षा के प्रसङ्ग मे भी उदाहरण माना था। यहाँ बहुवचन के प्रयोग की उपपत्ति के लिए छत्री पद समुदाय का लक्षक मान लिया जाता है। इस स्थिति मे छत्रधारित्वरूप वाच्यार्थ अविवक्षित रहता है। प्रस्तुत उदाहरण मे विवक्षा के स्थल मे प्रधानतया गमन क्रिया अभीष्ट है। छत्रधारी राजा के साथ उसके अनुचर गौण रूप से विवक्षित रहते है अत यहाँ मुख्यार्थ छत्रधारी विवक्षित रहता है। द्वितीय अविवक्षा स्थल मे समुदाय रूप अर्थ प्रधानतया अभिप्रेत रहता है। ऐसी दशा मे छत्रधारी पुरुष अर्थ गोण हो जाता है तथा मुख्यार्थ की अविवक्षा मान ली जाती है।[4] इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि सम्बन्ध और समवाय के स्थलो मे वाच्य की विवक्षा अथवा अविवक्षा रहती है किन्तु उसका अत्यन्त तिरस्कार नही रहता।

---

[1] सम्बन्धनिबन्धनाया लक्षणायामुपादाने वाच्यविवक्षायामुदाहरणम् - 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति। अत्र हि दिनाधिकरणभोजनाभावविशिष्टतया पीनत्वलक्षण कार्यं विवक्षितमेव सत् स्वसिद्ध्यर्थत्वेन सम्बन्धनिबन्धनाया लक्षणाया रात्रिभोजनात्मक कारणमाक्षिपति। (अ० वृ० मा०, पृ० ६०) ।

[2] लक्षणात्मिकयोस्तु तयोर्वाच्यस्याविवक्षितत्वम्, न त्वत्यन्त तिरस्कार लक्ष्यमाणद्वारेण कथंचित् कार्येऽन्वितत्वात्। (अ० वृ० मा०, पृ० ६३) ।

[3] सम्बन्धनिबन्धनाया लक्षणायामविवक्षितवाच्यत्व उदाहरण 'रामोऽस्मीति' अत्र हि रामशब्दवाच्य दाशरथिरूप व्यङ्ग्यधर्मान्तरपरिणतत्वात् स्वपरत्वेनानुपात्तम्, तस्मादविवक्षित नत्वत्यन्त तिरस्कृतम्। - - -। एव 'गङ्गाया घोष' इत्यादावप्युन्नेयम्। (अ० वृ० मा०, पृ० ६३) ।

[4] समवायसम्बन्धनिबन्धनाया तु लक्षणायामविवक्षितवाच्यता 'छत्रिणो यान्ती' - त्यत्रैवोदाहार्या। तथाहि यदा छत्रित्व बहुत्वान्वयान्यथानुपपत्त्या समुदायपरतयोपादीयते तदात्र समुदायस्य विवक्षितत्वाद् वाच्यस्याविवक्षा। एवमपि च समुदायान्तर्भूतत्वात् समुदायद्वारेण छत्रिणोऽपि क्रियान्वय सुलभ एव। अत एव चात्र वाच्यस्य नात्यन्त तिरस्कार समुदायरूपान्तरभूतत्वेन क्रियान्वितत्वात्। (अ० वृ० मा०, पृ० ६३ - ६४) ।

क्रियायोग पर आधारित लक्षणा मे कही वाच्य का तिरस्कार रहता हे तो कही स्थिति इसके विपरीत रहती हे अर्थात् कही तिरस्कार नही रहता।[1] कभी जब शब्द के अवयवो के आधार पर लक्षणा होती हे तो वहाँ लक्ष्यार्थबोध शब्दशक्तिमूलक माना जाता है। ऐसे स्थलो मे वाच्यार्थ का जहाँ तिरस्कार रहता हे उसका उदाहरण हे 'पुरुष पुरुष' है। इस प्रयोग मे प्रथम पुरुष शब्द के द्वारा पुरुषत्वरूपी जातिविशिष्ट का प्रतिपादन किया जा रहा हे ओर द्वितीय पुरुष शब्द द्वारा वाच्यार्थ से भिन्न क्रियायोग सम्बन्ध से अतिशय से युक्त अर्थ का लक्षणा द्वारा बोध कराया जा रहा हे। यहाँ वाच्य का तिरस्कार है।[2]

जहाँ किसी निमित्त के रहने से वाच्य अर्थ विवक्षित रहता है ओर लक्षणा से बोधित दूसरा अर्थ अर्थात् लक्ष्यार्थ छिपाया नही जाता वहाँ स्थिति विपरीत रहती है अर्थात् वहाँ वाच्य अर्थ अत्यन्त तिरस्कृत नही रहता। जेसे 'घोर सग्राम मे तुम शत्रुघ्न हो' इस प्रयोग मे शत्रुघ्न शब्द क्रियायोग सम्बन्ध से लक्षणा द्वारा शत्रुहनन रूप क्रिया के कर्ता को तो बताता ही है परन्तु उसका दशरथ-पुत्र रूप मुख्य अर्थ भी विवक्षित रहता हे। यहाँ वाच्यार्थ को उपमान के रूप मे प्रस्तुत किया गया है।[3]

इस प्रसङ्ग मे मुकुलभट्ट ने 'सहृदय' नामक विद्वान् से अपने मत की भिन्नता भी दर्शायी है। 'सहृदय' इस प्रकार के स्थलो मे उपमान के उपमेयपरक होने के कारण वाच्य का अत्यन्त तिरस्कार मानते हे[4] किन्तु मुकुलभट्ट के अनुसार क्रियायोगमूलक लक्षणा के स्थलो मे वाच्य उपमान रूप से भी स्वीकृत रहता है अत उसकी विवक्षा रहती है अत्यन्ततिरस्कार नही।

३ ४. ४ लक्षणा एव अभिधा का पौर्वापर्य -

लक्षणा के सम्बन्ध मे विचार करते समय यह प्रश्न उपस्थित होता है कि लक्षणा सदेव अभिधा के पश्चात्

---

[1] 'तिरस्क्रिया क्रियायोगे क्वचित् तद्विपरीतता' । (अ० वृ० मा०, पृ० ५८) ।

[2] क्रियायोगनिबन्धनाया तु लक्षणाया शब्दगतावयवशक्त्यनुसरणे शब्दशक्तिमूलता लक्ष्यमाणस्यार्थस्य । तत्र च वाच्यस्यार्थस्य तिरस्क्रिया यथा 'पुरुष पुरुष' इति। अत्र ह्येकेन पुरुषशब्देन विशिष्टजातीयस्यार्थस्योपात्तत्वादपर पुरुषशब्द स्ववाच्यव्यतिरेकेणैव क्रियायोगनिबन्धनया लक्षणया पुनरतिशयितृत्वमुपादत्ते। (अ० वृ० मा०, पृ० ६५) ।

[3] यत्र तु निमित्तसद्भावाद् वाच्येऽर्थे विवक्षित एव तस्यार्थान्तरस्य शब्दशक्त्यन्तरमूलतया व्यवस्थितस्याऽव्यवाय क्रियते तत्र तद्विपरीततया वाच्यार्थतिरस्क्रियावैपरीत्यम्। न खल्वत्र वाच्यस्यार्थस्य तिरस्क्रिया अपि तु विवक्षितत्वमेव यथा महति समरे शत्रुघ्नस्त्वमि'ति। अत्र हि शत्रुघ्नशब्द शत्रुहननक्रियाया कर्तृत्व क्रियायोगनिबन्धनया लक्षणयावगमयन्नपि स्वार्थं दाशरथिमुपमानतयापि प्रतिपादयति। तेन तस्य विवक्षितस्य स्वार्थतापि। (अ० वृ० मा०, पृ० ६५ - ६६) ।

होती ह या उसके पहले भी होती है ? इसी पृष्ठभूमि मे मुकुलभट्ट ने अभिहितान्वयवाद, अन्विताभिधानवाद दोनो का समुच्चय तथा दोनो का अभाव रूप चार पक्ष प्रस्तुत किया हे । इसमे अभिहितान्वयवाद मे लक्षणा अभिधा के पश्चात होती ह, अन्विताभिधानावाद मे पहले। दोनो के समुच्चय मे पूव तथा पश्चात् दोनो होती हे तथा दोनो के अभाव मे जहाँ वाक्याथ अखण्ड माना जाता है वहाँ लक्षणा होती ही नही।[2]

३ ४ ४ १ अभिहितान्वयवाद -

वाक्य से वाक्यार्थ बोधन की प्रक्रिया के विषय मे मीमासको मे दो मत प्रचलित है जो अभिहितान्वयवाद तथा अन्विताभिधानवाद के नाम से जाने जाते है । अभिहितान्वयवाद कुमारिलभट्ट तथा उनके मतानुयायियो का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार अभिधा से पहले पदो का पृथक्-पृथक् जातिरूप अर्थ प्रकट होता है। तदनन्तर आकाङ्क्षा योग्यता एव सन्निधि के कारण तात्पर्य वृत्ति से वाक्यार्थबोध होता है। अभिहितान्वयवादियो के अनुसार पदो मे केवल पदार्थबोधन की ही शक्ति रहती है। शब्दो के द्वारा उनके अन्वय को प्रकट नही किया जा सकता। अन्वय या सम्बन्ध रूप अर्थ तो तात्पर्यार्थ है जो वाच्य अर्थ से विलक्षण प्रकार का होता है। इस प्रकार वाक्यार्थबोध मे अभिहित अर्थात् अभिधा द्वारा उपस्थित पदार्थ का बाद मे अन्वय मानने के कारण इस सिद्धान्त को अभिहितान्वयवाद के नाम से जाना जाता है ।[3] इस मत मे पदार्थो का परस्पर अन्वय आकाङ्क्षा, योग्यता तथा सन्निधि के बल से होता है। आकाङ्क्षा से तात्पर्य है पदो की पारस्परिक अपेक्षा के कारण वाक्यबोध के लिए अगले पद की श्रवणेच्छा ।[4] योग्यता का

---

[1] यद्यपि चोपमेयपरत्वेनोपमानस्योपादानादेवंविधे विषयेऽऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यता सहृदयैरङ्गीक्रियते तथापि क्रियायोगनिबन्धनलक्षणावसरे तावद् वाच्यस्योपमानत्वेनाङ्गीकृतत्वादतिरस्कृतवाच्यतापि भवति। (अ० वृ० मा०, पृ० ६६) ।

[2] अन्वयेऽभिहिताना सा वाच्यत्वादूर्ध्वमिष्यते
अन्विताना तु वाच्यत्वे वाच्यत्वस्य पुर स्थिता।
द्वये द्वयमखण्डे तु वाक्यार्थपरमार्थत
नास्त्यसौ कल्पितेऽर्थे तु पूर्ववत् प्रविभज्यते॥ (अ० वृ० मा०, पृ० ४२) ।

[3] आकाङ्क्षायोग्यतासन्निधिवशाद्वक्ष्यमाणस्वरूपाणा पदार्थाना समन्वय तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि वाक्यार्थ समुल्लसतीत्यभिहितान्वयवादिना मतम् । (का० प्र०, द्वि० उ०, पृ० ३४) ।

[4] का पुनरियमाकाङ्क्षा ? प्रतिपत्तुर्जिज्ञासा । किन्निबन्धना पुनरसौ? अविनाभावनिबन्धनेति केचित्। क्रिया हि कारकाविनाभाविनीति ता प्रतीत्य कारक जिज्ञासते एव कारकमपि बुद्ध्वा क्रियामिति। (वा० मा० वृ०, पृ० ३७ - ३८) ।

अर्थ ह पदार्थ के परस्पर सम्बन्ध मे बाधा का अभाव।[1] सन्निधि का अभिप्राय ह एक ही व्यक्ति द्वारा अविलम्ब पदो का उच्चारण। इसे आसत्ति भी कहा जाता हे।[2]

अभिहितान्वयवाद को स्पष्ट करते हुए मुकुलभट्ट कहते है कि पदो की पहुँच अपने सामान्य अर्थ तक ही रहती है आकाङ्क्षा आदि से जो वाक्यार्थबोध होता ह वह अनभिधेय होता ह। जेसे 'ब्राह्मण पुत्रस्ते जात', 'कन्या ते गर्भिणी' इन वाक्यो से क्रमश जो हर्ष एव शोक होता ह उसके अभिधायक शब्द यहाँ प्रयुक्त नही है। फलत इन दोनो के अभिधा से कथित न होने से हर्ष और शोक का आक्षेप होता हे। यही स्थिति वाक्यार्थ की भी है। वह भी पदो से विदित अर्थो द्वारा आक्षिप्त ही होता है। इस प्रकार अर्थ पहले अभिहित हो जाते है उसके बाद उनका अन्वय होता है, इसी कारण यह सिद्धान्त अभिहितान्वयवाद कहलाता है।[3] मुकुलभट्ट ने अभिहितान्वयवाद का जो स्वरूप स्पष्ट किया है उसके अनुसार वाक्यार्थबोध तात्पर्यवृत्ति से नही अपितु आक्षेप से होता है। आक्षेप इनके अनुसार लक्षणा ही है। अभिहितान्वयवाद मे लक्षणा अभिधा के पश्चात् ही होती है। अर्थात् पदो से सामान्यरूप अर्थो का अभिधा द्वारा बोध हो जाने के पश्चात् उन पदार्थो के आधार पर वाक्यार्थबोध होने लगता है तब लक्षणा मानी जाती है।[4]

३ ४ ४ २ अन्विताभिधानवाद -

अन्विताभिधानवाद प्रभाकर एव उनके अनुयायियो का है। अन्विताभिधानवादी अभिहितान्वयवाद का खण्डन करते हे। उनके अनुसार वाक्यार्थबोध मे पदो से अन्वित पदार्थ का ही बोध अभिधा से होता है। अलग-अलग अर्थ जो परस्पर सम्बद्ध नही है, प्रकट नही हो सकते । अपने मत की पुष्टि हेतु अन्विताभिधानवादियो का यह तर्क है कि सङ्केतग्रह के पश्चात् ही पद से पदार्थबोध होता है। सङ्केतग्रह के साधनो मे 'व्यवहार' एक प्रमुख साधन है । उदाहरण स्वरूप पिता के समीप बैठा एक बालक पिता द्वारा उच्चरित 'गामानय' इस वाक्य को सुनता है तथा अपने अग्रज को सास्नादिमान् पिण्ड के आनयनरूप कार्य को करते देखकर यह अनुमान करता है कि 'गामानय' इस अखण्ड वाक्य

---

[1] पदार्थे तत्र तद्वत्ता योग्यता परिकीर्तिता। (न्या० सि० मु०, शब्दप्रामाण्यनिरूपणम्, पृ० ७६) ।

[2] सन्निधान तु पदस्यासत्तिरुच्यते। (न्या० सि० मु०, शब्दप्रमाण्यनिरूपम्, पृ० ६५) ।

[3] इह केषांचिदन्वयव्यतिरेकावसेयसामान्यभूतस्वार्थमात्रविश्रान्तेषु पदेषु पदार्थाकाङ्क्षासन्निधियोग्यतामहिम्ना वाक्यार्थस्यानभिधेयभूतस्य हर्षशोकादिवदवसेयत्वमेव। यथा हि 'ब्राह्मण पुत्रस्ते जात', 'ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणीती' - ति यथाक्रम पुत्रजन्मकन्यागर्भिणीत्वनिमित्तौ हर्षशोकौ स्वशब्देनानभिहितावपि शब्दाभिधेयभूतवस्तुसामर्थ्यादाक्षिप्येते एव वाक्यार्थस्यानभिधेयभूतस्यैव पदार्थाक्षेप्यत्वे द्रष्टव्यम्। एषा चैववादिना मतेनार्थानामभिहितानामुत्तरकाल परस्पराान्वयादभिहितान्वय। (अ० वृ० मा०, पृ० ४२) ।

[4] तत्र च यदा तावदभिहितान्वय तदा स्ववाचकैरभिहिताना पदार्थानामभिहितोत्तरकालम् आकाङ्क्षायोग्यतासनिधि माहात्म्याद् विशेषणविशेष्यभावात्मके परस्परमन्वये सति सा लक्षणा पदार्थाना सामान्यभूताना यद् वाच्यत्व तस्मादूर्ध्वं वाक्यार्थे पदार्थसामर्थ्यादवगम्यमाने सतीष्यते। (अ० वृ० मा०, ४७) ।

का सास्नादिमान् पिण्ड के लाने मे अभिप्राय था । इसके पश्चात् पिता के 'गा नय', 'अश्वमाहर' आदि वाक्यो को सुनकर अग्रज को तदनुसार व्यवहार करते देखकर शनै शनै भिन्न-भिन्न शब्दो का उसे अर्थ बोध होने लगता हे। इस प्रकार स्पष्ट ह कि सङ्केतग्रह केवल किसी पदार्थ मे नही अपितु किसी के साथ अन्वित पदार्थो मे ही होता हे, अत पारस्परिक सम्बन्धयुक्त पदार्थ ही वाक्यार्थ होते हे।[१]

मुकुलभट्ट ने अन्विताभिधानवाद का स्वरूप स्पष्ट करते हुए शब्द और अर्थ का सम्बन्ध वृद्धव्यवहार पर निर्भर बताया हे। वृद्धव्यवहार प्रवृत्ति या निवृत्तिरूप होता हे। प्रवृत्ति-निवृत्ति अन्य अर्थो से अन्वित अर्थात् विशिष्ट अर्थ मे होती है। अत विशिष्ट अर्थ ही अभिधेयार्थ होता है, अभिधा से विदित होने के पश्चात् अर्थो मे वैशिष्ट्य नही आता है। अर्थ पहले परस्पर अन्वित होकर ही वाक्यार्थरूप मे आते हैं तदनन्तर उनका ज्ञान पदो द्वारा होता है। इस प्रकार इनका पदो से सम्बन्ध सामान्य रूप ही होता है। इसी सिद्धान्त को अन्विताभिधानवाद कहते है।[२]

यहॉ मुकुलभट्ट ने 'सामान्यावच्छादित' पद का प्रयोग किया है। इसका तात्पर्य यही हे कि अभिधा से सामान्यावच्छादित विशेष रूप का ही बोध होता है। व्यवहार मे विशेष रहित सामान्य का प्रयोग नही हो सकता। 'गामानय' मे 'आनयन' क्रिया सामान्य हे। यह एकाकी अर्थबोध नही करा सकती 'आनय' पद की सामान्यरूपता तो प्रत्येक वाक्य मे प्रयुक्त होने वाले आनय पद मे रहेगी। उसमे विशेषरूपता किसी अन्य पदार्थ विशिष्ट से सयुक्त होने पर ही आएगी। इसी कारण सङ्केतग्रह सामान्यावच्छादितविशेष मे ही होता है।

अन्विताभिधानवाद मे सम्पूर्ण वाक्यार्थ मे ही अभिधा मानी जाती है। वहॉं अभिधा के निश्चय के लिए पहले लक्षणा होती है। इसका अभिप्राय यह है कि वाक्यार्थ के रूप मे सामान्य अर्थ का ज्ञान होने के पश्चात् जब पद-पदार्थ

---

[१] (क) वाच्य एव वाक्यार्थ इत्यन्विताभिधानवादिन (का० प्र०, द्वि० उ०, पृ० ३४)।

(ख) येप्याहु -

शब्दवृद्धाभिधेयाश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति
श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया।
अन्यथाऽनुपपत्त्या तु बोधेच्छक्ति द्वयात्मिकाम्
अर्थापत्त्याऽवबोधेत सम्बन्ध त्रिप्रमाणकम्॥ (का० प्र०, प० उ०, पृ० २४२)।

(ग) विशिष्टा एव पदार्था वाक्यार्थो न तु पदार्थाना वैशिष्ट्यम्। (का० प्र०, प० उ०, पृ० २४३)

[२] अपरे त्वाहु -वृद्धव्यवहाराच्छब्दार्थसबन्धावसाय । स च वृद्धव्यवहार प्रवृत्तिनिवृत्तिरूप। प्रवृत्तिनिवृत्ती च विशिष्टार्थनिष्ठे। अतो विशिष्ट एवार्थे पदाना सबन्धावधृति। ततश्च विशिष्टा एव पदार्था न तु पदार्थाना वैशिष्ट्यम् एव च परस्परान्विताना तत्तत्सामान्यावच्छादितत्वेन गृहीतस्ववाचकसबन्धाना पदै प्रत्यायनादन्विताभिधानमिति। (अ० वृ० मा०, पृ० ४४)।

रूप विशिष्ट अर्थ का ज्ञान होने लगता ह तब उनमे सम्बन्धतत्त्व के ज्ञान के लिए लक्षणा का आश्रय लिया जाता हे। अत अन्विताभिधानवाद मे लक्षणा की स्थिति अभिधा के पूर्व आती हे।[1]

३ ४ ४ ३ समुच्चयवाद -

समुच्चयवाद के सिद्धान्त के अनुसार पद से सामान्य वाच्य अर्थ का ज्ञान होता हे और वाक्य से परस्पर अन्वित पदार्थ का। इस सिद्धान्त मे अभिहितान्वयवाद एव अन्विताभिधानवाद दोनो ही मान्य है। यहॉ पद की दृष्टि से अभिहितान्वयवाद तथा वाक्य की दृष्टि से अन्विताभिधानवाद सत्य हे। इसी कारण इसे 'समुच्चयवाद' कहते हे।[2] समुच्चयवाद से मुकुलभट्ट ने भाषा तथा लोक व्यवहार दोनो का समन्वितरूप प्रस्तुत किया हे। भाषा मे शब्द के अनुसार अर्थ की ओर प्रवृत्ति होती है अत वहॉ अभिहितान्वयवाद की स्थित होती है किन्तु लोक मे अर्थ देखकर ही उसके सम्बन्ध का अन्वेषण होता है तब शब्द के प्रति उन्मुखता होती है। ऐसी दशा मे अन्विताभिधानवाद की प्रक्रिया आती हे।

इन दोनो के समुच्चय मे पद की दृष्टि से लक्षणा अभिधा के बाद होती है तथा वाक्य की दृष्टि से अभिधा के पहले होती है।[3]

'न्यायमञ्जरी' मे जयन्तभट्ट ने भी अभिहितान्वयवाद एव अन्विताभिधानवाद मे दोष दर्शाते हुए समुच्चयवाद का स्वरूप प्रस्तुत किया है ।[4]

---

[1] तत्र विशिष्यमाणाना वस्तूना पदार्थत्व तावन्न घटते यावत् सकलवाक्यार्थानुयायितया प्रतिपन्नस्याव्यभिचरित-स्व-वाचकसम्बन्धस्य सामन्यरूपस्य निमित्तभूतस्यार्थस्य सप्रत्यये सति तत्तद्वाक्यार्थविषयतया यथाविषय षट्प्रकारा लक्षणा नाविर्भवति। अतोऽन्विताभिधाने विशिष्टाना पदार्थाना वाक्यर्थस्वभावाना यद् वाच्यत्व तस्य 'पुर' तस्मात् पूर्व निमित्तावस्थाया लक्षणावस्थिता। (अ० वृ० मा०, पृ० ४७) ।

[2] अन्येषा तु मते- पदाना तत्तत्सामान्यभूतो वाच्योऽर्थ वाक्यस्य तु परस्परान्विता पदार्था इति पदापेक्षयाभिहितान्वय वाक्यापेक्षया तु अन्विताभिधानम् एव चैतयोरभिहितान्वयान्विताभिधानयो समुच्चय इति। (अ० वृ० मा०, पृ० ४५) ।

[3] 'द्वये' अभिहितान्वयान्विताभिधानसमुच्चयात्मके द्वय वाच्यत्वाद् ऊर्ध्वमु, प्राम्भावश्च लक्षणाया इत्यर्थ । (अ० वृ० मा०, पृ० ४८) ।

[4] अयमेव च पक्ष श्रेयान् यत्सहत्यकारित्व पदानामसकीर्णार्थत्व च -

निरपेक्षप्रयोगेऽय शलाका कल्पना भवेत्।
तदन्विताभिधाने तु पदान्तरमनर्थकम्॥
सहत्यकारिपक्षे तु दोषो नैकोऽपि युज्यते।
तेनायमुपगन्तव्यो मार्गो हि हतकण्टक ॥ (न्या० म०, पृ० ३७२)।

३ ४ ४ ४ अखण्डार्थवाद -

अखण्डार्थवाद का स्वरूप प्रस्तुत करते हुए मुकुलभट्ट लिखते ह कि वाक्य एव वाक्यार्थ दोनो ही वास्तविक रूप मे अखण्ड होते हे। पदार्थ नामक कोई वास्तविक वस्तु नही होती। पदार्थ एक काल्पनिक सत्य हे[१] अत जहाँ वाक्यार्थ को अखण्ड माना जाता हे वहाँ लक्षणा होती ही नही हे। वहाँ भिन्न-भिन्न पदार्थो की अभिधेयता सिद्ध नही होती फलत उन पर आश्रित रहने वाली लक्षणा भी वस्तुत असिद्ध ही होती हे[२] ऐसी दशा मे अभिहितान्वयवाद, अन्विताभिधानवाद तथा समुच्चयवाद तीनो ही अनुपयोगी हे। व्यावहारिक स्तर पर पद-पदार्थ की जो स्थिति होती है वह तो काल्पनिक होती है, उस स्थिति मे काल्पनिक रूप मे लक्षणा मानी जाती है तब उपयोगिता अथवा अपनी रुचि के अनुसार तीनो ही वादो मे यथावसर लक्षणा को स्वीकार करना चाहिए।[३]

अखण्डार्थवाद का यह स्वरूप पूर्णतया व्यकरणशास्त्र मे मान्य अखण्डार्थवाद के अनुरूप ही हे। शबरस्वामी ने वैयाकरणो को 'स्फोटवादी' कहा हे।[४] वैयाकरणो के अनुसार स्फोट के व्यञ्जक वर्णो को ध्वनि कहते हे । श्रोत्र से सुनाई देने वाली ध्वनि क्षणिक तथा अस्थिर होती है । स्फोट की नित्य सत्ता होती है । इनके अनुसार वाक्यार्थ का निमित्त अखण्ड स्फोट होता है तथा वाक्य मे पद, पदार्थ वर्णादि का विभाग नही होता। वक्ता अखण्डवाक्य का प्रयोग करता हे और श्रोता अपनी प्रतिभा से अखण्ड अर्थ को ही ग्रहण करता है । पारमार्थिक रूप से वाक्य मे पद और पदाश का कोई महत्त्व नही हे ।[५]

आचार्य भर्तृहरि ने वाक्य-स्फोट को ही वाक्यार्थ का प्रतिपादक कहा है। पद एव पदार्थ को ही सत्य मानने वाले मीमासको का खण्डन करते हुए वाक्यार्थ को ही सत्य कहा है। पद एव पदार्थ मे निश्चितता का अभाव है अत इसे सत्य नही माना जा सकता। वाक्य ही अखण्ड इकाई है। पदादि भिन्न भिन्न वाक्यो मे भिन्न-भिन्न रूपो मे प्रयुक्त होने

---

[१] परमार्थतो वाक्यवाक्यार्थयोरखण्डत्वान्नाभिहितान्वयो नाप्यन्विताभिधानम्, न च तत्समुच्चयो युज्यते, पदार्थानामविद्यमानत्वात् कल्पितपदार्थनिष्ठत्वेनोभयमपि व्यस्तसमस्तरूपतया कल्प्यत इति। (अ० वृ० मा०, पृ० ४६) ।

[२] अखण्डे तु वाक्यार्थेऽसौ लक्षणा परमार्थेन नास्ति। भिन्नाना पदार्थाना परमार्थतोऽभिधेयभावस्यानुपपद्यमानत्वात्, तदाश्रितत्वाच्च लक्षणाया। (अ० वृ० मा०, पृ० ४८) ।

[३] कल्पितपदार्थाश्रयेण तु सा लक्षणा यथारुचि पूर्ववदभिहितान्वयान्विताभिधानतत्समुच्चयकल्पनया विभक्तव्यभागे निवेश्या परस्परस्य देशकालावच्छेदेनाशेषव्यवहर्तृनिष्ठतया गूढत्वात् (अ० वृ० मा०, पृ० ४८) ।

[४] स्फोटवादिन वैयाकरणा (शा० भा०, १ - १ - ५)।

[५] पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च
वाक्यात्पदानामत्यन्त प्रविवेको न कश्चन। (वा० प०, १/७२) ।

से असत्य हे। लोक-व्यवहार के लिए वाक्य मे वर्ण, पद, पदार्थ आदि का विभाग किया जाता हे ।[1] यह विभाग तो काल्पनिक हे वास्तविक सत्ता तो अखण्ड वाक्य की ही हे।

३ ५ मम्मट के अनुसार लक्षणा का स्वरूप -

आचार्य मम्मट ने जाति, क्रिया गुण एव सज्ञा को वाच्यार्थ माना हे जिनमे शब्द का सङ्केत रहता हे। इसी वाच्यार्थ का बाध होने पर रूढि अथवा प्रयोजन के कारण इससे सम्बन्धित जिस अर्थ की प्रतीति होती हे वह लक्षणीय अर्थात् लक्ष्य अर्थ होता है।[2] इस प्रकार स्पष्ट हे कि मम्मट ने भी लक्षणा के तीन हेतु माने ह - मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थ सम्बन्ध तथा रूढि अथवा प्रयोजन मे से किसी एक का होना । इन तीनो कारणो के एक साथ उपस्थित रहने पर ही लक्षणा होती है। उदाहरणार्थ 'शब्दे कुशल'[3] इस वाक्य मे 'कुशल' पद का वाच्यार्थ है 'कुश नामक तृण को लाने वाला' परन्तु इस वाक्य मे यह अर्थ सगत नही हो रहा हे। ऐसी स्थिति मे 'कुशल' शब्द की 'चतुर' अर्थ मे लक्षणा हो जाती है । यहाँ रूढि अथवा प्रसिद्ध के कारण ही लक्षणा हुई है। किसी शब्द का यौगिक अर्थ कुछ अन्य होता है, किन्तु लोकव्यवहार मे, उसका मूल अर्थ परिवर्तित हो जाता है उसके स्थान पर किसी अन्य अर्थ का प्रयोग होने लगता है, उसे ही रूढि कहते है। 'काव्यप्रकाश' मे इन्होने रूढि लक्षणा का उदाहरण 'कर्मणि कुशल' दिया है।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने मम्मट के इस उदाहरण की आलोचना की है। उनके अनुसार यहाँ रूढि लक्षणा नही है। रूढि लक्षणा का उन्होने उदाहरण दिया है 'कलिङ्ग साहसिक' । विश्वनाथ के अनुसार 'कुशल' पद का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ यद्यपि कुशग्राहक है तथापि उसका मुख्यार्थ चतुर रूप अर्थ ही होता है। व्युत्पत्ति तथा प्रवृत्ति के निमित्त भिन्न-भिन्न होते है। यदि व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ को ही मुख्यार्थ माना जाए तो 'गम्' धातु से 'गमेर्डो इस सूत्र से 'डो' प्रत्यय करके निष्पन्न 'गो' शब्द का 'गच्छति इति गौ' यह अर्थ होगा। ऐसी दशा मे शयनकाल मे गमन का अभाव होने के कारण गो शब्द का प्रयोग न हो सकेगा। अत व्युत्तिपत्ति निमित्त को ही प्रवृत्तिनिमित्त नही मानना चाहिए।[4]

---

[1] अविभक्तेऽपि वाक्यार्थे शक्तिभेदादपोद्धृते
वाक्यान्तरविभागेन यथोक्त न विरुध्यते॥ (वा० प०, २/८८) ।

[2] तद्बाधे रूढितोऽर्थाद् वा लक्षणीयस्तदन्वित । (श० व्या० वि०, पृ० ७) ।

[3] शब्दे कुशल इत्यादौ दर्भग्रहणाद्ययोगाद् - - — । (श० व्या० वि०, पृ० ७) ।

[4] केचित्तु 'कर्मणि कुशल' इति रूढावुदाहरन्ति। तेषामयमभिप्राय - कुशाल्लातीति व्युत्पत्तिलभ्य कुशग्राहिरूपो मुख्योऽर्थ प्रकृतेऽसभवन्विवेचकत्वादिसाधर्म्यसम्बन्धसम्बन्धिन दक्षरूपमर्थ बोधयति। तदन्ये न मन्यन्ते। कुशग्राहिरूपार्थस्य व्युत्पत्तिलभ्यत्वेऽपि दक्षरूपस्यैव मुख्यार्थत्वात्। अन्यद्धि शब्दाना व्युत्पत्तिनिमित्तम् अन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तम्। व्युत्पत्तिलभ्यस्य मुख्यार्थत्वे 'गौ शेते' इत्यत्रापि लक्षणा स्यात्। 'गमेर्डो' (उणादि- २/६७) इति गम् धातोर्डोप्रत्ययेन व्युत्पादितस्य गोशब्दस्य शयनकालेऽप्रयोगात्। (सा० द०, पृ० ३०-३१) ।

विश्वनाथकृत यह आलोचना आपातत तो युक्तियुक्त प्रतीत होती ह किन्तु पार्यन्तिक रूप से सत्य नही है। अनेक ऐसे आवश्यक स्थल आते ह जहॉ पद का व्युत्पत्तिनिमित्तक अर्थ लिया जाता है। यमक एव श्लेष अलङ्कारो के स्थलो मे पदो का व्युत्पत्ति निमित्तक अर्थ भी कभी-कभी गृहीत होता है।

मम्मट ने प्रयोजन से होने वाली लक्षणा का उदाहरण दिया है 'गङ्गाया घोष'। यहॉ आभीरपल्ली मे शैत्य एव पावनत्व धर्मो की प्रतीति कराने के कारण ही ऐसा प्रयोग हुआ है। इस प्रकार के प्रयोजन की प्रतीति का सामर्थ्य 'गङ्गातटे घोष' इस प्रयोग मे नही है। लक्षणा से प्राप्त तट अर्थ गङ्गाप्रवाहरूप मुख्य अर्थ से सामीप्य सम्बन्ध से सम्बन्धित है।[1]

'काव्यप्रकाश' मे प्रदत्त लक्षणा की परिभाषा मे मम्मट ने इसे 'आरोपिता क्रिया' अथवा आरोपित शब्द व्यापार कहा है जो कि सान्तरार्थनिष्ठ अर्थात् व्यवहित अर्थ मे रहता है।[2] मुकुलभट्ट भी अमुख्य अर्थ को सान्तरार्थनिष्ठ ही कहते है।, किन्तु मुकुलभट्ट लक्षणा को एक स्वतन्त्र व्यापार अथवा वृत्ति नही मानते जबकि मम्मट ने इसे शब्द का एक स्वतन्त्र व्यापार माना है तथा अभिधा और लक्षणा को क्रमश वाचक तथा वाच्य मे रहने वाला व्यापार कहा है।[3] मुकुलभट्ट ने भी मुख्यार्थ एव लक्ष्यार्थ को 'शब्दव्यापारावगम्य' तथा 'अर्थावसेय' कहा है। अर्थात् इन्होने भी लक्षणा को अर्थनिष्ठ ही माना है।

इस प्रकार लक्षणा अर्थनिष्ठ ही होती है। शब्द मे तो वह आरोपित व्यापार है। लक्ष्यार्थ के पूर्व मुख्यार्थ का व्यवधान रहता है । शब्द से सीधे लक्ष्यार्थ तक नही पहुँचा जा सकता। 'गङ्गाया घोष' मे 'गङ्गा' पद एकाकी लक्ष्यार्थबोध नही करा सकता । प्रथमत उससे प्रवाह रूप मुख्यार्थ ही उपस्थित होगा तत्पश्चात् लक्ष्यार्थ की ओर प्रवृत्ति होगी।

३. ५. १ *लक्ष्यार्थ की सापेक्षता -*

मुकुलभट्ट ने लक्ष्यार्थ को वक्ता आदि तीन कारण सामग्रियो से सापेक्ष माना था। उसी प्रकार मम्मट ने भी

---

[1] 'गङ्गातट' इत्यादेर्येषा न तथा प्रतिपत्तिस्तेषा पावनत्वादीना तथाप्रतिपादनात्मना प्रयोजनेन च तेन मुख्यार्थेनान्वितो लक्षणीयो लक्षणाव्यापारगोचर । सम्बन्धश्चात्र विवेचकत्वादि सामीप्यादिश्च । (श० व्या० वि०, पृ० ७) ।

[2] (क) मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिताक्रिया। (का० प्र०, पृ० ५४) ।
- - - मुख्येनामुख्योऽर्थो लक्ष्यते यत् स आरोपित शब्दव्यापार सान्तरार्थनिष्ठो लक्षणा। (का० प्र०, पृ० ५७) ।
(ख) आरोपितव्यापार को ही विश्वनाथ अर्पितशक्ति कहते है -
सा शब्दस्यार्पिता स्वभाविकेतरा ईश्वरानुद्भाविता वा शक्तिर्लक्षणा नाम। (सा० द०, पृ० २६) ।

[3] एव वाच्यवाचकार्थनिष्ठौ व्यापारावभिधालक्षणे। (श० व्या० वि०, पृ० ७) ।

वक्ता, वाक्य एव वाच्य के भेद से लक्षणा के अनेक प्रकार माने ह।[1] लक्ष्य अर्थ की इस सापेक्षता का वर्णन 'काव्यप्रकाश' मे नही है। वहॉ वक्ता आदि के वशिष्ट्य से होने वाली आठ प्रकार की आर्थी व्यञ्जनाओ का सोदाहरण एव विस्तृत विवेचन किया गया है।

'शब्दव्यापारविचार' मे लक्ष्यार्थ की सापेक्षता का जो प्रसङ्ग आया ह, उसके दो कारण प्रतीत होते है। प्रथम तो आचार्य मम्मट मुकुलभट्ट से प्रभावित हो लक्ष्य अर्थ की सापेक्षता भी स्वीकार करते है तथा द्वितीय यह कि मुकुल ने वक्ता आदि की सापेक्षता से होने वाली लक्षणा के जो उदाहरण दिये है, उनका खण्डन करना। क्योकि वे तीनो ही उदाहरण जिनमे मुकुलभट्ट ने लक्षणा मानी है, मम्मट के अनुसार ध्वनिकाव्य के उदाहरण है। उनमे लक्षणा हो ही नही सकती। **वक्ता** के वेशिष्ट्य से होने वाली लक्षणा के लिए मम्मट ने उदाहरण दिया है -

उपकृत बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्स्व तत शरदा शतम्॥

इस पद्य मे किसी के अत्यधिक अपकारो से सन्तप्त व्यक्ति की विशेषता के आधार पर अपकारी व्यक्ति की दुर्जनता का लक्षणा से बोध होता है। यहॉ लक्षणा वैपरीत्य सम्बन्ध से हो रही है। जैसे किसी मूर्ख व्यक्ति के लिए 'वृहस्पति' शब्द का प्रयोग करने से उस व्यक्ति मे 'मूर्खत्व' की प्रतीति होती है।[2]

वाक्य के वैशिष्ट्य से होने वाली लक्षणा का उदाहरण है -

धन्यासि या कथयसि प्रियसङ्गमेऽपि
विस्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु
नीवी प्रति प्रणिहिते च करे प्रियेण
सख्य शपामि यदि किंचिदपि स्मरामि।

इसमे 'धन्य हो' इस कथन से 'मै अत्यन्त धन्य हूँ' यह अर्थ लक्षणा द्वारा प्रतीत हो रहा है। यह प्रतीति वाक्य की विशेषता के आधार पर ही हो रही है।[1]

यही पद्य मम्मट ने 'काव्यप्रकाश' के चतुर्थ उल्लास मे ध्वनि-भेदो के प्रसङ्ग मे स्वत सिद्ध वस्तु से अलङ्कार की व्यञ्जना के उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किया है।[2]

---

[1] वक्तुर्वाक्यस्य वाच्यस्य रूपभेदाद् विभिद्यते। (श० व्या० वि०, पृ० १५)।

[2] बहुभिरपकारैस्ताप्यमानस्य कस्यचिदुक्तिरियम् अतो वक्तृमहिम्ना मूर्खे वृहस्पतिशब्देन मूर्खत्वमिवापकारिणि दुर्जनत्वादि अत्र लक्ष्यते। (श० व्या० वि०, पृ० १५)।

मम्मट के अनुसार **वाच्य** वह व्यक्ति है जिससे कुछ कहा जाये। वाच्य की विशिष्टता से होने वाली लक्षणा का उदाहरण है -

भुवनाभयदानसक्तशक्ते सकलस्वीक्रियमाणसपदस्ते।

न समानधुराधिरोहदोष सुमते कोऽपि कदापि कर्तुमीष्टे॥

यह ऐसे व्यक्ति के प्रति कथन है जो प्राणो से भी प्रिय व्यक्ति को, विपत्ति के समय भी तटस्थ रहकर तृणमात्र भी देने मे असमर्थ है। वह व्यक्ति ही वाच्य है। वाच्य के वैशिष्ट्य से यहाँ लक्षणा हुई है।[३] यह लक्षणा भी वेपरीत्य सम्बन्ध पर आधारित है।

इसी प्रकार वक्ता, वाक्य आदि मे दो - दो की विशेषता से होने वाले तीन अन्य भेद तथा तीनो के सयोजन से होने वाले भेद भी हो सकते है।[४]

वक्ता आदि के स्वाभिमत उदाहरणो को प्रस्तुत करने के अनन्तर आचार्य मम्मट ने मुकुलभट्ट के उदाहरणो की आलोचना की है। यद्यपि इस प्रसङ्ग मे इन्होने मुकुलभट्ट का नामोल्लेख नही किया है किन्तु तीनो ही पद्य 'अभिधावृत्तिमातृका' के है।

मम्मट के अनुसार इन तीनो ही उदाहरणो मे मुख्यार्थ के बाधित न होने के कारण इनमे लक्षणा नही मानी जा सकती। 'दृष्टि हे प्रतिवेशिनि- - -' इत्यादि पद्य मे सम्भावित सभोगचिह्नो का अपह्नव रूप वस्तु व्यङ्ग्य हे लक्ष्य नही ।[५]

द्वितीय पद्य मे मुकुलभट्ट ने अतिशयोक्ति गर्भित उत्प्रेक्षा मानी है। मम्मट यहाँ रूपक अलङ्कार मान रहे है तथा उसे भी इन्होने व्यङ्ग्य कहा है। इनके अनुसार आक्षिप्त अलङ्कार की लक्षणा से प्रतीति नही मानी जा सकती। क्योंकि यदि आक्षिप्त अलङ्कारो को भी लक्ष्य माना जाने लगेगा तब अग्नि लाने के लिए पात्र के आनयन मे भी

---

[१] अत्र धन्यास्मीति लक्ष्यते। वाक्यस्यैवात्र शक्ति। (श० व्या० वि०, पृ० १६)।

[२] धन्याऽसि - - - - ।
अत्र त्वमधन्या अहन्तु धन्येति व्यतिरेकालङ्कार। (का० प्र०, च० उ०, पृ० १७६)।

[३] अत्र प्राणसमस्य व्यसनेऽपि तटस्थ तृणमात्रमपि दातुमसमर्थश्च वाच्य। (श० व्या० वि०, पृ० १६)।

[४] एव द्विकभेदास्त्रय त्रिकभेदश्चैक उदाहार्य। (श० व्या० वि०, पृ० १६)।

[५] नादेयपानीयानयनेन परपुरुषसभोगस्य नडग्रन्थिलेखनेन सभाव्यमाननखदशनक्षताना च निह्नवात्मक वस्तु भवान् हरिरिति रूपकालङ्कार विप्रलम्भशृङ्गारश्च रसो लक्ष्यत इति नोदाहार्य मुख्यार्थस्य बाधाभावात्। (श० व्या० वि०, पृ० १८)।

लक्ष्यता माननी होगी।[1] जब कि अग्नि के आनयन मे पात्र का लाना भी जुडा रहता है। 'ध्वन्यालोक' मे भी शब्द के द्वारा अनुक्त किन्तु शब्दशक्ति के द्वारा ही आक्षिप्त अलङ्कार को शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि कहा गया है।[2]

मम्मट ने अलङ्कारो को अभिधान का ही प्रकार माना है। पण्डितराजजगन्नाथ ने भी 'वाच्यसोन्दर्यसारा हि अलङ्कारा' कहकर अलङ्कारो को वाच्यनिष्ठ माना है। जहाँ ये अलङ्कार आक्षिप्त होते है वहाँ लक्षणा से इनकी प्रतीति नही होती वरन् ये व्यङ्ग्य होते है। अलङ्कारो के स्थल मे जहाँ व्यङ्ग्य की सत्ता होती भी है वहाँ प्रधानता अलङ्कारो की ही रहती है। ध्वनि-काव्य मे व्यङ्ग्य वाच्यातिशायी होता है, अत वहाँ यदि अलङ्कार व्यङ्ग्य होकर प्रधान होते है तब वे अलङ्कार न होकर 'अलङ्कार्य' होते है। 'ब्राह्मणश्रमणन्याय' से उन्हे 'अलङ्कार' कह दिया जाता है।[3] अर्थात् जैसे कोई व्यक्ति पूर्व मे ब्राह्मण था, किन्तु बाद मे बौद्ध भिक्षु हो जाता है। बौद्ध हो जाने के पश्चात् यद्यपि वह ब्राह्मणत्वादि से मुक्त हो जाता है तथापि पहले के आधार पर वह 'ब्राह्मणश्रमण' ही कहलाता है। उसी प्रकार वाच्य दशा मे अलङ्कार कहलाने के कारण जहाँ अलङ्कार व्यङ्ग्य एव प्रधान होते है वहाँ भी उन्हे 'अलङ्कार' ही कह दिया जाता है।

मुकुलभट्ट प्रदत्त 'दुर्वारा मदनेषवो- - -' इत्यादि वाच्य की सापेक्षता से होने वाली लक्षणा के उदाहरण मे विप्रलम्भ शृङ्गार व्यङ्ग्य है लक्ष्य नही। बाधित वाच्यार्थ से रसप्रतीति नही हो सकती। मम्मट रस को सदा व्यङ्ग्य ही मानते है। लक्षणा मे मुख्यार्थ या वाच्यार्थ का बाध अनिवार्य है। रस असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य होता है। यदि पूर्व मे मुख्यार्थ का बाध हो तो रस प्रतीति मे व्यवधान होगा।

इस प्रकार मुकुलभट्ट के तीनो ही उदाहरणो मे मुख्यतया मुख्यार्थबाध का अभाव दर्शाते हुए मम्मट ने उनमे लक्षणा का निषेध किया है। यद्यपि मुकुलभट्ट ने भी मुख्यार्थबाध को लक्षणा का हेतु माना है किन्तु उसका स्वरूप मम्मट को स्वीकृत मुख्यार्थबाध से भिन्न है। मुकुलभट्ट के अनुसार मुख्यार्थ के अन्य प्रमाण से बाधित होने के कारण उसका अपनाया जाना सम्भव न होना ही मुख्यार्थबाध है। प्रथम अर्थ के बाद बोधित होने वाले सभी अर्थ इनके अनुसार लक्ष्यार्थ ही है।

---

[1] आक्षिप्तस्यालङ्कारस्य लक्ष्यत्वे च वह्न्यानयने पात्रानयनस्य लक्ष्यत्वप्रसङ्गात्। (श० व्या० वि०, पृ० १८)।

[2] आक्षिप्त एवालङ्कार शब्दशक्त्या प्रकाशते।
यस्मिन्ननुक्त शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि स ॥ (ध्व०, द्वि० उ०, २१, पृ० १६०)।

[3] अलङ्कार्यस्यापि ब्राह्मणश्रमणन्यायेनालङ्कारता। (का० प्र०, च० उ०, पृ० १७२)।

३.५ २ मम्मट के अनुसार निरुढा, प्रयोजनवती एव अकार्या लक्षणाएँ -

मम्मट ने भी निरूढा एव प्रयोजनवती, जिसे वे 'कार्या' लक्षणा कहते है, के साथ 'अकार्या' लक्षणाओ का विवेचन किया है।[1]

निरूढा लक्षणा के उदाहरणस्वरूप 'शब्दव्यापारविचार' मे 'अनुलोम' तथा 'प्रतिकूल' शब्द दिये गये है। इनके मुख्यार्थ (रोम के अनुरूप मालिश तथा तट के विपरीत) लक्ष्यार्थ मे ही वाचक के समान रूढ हो जाते है इसलिए इन्हे निरूढा लक्षणा कहा जाता है।[2]

'कार्या' अर्थात् प्रयोजनवती लक्षणाएँ है जो किसी प्रयोजन के रहने पर की जाती है। जैसे -

रविणा हृतसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डल ।

निश्श्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते॥

तथा - स पुरुष स च जीवति सत्कृत जगति यस्य पराक्रमसभृतम्।

भ्रमति सूर्यकरै सह गामिमामभिनवोदितपल्लवित यश ॥

इनमे 'अन्ध' आदि शब्दो की वाच्यार्थ से सगति नही होती, इस कारण उसका अत्यन्त तिरस्कार हो जाता है तथा लक्षणा से 'कान्तिरिक्तता' का बोध होता है। इस लक्षणा का प्रयोजन है कान्तिहीनता का प्रतिपादन जो व्यञ्जनालभ्य है।[3]

इसी प्रकार दूसरे उदाहरण मे 'पुरुष' शब्द अपने साथ रहने वाले पराक्रम आदि धर्मों का लक्षणा से बोध कराते है। यहाँ उन धर्मों की अनन्तता का व्यञ्जना से बोध होता है क्योंकि वही लक्षणा का प्रयोजन है। इसमे वाच्य अर्थ दूसरे अर्थ मे सक्रान्त हो जाता है।[4]

जहाँ रूढि के अनुकरण पर किसी शब्द की कल्पना करके लक्षणा की जाती हे वे 'अकार्या' लक्षणाएँ होती है तथा वे प्रयोजनीय नही होती। जैसे दो रेफो के सम्बन्ध से द्विरेफ शब्द 'भ्रमर' शब्द को अभिधेय बनाते हुए 'षट्पद'

---

[1] निरूढा काचनान्या तु कार्या सा काचिदन्यथा। (श० व्या० वि०, पृ० २३)।

[2] अनुलोमप्रतिकूलादिशब्देषु काचन सा वाच्यमर्थ परिहृत्य लक्ष्य एवार्थे वाचकवन्निरूढा। (श० व्या० वि०, पृ० २३)।

[3] इत्यादावन्धादिशब्देषु अनुपपद्यमानत्वाद् वाच्यमत्यन्ततिरस्कृतम् इति विच्छायत्वस्य लक्षितस्यासामान्यत्व व्यङ्ग्यम् । (श० व्या० वि०, पृ० २४)।

[4] इत्यादौ पुरुषशब्दोऽनुपयुज्यमानत्वाल्लक्षितस्वगतपराक्रमादिधर्मव्यङ्ग्यतदान्त्य सक्रमितवाच्य। (श० व्या० वि०, पृ० २४)।

अर्थ के लिए लक्षणा द्वारा प्रयुक्त होता हे उसी प्रकार 'द्विक' आदि शब्द का प्रयोग 'कोकिल' आदि के लिए किया जा सकता हे। इस प्रकार की लक्षणाएँ प्रयोग के योग्य नही होती।[1]

३ ५ ३ *लक्ष्यार्थ का मुख्यार्थ से सम्बन्ध* -

लक्ष्यार्थ का मुख्यार्थ से सम्बन्ध रूप हेतु के प्रकारो के लिए मम्मट ने भी मुकुलभट्ट द्वारा उद्धृत भर्तृमित्र की कारिका प्रस्तुत की है। किन्तु जहाँ मुकुलभट्ट ने भर्तृमित्र का नाम लिया ह वही मम्मट ने नामोल्लेख नही किया हे।[2]

पॉच प्रकार के सम्बन्धो मे अभिधेय के साथ सम्बन्ध रूप से होने वाली लक्षणा का उदाहरण हे 'द्विरेफ'। द्विरेफादि शब्दो के अभिधेय अर्थ होते हे 'भ्रमर' आदि शब्द (जो दो रेफ से युक्त होते है), उन अभिधेय शब्दो का सम्बन्ध रहता हे भौंरे से। अत लक्षणा द्वारा 'द्विरेफ' से 'भौरा' अर्थ बोधित होता है।[3]

सादृश्य से होने वाली लक्षणा का उदाहरण है 'सिहो माणवक' तथा -

वर्षे समस्त एवैक श्लाघ्य कोऽप्येष वासर

दिनैर्महत्तयान्वेयो यो न पूर्वैर्न चापरै ॥[4]

इस पद्य मे 'दिवस' की उसके सदृश 'महापुरुष' मे लक्षणा हुई है। यहाँ गुणो के सादृश्य के कारण ही लक्षणाएँ हुई हे।

समवाय सम्बन्ध को सामीप्य एव साहचर्य रूप से मानकर इनके क्रमश उदाहरण दिये गये है - 'गङ्गाया घोष' तथा 'छत्रिणो यान्ति'।[5]

---

[1] रेफद्वयानुगतभ्रमरादिशब्दाभिधेयत्वे द्विरेफशब्द षट्पदे यथा प्रयुज्यते तथा कोकिलादौ द्विक इत्यादिका 'अन्यथा' न प्रयोज्या। (श० व्या० वि०, पृ० २४)।

[2] यश्च सम्बन्धो लक्षाणाया निमित्त त पञ्चविधमाहु। यथोक्तम् -
अभिधेयेन सम्बन्धात् सादृश्यात् समवायत।
वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता॥ (श० व्या० वि०, पृ० ३०)।

[3] तत्र द्विरेफादिशब्दस्य भ्रमरादि शब्दोऽभिधेय। तत्सबन्धात् तेन षट्पदो लक्ष्यते इति अभिधेयसम्बन्धनिमित्तता। (श० व्या० वि०, पृ० ३०-३१)।

[4] अत्र प्रकरणवशाद् महापुरुष कश्चिल्लक्ष्यते यस्य पूर्वे भाविनो वा पुरुषा न समानत्वमुपयन्ति। (श० व्या० वि०, पृ० ३०)।

[5] समवाय उक्तसम्बन्धेभ्योऽन्य।
सामीप्याद् 'गङ्गाया घोष' इति
साहचर्यात् 'छत्रिणो यान्ती'-ति। अत्र हि छत्रिसाहचर्यादच्छत्रा अप्येव व्यपदिश्यन्ते। (श० व्या० वि०, पृ० ३०)।

वेपरीत्य सम्बन्ध से होने वाली लक्षणा का उदाहरण हे किसी भीरु को 'परशुराम' कह देना।[1]

क्रियायोग से होने वाली लक्षणा के लिए मम्मट ने भी मुकुलभट्ट प्रदत्त पद्य ही प्रस्तुत किया हे-

पृथुरसि गुणै कीर्त्या रामो नलो भरतो भवान्

महति समरे शत्रुघ्नस्त्व तथा जनक स्थिते।

इति सुचरितैर्मूर्त्ति बिभ्रत् पुरातनभूभृता

कथमसि न मान्धाता देव त्रिलोकविजय्यपि॥[2]

इन उदाहरणो मे 'गङ्गाया घोष' को मुकुलभट्ट ने अभिधेय सम्बन्ध से होने वाली लक्षणा मे भी दिया हे ओर उसे उन्होने समीपसमीपिभावात्मक माना है।

इन पाँचो प्रकार के सम्बन्धो के अतिरिक्त 'शब्दव्यापारविचार' तथा 'काव्यप्रकाश' दोनो ही ग्रन्थो मे मम्मट ने शुद्धा एव गौणी लक्षणा के भेद के प्रसङ्ग मे सम्बन्ध के दो वर्ग माने है - सादृश्य सम्बन्ध तथा सादृश्येतरसम्बन्ध। सादृश्य से भिन्न स्थलो मे होने वाली लक्षणा कही कार्य-कारण रूप से होती है जैसे 'आयुर्घृतम्' तो कही तादर्थ्य उपचार से जैसे 'इन्द्रार्थास्थूणा इन्द्र'। यहाँ इन्द्र के लिए बनाई हुई स्थूणा को इन्द्र कह दिया गया है। कही 'स्वस्वामिभाव' सम्बन्ध से भी लक्षणा होती है जैसे राजकीय अथवा राजा के विशेष कृपापात्र पुरुष को 'राजा' कह देना। 'अवयव-अवयविभाव' सम्बन्ध से भी लक्षणा होती है जैसे 'अग्रहस्त, यहाँ हाथ के केवल अग्रभाग के लिए 'हस्त' शब्द का प्रयोग कर दिया गया हे। 'तात्कर्म्य (उस कर्म के करने के कारण) सम्बन्ध' से भी कही कही लक्षणा होती है। उदाहरणार्थ जो व्यक्ति बढई जाति का नही है, उसे बढई का कार्य करने के कारण 'तक्षा' कह देना। उसके कार्य की निपुणता ही यहाँ लक्षणा का प्रयोजन है।[3]

इससे यही प्रतीत होता है कि सम्बन्धो के द्विविध वर्गो की चर्चा करके भी पाँच प्रकारो के सम्बन्धो का विवेचन मम्मट ने मुकुलभट्ट की मान्यता को स्वीकृति देने के लिए ही किया है।

---

[1] वैपरीत्याद् यथा 'कातरे भार्गव' इति। (श० व्या० वि०, पृ० ३०)।

[2] अशत्रुघ्नेऽपि शत्रुहननक्रियायोगाच्छत्रुघ्नत्वेन व्यपदेश। (श० व्या० वि०, पृ० ३१)।

[3] 'आयुर्घृतम्' 'आयुरेवेदम्' इत्यादौ सादृश्यादन्य कार्यकारणाभावादि पर सम्बन्ध।
क्वचित् तादर्थ्यादुपचार यथा इन्द्रार्था स्थूणा इन्द्र क्वचित् स्वस्वामिभावात् यथा राजकीय पुरुषो राजा, क्वचिदवयवावयविभावाद् यथा अग्रहस्त इत्यत्राग्रमात्रावयवे हस्त क्वचित् तात्कर्म्यात् यथा अतक्षा तक्षा। (श० व्या० वि०, पृ० १४)।

३ ५ ४ अभिधा एव लक्षणा का पौर्वापर्य -

अभिधा एव लक्षणा के पोर्वापर्य पर विचार करने के लिए मम्मट ने भी मुकुलभट्ट के अनुसार ही अभिहितान्वयवाद, अन्विताभिधानवाद, समुच्चयवाद तथा अखण्डार्थवाद की चचा की है।

३ ५ ४ १ अभिहितान्वयवाद -

लक्षणा अभिहितान्वयवाद मे अभिधा के पश्चात् होती हे। वाक्य से जो वाक्यार्थबोध होता है वह अभिधा से नही अपितु तात्पर्य-शक्ति से होता है। वाक्यार्थ के विशेषरूप होने से उसमे सङ्केत-ग्रह मानने पर आनत्य तथा व्यभिचार दोष उत्पन्न हो जाएँगे, इसी प्रकार वाक्य मे प्रथमत सामान्य रूप से पदो का अर्थ अभिहित होता हे उसके पश्चात् आकाङ्क्षा आदि के द्वारा उनका परस्पर अन्वय होता है तदनन्तर उनमे सम्बन्धकृत वैशिष्ट्य आता हे। यह विशिष्टता किसी पद का नही, अपितु वाक्य का अर्थ होती है जो तात्पर्य-शक्ति से उत्पन्न होती है। यही अभिहितान्वयवाद है। इस पक्ष मे अभिधा पहले आती है और अन्वय मे बाधा उत्पन्न होने पर लक्षणा उसके बाद आती है।[1]

'अभिहितान्वयवाद' कुमारिलभट्ट का सिद्धान्त माना जाता है। यद्यपि इन्होने वाक्यार्थ का बोध अभिधा से नही माना है तथापि इनके ग्रन्थो मे कही भी 'तात्पर्यशक्ति' का नाम नही मिलता है। मम्मट द्वारा उल्लिखित 'तात्पर्यशक्ति' का मूल कहाँ है यह स्पष्ट नही हो सका है। 'काव्यप्रकाश' मे भी 'तात्पयार्थोऽपि केषुचित्' कहकर इन्होने कतिपय विद्वानो को तात्पर्यशक्ति को मानने वाला बताया है किन्तु ये विद्वान् कौन हे इसे स्पष्ट नही किया है। 'काव्यप्रकाश' के कुछ टीकाकार 'केषुचित्' से मीमासको का ग्रहण मानते है,[2] किन्तु भीमसेनदीक्षित ने 'तात्पर्यवृत्ति' को मीमासको का नही अपितु नैयायिको का मत माना है।[3]

मीमासाशास्त्र के किसी भी प्राचीन ग्रन्थ मे 'तात्पर्यवृत्ति' का स्पष्ट शब्दो मे कही भी उल्लेख नही मिलता, किन्तु व्याख्याकारो ने 'तात्पर्यवृत्ति' को मीमासको की ही वृत्ति माना है। 'श्लोकवार्तिक' की 'न्यायरत्नाकर' टीका मे

---

[1] इहानन्त्यात् व्यभिचाराच्च वाक्यस्य वाक्यार्थ इव विशेषरूपे पदार्थे पदस्य सङ्केत कर्तुं न पार्यत इति सामान्य एव सङ्केत। आकाङ्क्षा-सन्निधि-योग्यतावशात् सामान्यानामभिहिताना सता अन्वय इति पदार्थाना वैशिष्ट्यम्। एव चापदार्थोऽपि वाक्यार्थ तात्पर्यशक्त्या प्रतिपाद्यते। अत्र पक्षे पूर्वमभिधा ततोऽन्वयबाधे लक्षणा। (श० व्या० वि०, पृ० २६)।

[2] (क) केषुचिदिति। - - - । अभिहितान्वयवादिनामित्यर्थ। (का० प्र०, बा० बो०, पृ० २६)।
(ख) तात्पर्यार्थोऽपि केष्विति। अभिहितान्वयवादिभट्टेष्वित्यर्थ। (का० प्र०, १६टीकाओ सहित, सङ्केत, पृ० १६६)।

[3] (क) केषुचिन्न्यायादिनयेषु न तु मीमासकादिमतेष्वपि। (का० प्र०, १६टीकाओ सहित, सुधासागर, पृ० १७३)।
(ख) केषुचिदिति। प्राचीननैयायिकमतेष्वित्यर्थ। (का० प्र०, १६टीकाओ सहित, आदर्श, पृ० १७३)।

पार्थसारथिमिश्र ने 'तात्पर्य' शब्द का प्रयोग किया है।[1] साहित्यदपर्णकार ने भी 'तात्पर्यवृत्ति' को मीमासको की ही वृत्ति कहा है।[2] मुकुलभट्ट ने अभिहितान्वयवाद का जो स्वरूप प्रस्तुत किया ह उसमे कही भी 'तात्पर्यवृत्ति' का नाम नही लिया है। अभिधा से कथित न होने वाले अर्थ का आक्षेप लक्षणा से ही हो जाता है।

मम्मट के पूर्व अभिनवगुप्त ने 'लोचन' टीका मे अनेक स्थलो पर 'तात्पर्यवृत्ति' का उल्लेख किया है।[3] अभिनवगुप्त ने व्यञ्जना-सिद्धि के प्रसङ्ग मे ही तात्पर्य-वृत्ति की विवेचना की है।

सम्भवत मम्मट ने भी व्यञ्जनावृत्ति की सिद्धि की भूमिका हेतु ही तात्पर्यवृत्ति का उल्लेख किया है।

३ ५ ४ २ अन्विताभिधानवाद -

यह सिद्धान्त प्रभाकर एव उनके अनुयायियो का है जो कि अभिहितान्वयवाद के घोर विरोधी है।

शब्दव्यापारविचार मे मम्मट ने इसका स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया है - उत्तमवृद्ध के वाक्य को सुनकर, मध्यमवृद्ध के व्यवहार को देखकर श्रोता पहले तो अखण्ड अर्थ के वाचक अखण्ड वाक्य को ही समझता है, उसके पश्चात् ही अन्वय और व्यतिरेक के आधार पर किसी निश्चित अर्थांश को किसी निश्चित वाक्याश का अर्थ मानता है। इस प्रकार सामान्यावच्छादित विशिष्टपदार्थ मे ही पदो का सङ्केत रहता है। इसका अभिप्राय यह है कि पदार्थ स्वरूपत सामान्य होते है किन्तु अन्वय से उनमे वैशिष्ट्य आता है। स्पष्ट है कि अन्वय से युक्त पदार्थो का ही अभिधा से बोध होता है। इस पक्ष मे लक्षणा पहले होती है। अभिधान के पूर्व ही पदार्थो के साथ अन्वयजनित वैशिष्ट्य जुड जाता है। लक्षणा की स्थिति अन्वय के बाधित होने पर ही होती है अत इस पक्ष मे यदि लक्षणा का प्रसङ्ग होता भी है तो वह अभिधान के पूर्व ही हो जाता है।[4]

---

[1] वाक्यार्थे हि शब्दाना तात्पर्यं न पदार्थेषु तेषा प्रमाणान्तरसिद्धत्वात्। अतो यद्यप्यभिधाव्यापार पदार्थेष्वेव पर्यवसित तथापि तात्पर्यव्यापृतेरपर्यवसिताया वाक्यार्थपर्यन्तत्वात् तात्पर्ये शब्दस्य प्रामाण्यात् सिध्यति शब्दे प्रमेयतया वाक्यार्थस्य शाब्दत्वमिति । (श्लो० वा०, पृ० ६४)।

[2] अभिहितान्वयवादिभिरङ्गीकृता तात्पर्याख्या वृत्तिरपि- - - । (सा० द०, प्र० परि०, पृ० १५७) ।

[3] (क) ननु तात्पर्यशक्तिपर्यवसिता विवक्षया दृप्तधार्मिक- - - - -। (ध्व० लो०, प्र० उ०, पृ० ७६) ।
(ख) ततो विशेषरूपे वाक्यार्थे तात्पर्यशक्ति परस्परान्विते - - - (ध्व० लो०, प्र० उ०, पृ० ८०) ।

[4] अन्वितोक्तौ पुन पुर ।
देवदत्त गामानये'- त्याद्युत्तमवृद्धवाक्यश्रवणान्मध्यमवृद्धो विशिष्ट व्यापार करोतीति दृष्ट्वा व्युत्पाद्यमानो निर्विभागेऽर्थे निर्विभाग वाक्य वाचक जानाति। ततो 'यज्ञदत्त गामानये'- त्यादिवाक्यान्तरप्रयोगे सति अन्वयव्यतिरेकाभ्या नियतस्य नियतार्थमवस्यतीति सामान्यावच्छादिते विशिष्ट एव पदार्थे पदाना सङ्केत इत्यन्वितानामेव सताम् अभिधानमिति विशिष्टाना पदार्थता। अत्र पक्षे अभिधाया 'पुर' आदौ लक्षणा विशिष्टस्यैव पदार्थत्वात्। (श० व्या० वि०, पृ० २७-२८)।

न्यायमञ्जरीकार जयन्तभट्ट ने भी लिखा है कि ससृष्ट अर्थ की विवक्षा हेतु ही वक्ता वाक्य का प्रयोग करता है।[1]

३ ५ ४ ३ समुच्चयवाद -

पद की दृष्टि से अभिहितान्वयवाद तथा वाक्य की दृष्टि से अन्विताभिधानवाद, इस प्रकार दोनो वादो का समुच्चय मानने पर वह लक्षणा अभिधा की पूर्ववर्ती भी होती है और पश्चात्वर्ती भी। प्रत्येक वाक्य मे ये दोनो ही पक्ष सम्भव हो सकते है ऐसी दशा मे लक्षणा की भी दोनो ही स्थितिया स्वीकार की जा सकती है[2]

३ ५ ४ ४ अखण्डार्थवाद -

जहाँ वस्तुत अखण्ड वाक्य को ही अखण्ड वाक्यार्थ का वाचक माना जाता है वहाँ वाक्यो मे पदो का कोई अर्थ नही होता इसलिए उस दशा मे लक्षणा होती ही नही है। जिस प्रकार किसी पद मे एक-एक वर्णो का पृथक्-पृथक् कोई अर्थ नही होता वैसे ही अखण्डार्थवादियो के अनुसार वाक्य मे पदो की स्थिति होती है। मम्मट ने एक उदाहरण द्वारा इसे स्पष्ट किया है कि जैसे चाबुक से आहत घोडे के मस्तिष्क मे दौडने की प्रेरणा होती है उसी प्रकार विशिष्ट वाक्य से अखण्डार्थ का बोध प्रतिभा के आधार पर होता है। यह बोध अखण्ड वाक्यार्थस्वरूप होता है। पद, प्रकृति, प्रत्ययादि की कल्पना मिथ्या है। यह उसकी व्यावहारिक स्थिति है। इस दशा मे यदि पद, पदार्थादि की कल्पना की भी जाती है तो उपर्युक्त तीनो पक्ष मान्य होगे एव उनमे लक्षणा की तीन स्थितियाँ होगी।[3]

३. ६ मम्मट के परवर्ती काव्यशास्त्रियो के अनुसार लक्षणा -

लक्षणा सम्बन्धी विभिन्न पक्षो के सन्दर्भ मे अब तक के विश्लेषण से यह तो स्पष्ट ही है कि मुकुलभट्ट इस

---

[1] वक्ता वाक्य प्रयुड्क्ते च ससृष्टार्थविवक्षया।
तथैव बुद्ध्यते श्रोता तथैव च तटस्थित ॥ (न्या० म०, पृ० ३६६)।

[2] द्वये द्वयम् -
पदापेक्षयाभिहितान्वय वाक्यापेक्षयात्वन्विताभिधानमिति द्वय पक्षे 'द्वयम्' अभिधाया पश्चात् पुरस्ताच्च सा। (श० व्या० वि०, पृ० २६)।

[3] अखण्डे तु वाक्यार्थे नास्ति सत्यत ।
वाक्यमेव वाक्यार्थस्य वाचकम्। पदेषु वर्णवद् वाक्येषु हि पदानामनर्थकत्वम् ततश्च लक्षणा नास्त्येव। कशाभिघातात् तुरगस्य यथा प्रेषितो हमनेनधावन इति प्रतिभोदेति तदवत् प्रतिभावशाद् विशिष्टवाक्यात् प्रतिपत्तिरिति सैव वाक्यार्थ। असत्यभूतप्रकृतिप्रत्ययादिकल्पनादविद्यापदे पदार्थकल्पनाया तूक्तेषु त्रय पक्षा। (श० व्या० वि०, पृ० २६)।

विषय मे अपना स्वतन्त्र मत रखते हुए भी अपने पूर्ववर्ती विद्वानो से प्रभावित है तथा मम्मट के लक्षणा विवेचन पर मुकुलभट्ट का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगत होता है। मम्मट की लक्षणानिरूपण-शैली अपने मे विलक्षण ही है। उनका लक्षणा-लक्षण पूर्णतया काव्यशास्त्र के अनुकूल एव उपयोगी है। यही कारण हे कि परवर्ती काव्यशास्त्रियो ने किसी न किसी रूप मे मम्मट के विचारो को अपनाया अवश्य है किन्तु मम्मट के समान लक्षणा का लक्षण कोई भी नही दे सका है। सक्षेप मे कतिपय प्रमुख काव्यशास्त्रियो का लक्षणा-विवेचन उल्लेखनीय है।

साहित्यदर्पणकार **विश्वनाथ**प्रदत्त लक्षणा की परिभाषा तो मम्मट के अत्यधिक निकट है।[1] अन्तर मात्र इतना है कि मम्मट के अनुसार 'आरोपिताक्रिया' लक्षणा है तथा ये लक्षणा को अर्पितशक्ति' मानते है। यह अभिधा की भाँति ईश्वरोद्भावित नही होती अत यह अर्पित अर्थात् कल्पित शक्ति है।

काव्यशास्त्र के दार्शनिक आलङ्कारिको मे **अप्पयदीक्षित** अन्यतम माने जाते है। इनके अनुसार मुख्य अर्थ से सम्बन्ध के आधार पर जब शब्द अर्थ का प्रतिपादन करता है तब वहाँ उस अर्थ की बोधिका शक्ति को लक्षणा कहते है। इन्होने गौणी को लक्षणा का ही एक भेद माना है। इसके अतिरिक्त मुख्यार्थ से परम्परया सम्बन्ध होने पर लक्षणा होती है। इस सम्बन्ध को नैयायिको के अनुसार स्पष्ट करते हुए अप्पयदीक्षित कहते है कि प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए इन्द्रिय और अर्थ का परस्पर सम्बन्ध आवश्यक है। घट के विशेषणरूप तथा उसमे समवाय सम्बन्ध से रहने वाले नील गुण के साथ नेत्र का परम्परया सम्बन्ध होता है। नेत्र और घट-नील के मध्य सयुक्तसमवाय सम्बन्ध होगा। इसलिए परम्परा सम्बन्ध के आधार पर लक्षणा मानी जा सकती है।[2]

पण्डितराजजगन्नाथ ने शक्य सम्बन्ध को लक्षणा कहा है।[3] अर्थात् जिस किसी पद के शक्यार्थ का जिस किसी पद से जो सम्बन्ध होता है, उसे लक्षणा कहते है। पण्डितराज की यह परिभाषा न्यायदर्शन के अनुसार की गई है। किन्तु इन्होने भी मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थ सम्बन्ध एव रूढि अथवा प्रयोजन को लक्षणा का हेतु कहा है। मुख्यार्थ मे

---

[1] मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययाऽन्योऽर्थ प्रतीयते।
रूढे प्रयोजनाद्वाऽसौ लक्षणा शक्तिरर्पिता॥ (सा० द०, प्र० परि०, पृ० २८,२९) ।

[2] अथ लक्षणा निर्णीयते -
सा च मुख्यार्थसम्बन्धेन शब्दस्य प्रतिपादकत्वम् । तत्सादृश्येन प्रतिपादकत्वरूपा गौण्यपि लक्षणाप्रभेद एव, तत्सदृशेऽपि तन्निरूपितसादृश्याधिकरणत्वपरम्परासबन्धसत्त्वात्। न हि 'साक्षात्सम्बन्धे विशिष्टबुद्धियोग्यसम्बन्धे वा सत्येव लक्षणा' इति नियम, चक्षुरादेर्घटनैल्यादिषु सयुक्तसमवायादिवद्विशिष्टबुद्धियोग्यस्य परम्परा सम्बन्धस्यापि प्रत्यासत्तित्वोपपत्ते व्यतिरेकलक्षणास्थले तन्निरूपितविरोधाधिकरणत्वादिपरम्परासम्बन्धमात्रेण तादृशेन लक्षणा क्लृप्तेश्च। (वृ० वा०, पृ० ५०)।

[3] शक्यसम्बन्धो लक्षणा । (र० गङ्गा०, द्वि० आ०(I), पृ० १६२) ।

तात्पर्य की अनुपपत्ति मानी है। गौणी को लक्षणा का ही भेद मानते हुए इन्होने सामीप्य, सादृश्य, कारण-कार्यादि सम्बन्धो को मान्यता प्रदान की है।[१]

'अलङ्कारमहोदधिकार' **नरेन्द्रप्रभसूरि** 'उपचार' को लक्षणा कहते हे तथा इन्होने भी लक्षणा के हेतुत्रय को स्वीकार किया हे। यही उपचार रूपकादि अलङ्कारो का मूल है।[२] सम्बन्ध के विषय मे इन्होने मुकुलभट्ट को मान्य पॉच सम्बन्धो मे से चार को ही उल्लिखित किया हे।[३] रूढि को लक्षणा न मानते हुए[४] गौणी को लक्षणा का ही एक भेद स्वीकार किया है।

जैन **आचार्य हेमचन्द्र** ने मुख्य, गौण, लक्षक और व्यञ्जक चार प्रकार के शब्द माने है।[५] इससे स्पष्ट है कि ये गौणी को लक्षणा से भिन्न वृत्ति मान रहे है। गुणो से होने के कारण ही अर्थ गौण होता हे तथा उसका विषय अर्थात् शब्द भी गौण कहलाता है। इन्होने रूढि से होने वाली लक्षणा को नही माना है।[६]

शृङ्गारप्रकाशकार **भोज** ने गौणीवृत्ति को लक्षणा से पृथक् माना हे। मुख्यार्थ की अनुपपत्ति होने पर शब्द अपने मुख्यार्थ से सम्बद्ध अर्थ का बोध लक्षणा व्यापार द्वारा ही करता है। शौर्यादि गुणो के योग से अन्यार्थ बोध कराने वाली वृत्ति गौणी हे।[७]

३.७ मुख्यार्थबाध - अन्वयानुपपत्ति या तात्पर्यानुपपत्ति -

लक्षणा की प्रक्रिया मे मुख्यार्थ का बाधित होना अनिवार्य माना गया हे। इस विषय मे यह समस्या उपस्थित

---

[१] 'गङ्गाया घोष' इत्यत्र सामीप्यम्, 'मुखचन्द्र' इत्यादौ सादृश्यम्, व्यतिरेकलक्षणाया विरोध आयुर्घृतम् इत्यादौ कारणत्वादयश्च सम्बन्धा यथायोग लक्षणाशरीराणि। (र० गङ्गा०, द्वि० आ० (I), पृ० १६४-१६५)।

[२] कथञ्चिल्लब्धबाधस्य तत्प्रत्यासत्तिशालिनि।
मुख्यार्थस्य सामान्यमन्यार्थेऽतिशयाय यत्।
शब्देनारोप्यते सेयमुपचारविचित्रता
रूपकादीनलङ्कारान् या प्रसूते रसोत्तरान्॥ (अ० म०, पृ० ३२)।

[३] अभिधेयेन सम्बन्धात् सादृश्याद् वैपरीत्यत
क्रियायोगाच्च तामाहु प्रत्यासत्ति चतुर्विधाम्। (अ० म०, पृ० ३३)।

[४] रूढिलक्षणा त्वभिधातुल्यैव तेनात्र नोदाहृयत। (अ० म०, पृ० ३३)।

[५] मुख्यागौणलक्ष्यव्यङ्ग्यार्थभेदान्मुख्यगौणलक्षकव्यञ्जका शब्दा। (काव्यानुशासनम्, पृ० २६)।

[६] कुशलद्विरेफद्विकादयस्तु साक्षत्सङ्केतविषयत्वान्मुख्या एवेति। न रूढिर्लक्ष्यस्यार्थस्य हेतुत्वेनास्माभिरुक्ता। (काव्यानुशासनम्, पृ० ३०)।

[७] शृङ्गारप्रकाश, सप्तम केवलशब्दशक्तिप्रकाश। (पृ०, २२६, २४६)।

होती है कि मुख्यार्थबाध का स्वरूप क्या है ? बाध मे अन्वय की अनुपपत्ति होती है या तात्पर्य की ? नागेशभट्ट ने तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा का बीज स्वीकार किया है। इनके अनुसार अन्वयानुपपत्ति को लक्षणा का हेतु मानने पर 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' मे लक्षणा नही हो सकेगी क्योकि यहाँ अन्वय की अनुपपत्ति न होते हुए भी वक्ता का तात्पर्य 'काक' से सभी 'दध्युपघातक जीवों' से है। यदि अन्वयानुपपत्ति ही माने तो यहाँ लक्षणा निरवकाश हो जाएगी। नागेश के अनुसार अन्य उदाहरण भी है जिनमे तात्पर्य की अनुपपत्ति से ही लक्षणा होती है। 'गङ्गाया घोष' मे 'घोष' पद की गङ्गा मे रहने वाले मकर आदि प्राणी मे लक्षणा मानकर भी अन्वय की उपपत्ति हो जाती तथा 'गङ्गाया पापी गच्छति' वाक्य मे गङ्गा पद का लक्ष्यार्थ 'नरक' मानकर अनुपपत्ति का परिहर हो जाएगा जबकि यहाँ वक्ता का तात्पर्य पूर्व मे किए गये पापो वाला पुरुष स्नानार्थ गङ्गा मे जाता है, इस अर्थ मे है। इसके अतिरिक्त 'नक्षत्र दृष्ट्वा वाच विसृजेत' यहाँ वक्ता का तात्पर्य नक्षत्र-दर्शन-योग्य-काल अर्थात् रात्रि से है। कालविशेष को बताने के लिए यह लक्षणा की गई है। कभी-कभी दिन मे नक्षत्र दिखाई दे जाते है परन्तु उस समय मौन भग नही किया जाता । इस प्रकार तात्पर्यानुपपत्ति ही लक्षणा का कारण है।[1]

मुकुलभट्ट एव मम्मट ने मुख्यार्थबाध का क्या अर्थ लिया है यह शब्दत नही कहा। उनकी लक्षणा-प्रक्रिया को देखकर ही इस विषय मे कुछ कहा जा सकता है। मुकुलभट्ट के ग्रन्थ के कुछ उदाहरण, जिनमे उन्होने लक्षणा मानी है, मम्मट वहाँ मुख्यार्थबाध के अभाव मे लक्षणा का निषेध कर रहे है। इससे तो यही सिद्ध होता है कि मुकुलभट्ट ने क्रिया-कारकादि से अन्वय की बाधा न होते हुए भी वक्ता के अभिप्राय मे बाधा मानी है। लक्षणा के हेतु मे 'मुख्यार्थासम्भव' का अभिप्राय तात्पर्य की अनुपपत्ति ही है क्योंकि मुकुलभट्ट प्रदत्त लक्षणा के समस्त उदाहरणो मे अन्वयेन बाध ही हो, ऐसा नही है। मीमासको की भाँति मुकुलभट्ट भी तो एकमात्र अभिधाशक्तिवादी है । एक ही अभिधाव्यापार तात्पर्य की समाप्तिपर्यन्त रहती है। इनकी लक्षणा भी तो अभिधा का ही भेद है। ध्वनिवादी आचार्य जिस वस्तु, अलङ्कार, रस मे लक्षणा नही मानते, उसे भी मुकुलभट्ट लक्ष्य ही कहते है। इनके लाक्षणिक अर्थ मे सभी तात्पर्यभूत अर्थ समाहित हो जाते है। वक्ता के अभिप्राय की समाप्ति के पश्चात् ही लक्षणा विश्रान्त होती है।

मम्मट ने 'शब्दव्यापारविचार' मे एक स्थान पर अभिहितान्वयवाद की व्याख्या मे एक वाक्य लिखा है -'ततोऽन्वयबाधे लक्षणा' इससे तो यही प्रतीत होता है कि अन्वय की बाधा इन्हे स्वीकृत थी। किन्तु काव्यप्रकाश के

---

[1] वस्तुतस्तु तात्पर्यानुपपत्तिप्रतिसन्धानमेव तद्बीजम्। अन्यथा गङ्गाया घोष इत्यादौ घोषादिपदे एव मकरादिलक्षणापत्तिस्तावताऽप्यन्वयानुपपत्तिपरिहारात्। गङ्गाया पापी गच्छतीत्यादौ गङ्गापदस्य नरके लक्षणापत्तेश्च। अस्माक तु भूतपूर्वपापावच्छिन्नलक्षकत्वे तात्पर्यान्नदोष। 'नक्षत्र दृष्ट्वा वाच विसृजेद्' इत्यत्रान्वयसम्भवेऽपि तात्पर्यानुपपत्त्यैव- लक्षणास्वीकारात्। (प० ल० म०, पृ० ५०) ।

प्रमुख टीकाकारो ने मम्मट के अनुसार भी तात्पर्यानुपपत्ति को ही लक्षणा का बाज माना ह। इन टीकाकारो मे वामन[1] परमानन्दचक्रवर्ती[2] तथा भीमसेनदीक्षित[3] आदि प्रमुख हे।

शब्दो का प्रयोग विवक्षित अर्थ की प्राप्ति के लिए ही किया जाता ह अत अर्थप्रतीति मे तात्पर्य का महत्त्व देना युक्तिसङ्गत ही है। वस्तुत तो 'मुख्यार्थबाध' का अर्थ 'मुख्यार्थ की अविवक्षा' ही है क्योकि लक्षणा के स्थलो मे वक्ता को मुख्य अर्थ की विवक्षा नही रहती । यही कारण है कि आनन्दवर्धन एव मम्मटादि ध्वनिवादियो ने लक्षणामूलक ध्वनि मे मुख्यार्थ को अविवक्षित बताया हे।

नव्य नैयायिक **विश्वनाथपचाननभट्टाचार्य** ने तो लक्षणा की परिभाषा मे ही तात्पयानुपपत्ति का उल्लेख किया है। इनके अनुसार भी यदि अन्वयानुपपत्ति ही लक्षणा का कारण माना जाए तो 'यष्टी प्रवेशय' इत्यादि स्थलो मे लक्षणा नही हो सकेगी क्योकि लाठियो के प्रवेश मे अन्वय उपपन्न हो सकता है किन्तु वहाँ वक्ता का तात्पर्य 'भोजनार्थ प्रवेश' है इसी तात्पर्य की अनुपपत्ति होने पर यहाँ लक्षणा होती है।[4]

वेदान्तपरिभाषाकार **धर्मराजाध्वरीन्द्र** ने भी तात्पर्य की अनुपपत्ति को ही मान्यता दी है।[5]

---

[1] 'मुख्यार्थबाधश्च शक्यतावच्छेदकरूपेण तात्पर्यविषयान्वयबाध' इति प्रभाया व्याख्यातम् ---।
एतेन तात्पर्यानुपपत्तिरेव लक्षणाबीज नत्वन्वयानुपपत्तिरिति सूचितम्। (का० प्र०, बा० बो०, पृ० ४१)।

[2] तथा हि तात्पर्यानुपपत्तौ लक्षणाया आवश्यकत्वेन यथाकथञ्चित् सम्बन्धस्य सुवचत्वात् तदभावे तु मुख्यार्थबाधविरहेणैव लक्षणाया अप्रसङ्गात्। (का० प्र०, १६ टीकाओ सहित, विस्तारिका, पृ० २५३)।

[3] कुश लातीति यौगिकार्थो मुख्य दक्षान्वये तात्पर्यमिति मुख्यार्थबाध इति भाव। (का० प्र०, १६टीकाओ सहित, सुधासागर, पृ० २५८)।

[4] परन्तु यद्यन्वयानुपपत्तिर्लक्षणाबीज स्यात् तदा यष्टी प्रवेशयेत्यत्र लक्षणा न स्यात् यष्टिषु प्रवेशान्वयस्यानुपपत्तेरभावात्। तेन तत्प्रवेशे भोजनतात्पर्यानुपपत्त्या यष्टिधरेषु लक्षणा। (न्या० सि० मु०, शब्दप्रामाण्यनिरूपणम्, पृ० ४६)।

[5] लक्षणाबीज तु तात्पर्यानुपपत्तिरेव नत्वन्वयानुपपत्ति काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्यत्रान्वयानुपपत्तेरभावात्। गङ्गाया घोष इत्यादौ तात्पर्यानुपपत्तेरपि सम्भवात्। (वे० परि०, पृ० १२६)।

लक्षणा के भेद

सस्कृत काव्य-शास्त्र मे लक्षणा के भेदो के विषय मे भिन्न-भिन्न मत एव दृष्टिकोण रहे है। सर्वप्रथम मुकुलभट्ट के ग्रन्थ मे ही इसका व्यवस्थित एव स्पष्ट ढग से वर्गीकरण देखने को मिलता है। इसके पूर्व मीमासा तथा न्याय-दर्शन मे कही-कही लक्षणा के भेदो की चर्चा हुई है। जैमिनि-सूत्रो मे अमुख्यवृत्ति के दो रूप मिलते है - गौणी एव लक्षणा।[1] कुमारिलभट्ट ने भी प्रयोजनवती तथा निरूढा लक्षणा के निरूपण मे लक्षणा के भेद को ही दर्शाया है।[2]

मुकुलभट्ट के पूर्ववर्ती आनन्दवर्धन के ग्रन्थ मे ध्वनि-स्थापना के प्रवाह मे ही लक्षणा का विवेचन हुआ है। इन्होने स्पष्ट रूप से कही भी लक्षणा का भेद नही किया है किन्तु इनके ग्रन्थ मे प्रसङ्गत इसके विभिन्न प्रकार दृष्टिगत अवश्य होते है। 'ध्वन्यालोक' मे रूढा लक्षणा के उदाहरण के रूप मे लावण्यादि शब्द का उल्लेख मिलता है।[3] तथा जिस फल या प्रयोजन के उद्देश्य से लक्षणा की जाती है उसकी प्रतीति व्यञ्जना से ही दर्शायी गई है।[4] इससे यही सिद्ध होता है कि आनन्दवर्धन निरूढा एव प्रयोजनवती लक्षणा के रूप मे इसके भेदो से अवश्य परिचित थे।

'ध्वन्यालोक' मे अविवक्षितवाच्य ध्वनि अथवा लक्षणामूलक ध्वनि के भेद मिलते है अर्थान्तरसक्रमित तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। इनमे प्रथम मे मुख्य अर्थ अपनी प्रतीति का परित्याग किये विना ही अन्य अर्थ की प्रतीति

---

[1] (क) अहीनो वा प्रकरणाद्गौण। (मी० सू०, ३/३/१५)।
(ख) स्याच्छ्रुतिलक्षणे नियतत्वात्। (मी० सू०, ६/३/३४)।

[2] निरूढा लक्षणा काश्चित् सामर्थ्यादभिधानवत्
क्रियन्ते साम्प्रत काश्चित् काश्चिन्नैव त्वशक्तित। (त० वा०, ३/१/१२)।

[3] रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दा स्वविषयादपि
लावण्याद्या प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पद ध्वने॥ (ध्व०, प्र० उ०, पृ० २७१)।

[4] मुख्या वृत्ति परित्यज्य- - - - - -। (ध्व०, प्र० उ०, पृ० २७६)।

कराता है। दूसरे मे, लक्षणीय अर्थ रूप मे परिणत होकर ही लक्ष्यार्थ होता हे- जैसे 'गङ्गाया घोष' मे।[1] लक्षणा की ये दो स्थितियाँ ही इसके दो भिन्न प्रकारो का सङ्केत देती है।

४ १ मुकुलभट्ट के अनुसार लक्षणा के भेद -

मुकुलभट्ट ने अभिधा के जो दस प्रकार माने है[2] उनमे जात्यादि प्रथम चार तो मुख्य कहलाते है। लाक्षणिक अभिधा व्यापार के भी छ भेद इन्होने किये है। प्रथमत तो शुद्धा एव उपचारमिश्रा रूप से लक्षणा के दो वर्ग हुए तदनन्तर उपादान तथा लक्षण-लक्षणा रूप से शुद्धा लक्षणा दो अवान्तर भेदो मे बाँटी गई। पुन उपचारमिश्रा के शुद्ध एव गौण दो भेद करके उनमे प्रत्येक के अध्यारोप एव अध्यवसान के आधार पर दो-दो भेद होते है।[3] इस प्रकार शुद्धा लक्षणा के दो भेद तथा उपचारमिश्रा के चार भेदो को मिलाकर लक्षणा के कुछ छ प्रकार हो जाते है।[4] मुकुलभट्ट के लक्षणा-भेदो को चित्र सख्या (१) द्वारा समझा जा सकता हे।
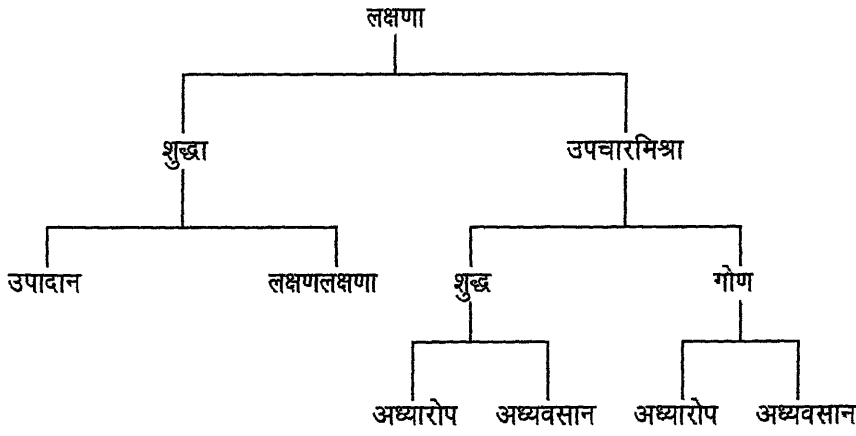
चित्र सख्या (१) मुकुलभट्ट के अनुसार लक्षणा-भेद ।

---

[1] यद्‌गुणवृत्तौ यदार्थोऽर्थान्तरमुपलक्षयति तदोपलक्षणीयार्थात्मना परिणत एवासौ सम्पद्यते। यथा 'गङ्गाया घोष' इत्यादौ। (ध्व०, तृ० उ०, पृ० ३१७) ।

[2] इत्येतदभिधावृत्त दशधाऽत्र विवेचितम्। (अ० वृ० मा०, पृ० ७२) ।

[3] शुद्धोपचारमिश्रत्वाल्लक्षणा द्विविधा मता
उपादानाल्लक्षणाच्च शुद्धा सा द्विविधोदिता।
आरोपाध्यवसानाभ्या शुद्धगौणपचारयो
प्रत्येक भिद्यमानत्वादुपचारश्चतुर्विध। (अ० वृ० मा०, पृ० ११-१५) ।

[4] एतेन चतुर्विधोपचारेण सह पूर्वोक्तौ द्वौ लक्षणाभेदौ सकलय्य षट्प्रकारा लक्षणा वक्तव्या। (अ० वृ० मा०, पृ० १८) ।

४ १ १ शुद्धा लक्षणा

शुद्धा लक्षणा के उदाहरण मे मुकुलभट्ट ने 'गङ्गाया घोष' वाक्य प्रस्तुत किया है।[1] जल-प्रवाह मे घोष के प्रति आधारता सम्भव न होने के कारण उसके समीप मे स्थित तट रूपी अर्थ का लक्षणा से ज्ञान होता है।

दूसरे प्रकार की लक्षणा उपचारमिश्रा लक्षणा है। 'उपचार' का अर्थ होता है एक वस्तु को दूसरी वस्तु पर उपचरित अथवा आरोपित करना।[2] जैसे - 'गौर्वाहीक' यहाँ गो शब्द की वाहीक शब्द से अभिन्नता उपपन्न नही हो पाती अत इसका मुख्यार्थ 'गोत्व' बाधित हो जाता है। तब वह गोगत जाड्यमान्द्यादि गुणो के समान जाड्यमान्द्यादि से युक्त वाहीकगत गुणो का लक्षणा से बोध कराता हुआ उससे युक्त वाहीक मे उपचरित हो जाता है। इसी कारण यहाँ उपचारमिश्रा लक्षणा हुई।[3]

४ १ १ १ उपादान लक्षणा -

शुद्धा लक्षणा के दो भेदो मे जहाँ अपनी सिद्धि के लिए अन्य अर्थ का आक्षेप कर लिया जाता है वहाँ उपादान लक्षणा होती है।[4] इसके लिए मुकुलभट्ट ने दो उदाहरण दिये है - 'गौरनुबन्ध्य' तथा 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते'।[5] प्रथम उदाहरण मे 'गो' का मुख्यार्थ 'गोत्व' जाति है वह व्यक्ति के विना यज्ञ का साधन नही बन सकती अत उसके व्यक्ति रूप अर्थ का आक्षेप कर लिया जाता है। यही उपादान है। दूसरे उदाहरण मे देवदत्त का 'स्थूलत्व' प्रतिपाद्य है जो कि दिन मे भोजनाभाव के कारण अनुपपन्न है, अत वह अपनी सिद्धि के लिए उसके (स्थूलत्व के) कारणभूत रात्रिभोजन का आक्षेप कर लेता है। यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि स्थूलत्व को रसायनादि के उपयोग से निष्पन्न क्यो न मान लिया जाए ? मुकुलभट्ट के अनुसार इस वाक्य को उदाहरण के रूप मे रखने का अर्थ ही यही है कि रसायन आदि के उपयोग का अन्य प्रमाण से अभाव है।[6] इसके अतिरिक्त 'स्थूलत्व' रसायनादि के उपयोग का बाधक भी है, क्योकि उसका प्रतिपादन दिन मे भोजन के अभाव के साथ ही हुआ। इसका तात्पर्य यह है कि यदि

---

[1] शुद्धा तावल्लक्षणा 'गङ्गाया घोष' इति । (अ० वृ० मा०, पृ० ११) ।

[2] उपचारमिश्रा तु यत्र वस्त्वन्तर वस्त्वन्तरे उपचर्यते यथा 'गौवाहीक' इति। (अ० वृ० मा०, पृ० ११) ।

[3] अत्र हि गोशब्दो वाहीकशब्देनानुपपद्यमानसामानाधिकरण्याद् बाधितमुख्यार्थ सन् गोगता ये जाड्यमान्द्यादयो गुणा तत्सदृशवाहीकगतजाड्यमान्द्यादिगुणलक्षणाद्वारेण गोगतजाड्यमान्द्यादिगुणसदृशजाड्यमान्द्यादिगुणोपेते वाहीक उपचरित। तेनेयमुपचारमिश्रा लक्षणा। (अ० वृ० मा०, पृ० ११) ।

[4] स्वसिद्ध्यर्थतयाक्षेपो यत्र वस्त्वन्तरस्य तत् उपादान - - - । (अ० वृ० मा०, पृ० १३) ।

[5] यथा 'गौरनुबन्ध्य' इति - - - - । यथा च 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति। (अ० वृ० मा०, पृ० १३) ।

वक्ता के अन्तर्मन मे रसायनादि के उपयोग से ही स्थूलत्व की निष्पन्नता निहित होती तब वह दिन मे भोजन के अभाव का उल्लेख नही करता, जिस प्रकार रात्रि-भोजन का उल्लेख नही किया हे।

उपर्युक्त उदाहरण मे 'रात्रौ भुङ्क्ते' इस शब्द का आक्षेपरूप श्रुतार्थापत्ति माने अथवा रात्रिभोजन रूप कारण का आक्षेप, यहाँ अपने अर्थ की सिद्धि हेतु अर्थान्तर का आक्षेप रूप उपादान भी है।[2]

मीमासको ने अर्थापत्ति नाम से एक पृथक् प्रमाण माना है[3] जिसके दो भेद होते हे - श्रुतार्थापत्ति तथा दृष्टार्थापत्ति। 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' यह अर्थापत्ति प्रमाण का प्रसिद्ध उदाहरण है। यही कारण है कि मुकुलभट्ट ने यह स्पष्ट कर दिया है कि इस उदाहरण मे अर्थापत्ति मानने पर भी इसे उपादान लक्षणा का उदाहरण माना जा सकता है क्योकि इसमे उपादान लक्षणा का लक्षण घटित हो रहा है।

यहाँ प्रसङ्गत अर्थापत्ति प्रमाण का संक्षिप्त विवेचन आवश्यक है। अनुपपद्यमान अर्थ को देखकर उसके उपपादक अर्थ की कल्पना करना अर्थापत्ति प्रमाण कहलाता है। अनुपपद्यमान अर्थ का ज्ञान दो प्रकार से हो सकता है कभी देखकर तो कभी सुनकर।[4] जैसा कि शबरस्वामी ने लिखा है -

अर्थापत्तिरपि दृष्ट श्रुतो वाऽर्थोऽन्यथा नोपपद्यत इत्यर्थकल्पना।[5]

इन्ही दोनो अवस्थाओ के कारण मीमासको ने श्रुतार्थापत्ति एव दृष्टार्थापत्ति रूप से अर्थापत्ति के दो प्रकार माने है। 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' यह उदाहरण दोनो ही प्रकार की अर्थापत्ति का हो सकता है क्योकि यहाँ अनुपपद्यमान अर्थ 'पीनत्व' का ज्ञान सुनकर एव देखकर दोनो प्रकार से हो सकता है। भाट्ट-मत के अनुसार दिन के

---

[1] अत्र हि पीनत्व दिनाधिकरणभोजनाभावविशिष्टतयावगम्यमानमेव कार्यत्वात् स्वसिद्ध्यर्थत्वेन कारणभूत रात्रिभोजनमाक्षेपादभ्यन्तरीकरोति। न हि पीनत्वस्य रसायनाद्युपयोगजन्यता प्रमाणान्तरेण तदभावावसाये सत्येतस्योदाहरणत्वात्। (अ० वृ० मा०, पृ० १३) ।

[2] अत्र च रात्रौ भुङ्क्त इत्येतच्छब्दाक्षेपपूर्वकतया प्रमाणस्यापरिपूरणस्य परिपूरणात् श्रुतार्थापत्तित्व भवतु अथवा कारणस्यैव रात्रिभोजनस्याक्षेप इति सर्वथा स्वसिद्ध्यर्थत्वेनार्थान्तरस्याक्षेपपूर्वकतयान्तर्भावनादुपादानत्वमुपपद्यते। (अ० वृ० मा०, पृ० १३)।

[3] प्रमाणषट्कविज्ञातो यत्रार्थो नान्यथा भवेत्।
अदृष्ट कल्पयेदन्य सार्थापत्तिरुदाहृता। (श्लो० वा०, पृ० ३२०) ।

[4] अनुपपद्यमानार्थदर्शनात् तदुपपादकीभूतार्थान्तरकल्पनमर्थापत्ति । तथाहि 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति दृष्टे श्रुते वा रात्रिभोजन कल्प्यते। (त० भा०, पृ० १३८) ।

[5] शा० भा०, १/१/५ पर ।

भोजनाभाव के होते हुए भी पीनत्व रात्रिभोजन के विना अनुपपन्न है अत 'रात्रौ भुङ्क्ते' इस शब्द की कल्पना कर ली जाती है। प्रभाकर के मत मे यहॉ अर्थ की कल्पना होती है।[1]

श्रुतार्थापत्ति का एक दूसरा उदाहरण दिया जाता है -'विश्वजिता यजेत'। यहॉ किसी अभिलषित फल की कामना के विना यज्ञ की विधि अनुपपन्न होती है । अत वह अपनी सिद्धि के लिए स्वर्गादि इच्छित फल की कामना कर लेता है। यहॉ अनुपपद्यमान अर्थ श्रुत है अत यहॉ श्रुतार्थापत्ति है।

वेदान्तियो ने भी अर्थापत्ति को पृथक् प्रमाण माना है। इससे उपलब्ध ज्ञान को मीमासक एव वेदान्ती विशिष्ट प्रकार का मानते है क्योंकि यह प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द प्रमाण के अन्तर्गत नही आ सकता, यद्यपि नैयायिक इसमे भी व्याप्ति सम्बन्ध दर्शाते हुए इसका अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण मे ही कर लेते है।[2]

मीमासक पद के साथ-साथ वाक्य मे भी लक्षणा मानते है। उपयुर्क्त उदाहरण मे पूरे वाक्य मे ही लक्षणा मानी गई है।

४ १ १ २ लक्षणलक्षणा -

शुद्धा लक्षणा का दूसरा भेद लक्षणलक्षणा है। उपादान के विपरीत जहॉ अन्य अर्थ की सिद्धि के लिए अपने अर्थ का परित्याग कर दिया जाता है वहॉ लक्षणलक्षणा होती है।[3] इसका उदाहरण है 'गङ्गाया घोष इसमे गङ्गा शब्द तट रूप अर्थ की सिद्धि के लिए अपने प्रवाहरूप मुख्यार्थ का परित्याग कर देता है। इसलिए यहॉ लक्षणलक्षणा है।

४. १ २ *उपचारमिश्रा लक्षणा* -

उपचारमिश्रा लक्षणा चार प्रकार की होती है। उपचार के शुद्ध तथा गौण रूप से दो भेद करके उसके पुन दो-दो प्रकार माने गये है। इनमे शुद्धोपचार वहॉ होता है जहॉ मूलभूत उपमानोपमेयभाव नही होता। शुद्धोपचार मे

---

[1] (क) भट्टमते दिवाभोजानाभाववत पीनत्व रात्रिभोजन विनानुपपन्नमित्यनुपपत्त्या रात्रौ भुङ्क्ते इति शब्द कल्प्यते गुरुमते तु तदर्थमात्र कल्प्यते। (का० प्र०, बा० बो०, पृ० ४५) ।
(ख) पीनो दिवा न भुङ्क्ते चेत्येवमादिवच श्रुतौ।
रात्रिभोजनविज्ञान श्रुतार्थापत्तिरुच्यते। (श्लो० वा०, पृ० ३२६) ।

[2] रात्रिभोजनस्यानुमानविषयत्वात् । तथाहि अय देवदत्तो रात्रौ भुङ्क्ते दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनत्वात्। यस्तु न रात्रौ भुङ्क्ते नासौ दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनो यथा दिवा रात्रौ चाऽभुञ्जानोऽपीनो न चाय तथा तस्मान्न तथेति केवलव्यतिरेक्यनुमानेनैव रात्रिभोजनस्य प्रतीयमानत्वात्। किमर्थमर्थापत्ति पृथकत्वेन कल्पनीया। (त० भा०, पृ० १४०-१४१) ।

कार्यकारण भावादि के सम्बन्ध के आधार पर लक्षणा होती है क्योकि वहाँ उपमानोपमेयभाव का अभाव होने से उपमानगत गुणो के समान गुणो के सम्बन्ध से होने वाली लक्षणा नही हो पाती है। इसका उदाहरण है 'आयुर्घृतम्' यहाँ घृत आयु का कारण है घृत पर आयु का आरोप कार्य-कारण भाव के कारण है अत उपचार शुद्ध है।[2] इससे भिन्न गौण उपचार वहाँ होता है जहाँ उपमानोपमेयभाव के आधार पर उपमानगत गुणो के समान गुणो के सम्बन्ध से लक्षणा होती है। इस स्थल मे उपचार गुणो के आधार पर होता है अत 'गौण' कहलाता है। इसका उदाहरण है 'गोर्वाहीक'। यहाँ गोगत जाड्यमान्द्यादि के समान जाड्यमान्द्यादि के सम्बन्ध के आधार पर वाहीक पर गो शब्द एव गोत्व अर्थ दोनो का उपचार होता है।[3]

कुछ लोग उपचार मे केवल शब्द का ही उपचार मानते है किन्तु मुकुलभट्ट के मतानुसार शब्दोपचार अर्थोपचार के विना नही हो सकता अत दोनो का उपचार मानना चाहिए।[4]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि मुकुलभट्ट उपचार का अर्थ 'आरोप' लेते है। यही कारण है कि इन्होने सादृश्येतर सम्बन्ध मे भी उपचार मानते हुए उसके शुद्ध तथा गौण दो भेद किये है । यह दोनो प्रकार का उपचार भी अध्यारोप और अध्यवसान के आधार पर दो-दो प्रकार का होता है।

४ १ २ १ अध्यारोप -

जब आरोप्याण तथा आरोपाश्रय के भेद का अपह्नव किए विना एक वस्तु पर दूसरी वस्तु का आरोप होता है वहाँ अध्यारोप नामक भेद होता है। यहाँ एक वस्तु मे उससे अधिक गुणवाली वस्तु का आरोप होने के कारण ही इसे अध्यारोप (अधि=अधिक आरोप) कहते है ।[5] जहाँ यह अध्यारोप उपमानोपमेयभाव से भिन्न स्थलो मे होता है वहाँ

---

[1] यत्र तु पूर्वोदितोपादानरूपविपर्यासससंश्रयान्न स्वार्थसिद्ध्यर्थतयार्थान्तरस्याक्षेप अपित्वर्थान्तरसिद्ध्यर्थत्वेन स्वार्थसमर्पणम्, तत्र लक्षणम्, यथा पूर्वमुदाहृत 'गङ्गाया घोष' इति। (अ० वृ० मा०, पृ० १३) ।

[2] शुद्धो यत्र मूलभूतस्योपमानोपमेयभावस्याभावेनोपमानगतगुणसदृशगुणयोगलक्षणासभवात् कार्यकारणभावादिसम्बन्धाल्लक्षणया वस्त्वन्तरे वस्त्वन्तरमुपचर्यते यथा 'आयुर्घृतमि' ति। अत्र ह्यायुष कारणे घृते तद्गतकार्यकारणभावाल्लक्षणापूर्वकत्वेनायुष्ट्व कार्यं तच्छब्दश्चेत्युभयमुपचरितम्। तस्माच्छुद्धोऽयमुपचार (अ० वृ० मा०, पृ० १६) ।

[3] गौण पुनरुपचारो यत्र मूलभूतोपमानोपमेयभावसमाश्रयेणोपमानगतगुणसदृशगुणयोगलक्षणा पुरस्सरीकृत्योपमेय उपमानशब्दस्तदर्थश्चाध्यारोप्यते। स हि गुणेभ्य आगतत्वात् गौणशब्देनाभिधीयते यथा 'गौर्वाहीक' इति। (अ० वृ० मा०, पृ० १६)।

[4] केचित् तु उपचारे शब्दोपचारमेव मन्यन्ते नार्थोपचारम्, तदयुक्तम् शब्दोपचारस्यार्थोपचाराविनाभावित्वात्। (अ० वृ० मा०, पृ० १६) ।

[5] यत्राध्यारोप्यारोपविषययोर्भेदमनपह्नुत्यैव वस्त्वन्तरे वस्त्वन्तरमुपचर्यते तत्रानपह्नुतस्वरूप एव वस्त्वन्तरे वस्त्वन्तरस्याधिकस्यारोप्यमाणत्वादध्यारोप । (अ० वृ० मा०, पृ० १८) ।

शुद्ध अध्यारोप होता है तथा उपमानोपमेयभाव के कारण हुए अध्यारोप को गौण अध्यारोप कहते है। क्रमश इनके उदाहरण हे 'आयुर्घृतम्' तथा 'गौर्वाहीक'। इनमे उपचर्यमाण और उपचार के आश्रय अपने अपने रूपो मे प्रकट रहते है।[1] आयुर्घृतम् मे आयु का कारण घृत है जिस पर आयु का आरोप किया गया है। 'गौर्वाहीक' मे वाहीक उपमेय है जिसपर 'गौ' इस उपमान का आरोप है।

४ १ २ २ अध्यवसान -

जहाँ उपचार के विषय को उपचर्यमाण मे छिपाकर बताया जाता है वहाँ 'अध्यवसान' होता है।[2] वह भी शुद्ध तथा गौण रूप से दो प्रकार का होता है। इनमे शुद्धोपचारमूलक अध्यवसान का उदाहरण हे 'पञ्चाला' इसमे पञ्चाल शब्द लक्षितलक्षणा द्वारा पञ्चाल (जाति) के अपत्य के निवास के अधिकरण स्वरूप जनपद अर्थ मे प्रस्तुत किया गया है।[3] यहाँ 'पञ्चाल' शब्द से अपत्यार्थ मे 'अञ्' प्रत्यय करके 'पाञ्चाल' शब्द बना।[4] बहुत्व के अर्थ मे 'अञ्' का लोप होकर 'पञ्चाला' शब्द निष्पन्न होता है।[5] पञ्चाल शब्द का अभिधेयार्थ है पञ्चाल जाति। अपत्य-अर्थ का ज्ञान लक्षणा द्वारा होने पर अर्थ होगा 'पञ्चाल नामक क्षत्रिय के अनेक पुत्र। किन्तु 'पञ्चाला' कहकर जनपद अर्थ अभीष्ट होने पर अपत्य अर्थ से पुन लक्षणा द्वारा उनके निवास के अधिकरण देश का ज्ञान होगा। प्रस्तुत उदाहरण मे अपत्य रूप अर्थ विषय है जिसका जनपद रूप विषयी के द्वारा निगरण हो जाता है। यहाँ विषय तथा विषयी की भेद रूप से प्रतिपत्ति नही हो रही है।[6] इस स्थल मे लक्षणा रूढि के कारण हुई है। रूढि के कारण ही लक्षणा नष्ट-सी अर्थात् समाप्त जैसी प्रतीत

---

[1] तथाहि आयुर्घृतमित्यत्र नायुर्लक्षणकार्यान्तर्लीनतया कारणभूतस्य घृतस्य प्रतिपत्ति स्वरूपेणैव तस्य प्रतिपत्ते। स्वरूपेणैव तु तस्य प्रतीयमानस्यायुष्कारणत्वादायुष्ट्व प्रतीयते तेनात्राध्यारोप। एव गौर्वाहीक इत्यत्रापि उपमानोपमेयस्वरूपमानपह्नवात्। तदेव यत्रोपचर्यमाणेनोपचर्यमाणविषयस्य स्वरूप नापह्नूयते तत्राध्यारोप। (अ० वृ० मा०, पृ० १८)।

[2] यत्र तूपचर्यमाणविषयस्योपचर्यमाणेऽन्तर्लीनतया विवक्षितत्वात् स्वरूपापह्नव क्रियते तत्राध्यवसानम्। (अ० वृ० मा०, पृ० १८)।

[3] तत्र शुद्धोपचारेऽध्यवसानस्योदाहरण 'पञ्चाला' इति। अत्र हि पञ्चालापत्यनिवसाधिकरणत्वाज्जनपदे लक्षितलक्षणया पञ्चालशब्द प्रयुज्यते। (अ० वृ० मा०, पृ० १८)।

[4] 'पञ्चाल' जनपदवाची शब्द भी है और पञ्चाल क्षत्रियो की एक जाति भी है। इस कारण व्याकरण मे अपत्य अर्थ मे 'जनपद-शब्दात्-क्षत्त्रियाद् अञ्' (४/१/१६८) सूत्र से अञ् प्रत्यय हुआ है।

[5] तद्राजस्य बहुषु तेनैवाऽस्त्रियाम् (पा० सू०, २/४/६२)

[6] पञ्चालेनापत्याना लक्षणाद् अपत्यैश्च स्वनिवासाधिकरणस्य जनपदस्य। न चात्रोपचर्यमाणार्थविषयस्योपचर्यमाणाद् भेदेन प्रतिपत्ति उपचर्यमाणार्थनिगीर्णतयैव तस्य प्रतिपत्ते। (अ० वृ० मा०, पृ० १८)।

हो रही है।[1] इस प्रकार यहाँ शुद्धोपचार मूलक अध्यवसान है। गौणोपचारमूलक अध्यवसान का उदाहरण है- 'राजा'।[2] राजा शब्द मुख्यतया क्षत्रिय के लिए प्रयुक्त होता है, किन्तु यदि क्षत्रियगत देश परिपालन जैसा गुण किसी शूद्र मे भी हो तो इस गुण की समानता के आधार पर उसे भी 'राजा' कह देना ताक्षणिक प्रयोग ही है। समान गुण के सम्बन्ध से यहाँ लक्षणा हो रही है अत गौण उपचार है।[3] यहाँ शूद्र राजा पर क्षत्रियत्व का आरोप है। इस स्थल पर भी रूढि के कारण ही गौणता भ्रष्ट - सी प्रतीत हो रही है अर्थात् सहसा न प्रतीत होकर विचारविमर्श के पश्चात् हो रही है। इस उदाहरण मे 'शूद्रत्वेन प्रजापालकत्व' क्षत्रिय राजा के द्वारा निगीर्ण कर लिया गया है अत यहाँ भी अध्यवसान है।[4]

इस प्रकार उपचार का चार प्रकार से विभाजन हो जाता है, जिसके साथ उपादान एव लक्षण-लक्षणा की गणना करके मुकुलभट्ट के अनुसार लक्षणा के छ भेद सिद्ध हो जाते है।

उपर्युल्लिखित' पञ्चाला ' उदाहरण मे 'जनपद' अर्थ मुकुलभट्ट ने **लक्षितलक्षणा** से माना है शाबरभाष्य मे लक्षितलक्षणा का उल्लेख मिलता है - 'सैषा लक्षितलक्षणा स्यात्'। कुमारिलभट्ट ने भी टुप्टीका मे इसकी चर्चा की है तथा इसे धर्मो की सम्बन्धरूपा कहा है।[5] प्रभाकरशिष्य शालिकनाथ ने 'प्रकरणपञ्चिका' मे लक्षितलक्षणा को अस्वीकार किया है।[6]

न्यायदर्शन मे भी इस पर विचार हुआ है। प्राचीन नैयायिक इसे दूसरी वृत्ति मानते है किन्तु नव्य नैयायिको ने इसे लक्षणा का ही एक भेद माना है। 'न्यायसिद्धान्तमुक्तावली' मे शक्यार्थ की परम्परासम्बन्धरूपा लक्षणा को लक्षितलक्षणा कहा गया है। जैसे 'द्विरेफमानय' मे 'द्विरेफ' पद का शक्यार्थ रेफद्वय है जिसका साक्षात् सम्बन्ध भ्रमर पद मे ज्ञात होता है और इस पद का सम्बन्ध भ्रमर (भौरा) रूप अर्थ मे ज्ञात होता है। अत यहाँ लक्षितलक्षणा है।[7]

---

[1] तेनात्रोपचारत्व रूढिमाहातम्याद् भ्रष्टमिव लक्ष्यते। (अ० वृ० मा०, पृ० १८) ।

[2] गौणोपचारे तु अध्यवसानस्योदाहरण राजेति। (अ० वृ० मा०, पृ० १८) ।

[3] राजशब्दो ह्यत्र प्रयोगदर्शनात् क्षत्रिये मुख्ययावृत्त्या प्रयुक्त सन् शूद्रादौ क्षत्रियगतजनपदपरिपालनसदृशजनपदपरिपालनयोगलक्षणपूर्वकतया गौणवृत्त्या युज्यते। (अ० वृ० मा०, पृ० १८) ।

[4] न चात्र झगित्येव गौणत्वस्यावगति विचारणाव्यवस्थाप्यत्वात्। तेनात्र गौणत्व झगित्येवाप्रतीयमानत्वाद् भ्रष्ट सद् विचारणया समधिगम्यते। (अ० वृ० मा०, पृ० १८) ।

[5] (क) तत्र लक्षितलक्षणाया गृह्यमाणाया फलकल्पना न भवति । (मी० सू०, ६/१/२ के शा० भा० पर टुप्टीका, मी० द० (६), पृ० ६७)।
(ख) तदा लक्षितलक्षणया धर्माणा सम्बन्ध ।
तस्माल्लक्षणा श्रुतिर्ब्रवीति लक्षितलक्षणापेक्षया। (मी० सू०, ६/१/३ के शा० भा० पर टुप्टीका, मी० द० (६), पृ० ६६)।

[6] न च लक्षितलक्षणाया प्रमाणमस्ति। - - - लक्षितलक्षणा प्रकरणाभावादयुक्ता। (प्रकरणपञ्चिका, पृ० २०३) ।

[7] यत्र तु शक्यार्थस्य परम्परासम्बन्धरूपा लक्षणा सा लक्षितलक्षणेत्युच्यते। यथा द्विरेफादिपदे रेफद्वयस्य सम्बन्धोभ्रमरपदे ज्ञायते, भ्रमरपदस्य च सम्बन्धो भ्रमरे ज्ञायते लक्षितलक्षणेत्युच्यते। (न्या० सि० मु०, शब्दखण्डम्, पृ० ५१-५२) ।

वेदान्त परिभाषा मे लक्षितलक्षणा की उदाहरण सहित व्याख्या की गई है। सर्वप्रथम वहॉ लक्षणा का केवल लक्षणा एव लक्षितलक्षणा रूप से दो भेद किया गया है।[1] जहॉ शक्यार्थ के साथ परम्परा सम्बन्ध से अर्थान्तर की प्रतीति होती है उसे लक्षितलक्षणा कहते है इसका उदाहरण है 'द्विरेफ' यहॉ 'दो रेफ वाले' मे इस पद की शक्ति है। इसकी भ्रमर अर्थ मे लक्षणा होती है उससे परम्परा सम्बन्ध से मधुकर मे पुन लक्षणा होती है यही लक्षितलक्षणा है। धर्मराजाध्वरीद्र ने गोणी वृत्ति को भी लक्षितलक्षणा कहा है। जैसे 'सिहो माणवक' मे सिह शब्द का वाच्यार्थ सिह पशु है उससे सम्बद्ध शौर्य और क्रौर्य के सम्बन्ध से माणवक की प्रतीति होती है।[2]

नागेशभट्ट ने परमलघुमञ्जूषा मे लक्षितलक्षणा का उल्लेख करते हुए 'द्विरेफ' पद को उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया है।[3]

इस प्रकार शब्द-शक्ति-प्रकरण मे विभिन्न विद्वानो द्वारा 'लक्षितलक्षणा' भी मुख्यतया प्रतिपादित की गई है। अधिकाश ग्रन्थो मे इसे लक्षणा के भेद के रूप मे ही मान्यता मिली है। परन्तु मुकुलभट्ट के द्वारा प्रसङ्गत प्रयुक्त लक्षितलक्षणा शब्द से यही प्रतीत होता है कि इन्होने इसे लक्षणा का भेद नही माना है। इनके अनुसार तो लक्षितलक्षणा एक प्रकार की दोहरी लक्षणा है जो पञ्चाला सदृश स्थलो मे व्यवहार मे लायी जाती है। उपर्युक्त विवरण से यह भी स्पष्ट है कि 'द्विरेफ' शब्द लक्षितलक्षणा का एक बहुचर्चित उदाहरण है। मुकुलभट्ट ने भी इस उदाहरण का उल्लेख अपने ग्रन्थ मे किया है किन्तु उसे वृद्धव्यवहार से अनुगत रूढि लक्षणा माना है।

आचार्य मम्मट ने अपने ग्रन्थो मे कही भी लक्षितलक्षणा का नाम नही लिया है । 'शब्दव्यापारविचार' मे पॉच प्रकार के सम्बन्धो से होने वाली लक्षणाओ मे अभिधेय समबन्ध से होने वाली लक्षणा के उदाहरण मे 'द्विरेफ' को उल्लेख किया है तथा इन्होने भी इसके अनुकरण पर कोयल' तथा 'काक' आदि अर्थों के लिए 'द्विक' आदि शब्दो मे होने वाली लक्षणा को अप्रयोजनीय बताया है। इस प्रकार मुकुलभट्ट की लक्षणा के छ भेद ही सिद्ध होते है जिन्हे सक्षेप मे इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है-

१- उपादान लक्षणा ('गौरनुबन्ध्य' एव 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते')

२- लक्षणलक्षणा (गङ्गाया घोष)

---

[1] लक्षणा च द्विविधा-केवललक्षणा लक्षितलक्षणा चेति । (वे० परि०, पृ० १२१) ।

[2] यत्र शक्यपरम्परासम्बन्धेनार्थान्तरप्रतीतिस्तत्र लक्षितलक्षणा यथा द्विरेफपदस्य रेफद्वये शक्तस्य भ्रमरपदघटितपरम्परासम्बन्धेन मधुकरे वृत्ति गौण्यपि लक्षितलक्षणैव। यथा सिहो माणवक इत्यत्र सिहशब्दवाच्यसम्बन्धिक्रौर्यादिसम्बन्धेन माणवकस्य प्रतीति । (वे० परि०, १२१) ।

[3] द्विरेफपदस्य स्वलक्ष्यभ्रमरशब्दवाच्यार्थे लक्षाणाया लक्षितलक्षणेति व्यवहार । स्वबोध्यपदवाच्यत्व सम्बन्ध । (प० ल० म०, पृ० ५३)।

३- शुद्धोपचार अध्यारोप (आयुर्घृतम्)

४- गाणोपचार अध्यारोप (गोर्वाहीक)

५- शुद्धोपचार अध्यवसान (पञ्चाला)

६- गोणोपचार अध्यवसान (राजा)

इन छ प्रकार की लक्षणाओ मे प्रथमत तो मुकुलभट्ट ने शुद्धा एव उपचार को दो अलग अलग वर्गो मे रखा, पुन उपचार के भी शुद्ध एव गोण दो भेद कर दिये। इनका यह विभाजन अपने आप मे विसङ्गतिपूर्ण लगता है। एक बार शुद्धा को उपचारमिश्रा से भिन्न बताकर पुन उपचार का भी 'शुद्ध' नामक भेद केसे सङ्गत है ? शुद्धा को उपचारमिश्रा से भिन्न बताना यही अर्थ देता है कि उसमे उपचार का मिश्रण नही रहता, किन्तु उपचारमिश्रा मे भी शुद्ध वर्ग होना यही सिद्ध करता है कि पहली शुद्धा मे तथा उपचारमिश्रा मे कोई न कोई अन्तर अवश्य है। जहाँ मम्मटादि अन्य अधिकाश विचारको ने सादृश्य-आरोप को ही उपचार माना है वहाँ मुकुलभट्ट आरोप मात्र को उपचार कहते है। इस विश्लेषण से तो यही निष्कर्ष निर्गत् है कि मुकुलभट्ट की निरूपचारा शुद्धा मे एक वस्तु पर दूसरी वस्तु का 'आरोप' रूप लक्षणा नही होती। उसमे लक्षणा का स्वरूप भिन्न होता है अर्थात् वहाँ (शुद्धा मे) अपने अर्थ की सिद्धि के लिए अन्य अर्थ का आक्षेप अथवा अन्यार्थ की सिद्धि हेतु स्वार्थ का त्याग रूप से ही लक्षणा होती है। इसी कारण उसमे अध्यारोप एव अध्यवमान का अवसर नही आता।

४. १. ३ लक्षणा के तीन स्कन्ध -

शुद्धा एव उपचारमिश्रा के सूक्ष्म अन्तर के प्रतिपादनार्थ मुकुलभट्ट ने लक्षणा के तीन प्रमुख स्कन्ध माने जिन्हे शुद्धा, अध्यारोप एव अध्यवसान कहा। इनमे से प्रत्येक का विषय भी विभाजित किया।[१]

मुकुलभट्ट के अनुसार शुद्धा लक्षणा तटस्थ मे होती है। इसका अभिप्राय यही है कि उपादान तथा लक्षणलक्षणा नामक दो प्रभेदो वाली शुद्धा लक्षणा जिन स्थलो मे होती है वहाँ लक्ष्य पदार्थ लक्षक पदार्थ से अनुपरक्त होने के कारण है उससे तटस्थ अथवा भिन्न माना जाता है।[२] मुकुलभट्ट का यह विचार 'ताटस्थ्य-सिद्धान्त' के नाम से जाना जाता है। 'गङ्गाया घोष' वाक्य मे गङ्गापद घोष के अधिकरण के रूप मे तट का लक्षक है यह ज्ञात हो जाने के

---

[१] तटस्थे लक्षणा शुद्धा स्यादारोपस्त्वदूरगे
निगीर्णेऽध्यवसान तु रूढ्यासन्नतरत्वत। (अ० वृ० मा०, पृ० २०)।

[२] नहि तत्र लक्षकार्थोपरक्ततया लक्ष्यार्थस्यावगति। तथाहि गङ्गाया घोष। (अ० वृ० मा०, पृ० २०)।

पश्चात् 'गङ्गा मे घोष हे वितस्ता मे नही' यह प्रतीति होती हे।[1] 'गङ्गा तटे घोष' की अपेक्षा 'गङ्गाया घोष' प्रयोग मे यही विशिष्टता रहती हे कि इसमे तट मे मात्र स्रोतविशेष की विशेषता का प्रतिपादन ही अभीष्ट होता है। अर्थात् 'गङ्गाया घोष' कहने का आशय मात्र इतना बताना ही हे कि तट गङ्गा का ही हं किसी दूसरी नदी का नही । यहॉ तट का जल-प्रवाह से किसी प्रकार का कोई उपराग नही प्रतीत होता अपितु उस तट का बोध तटस्थ अथवा जल-प्रवाह से केवल सम्बद्ध रूप से होता ह। भिन्न रूप से नही।

लक्षणलक्षणा का उदाहरण देकर मुकुलभट्ट उपादान लक्षणा मे भी तटस्थता की ही स्थिति मानते है। जेसे 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते'[2] मे भी 'पीनत्व' के कारणभूत 'भोजन का अभाव' शब्दत कथित है यहॉं 'पीनत्व' लक्षक हे उसकी लक्ष्य अर्थ -'रात्रि भोजन' के साथ तटस्थता ही है। यहॉ पीनत्व से रात्रिभोजन उपरक्त नही प्रतीत होता।

आरोप या अध्यारोप स्कन्ध मे लक्ष्य और लक्षक के मध्य अदूरवर्तिता अथवा समीपता होती हे, किन्तु वहॉ सामीप्य अभीष्ट होते हुए भी लक्ष्य के स्वरूप का अपह्नव नही होता है। इसके विपरीत अध्यवसान निगीर्ण मे होता है जो कि रूढि और आसन्नतरता रूप दो प्रकारो से होता है। अर्थात् अध्यारोप मे अत्यधिक निकटता के कारण अथवा रूढिप्रवाह के कारण लक्षक पद द्वारा लक्ष्य के स्वरूप का पूर्णत निगरण हो जाता है।

अध्यारोप एव अध्यवसान के शुद्ध तथा गौण रूप से जो दो-दो भेद होते है[3] उनमे शुद्ध अध्यारोप एव अध्यवसान के लिए मुकुलभट्ट ने 'गङ्गाया घोष' उदाहरण को प्रस्तुत करते हुए दोनो का स्वरूप बताया है। जब उपर्युक्त उदाहरण मे गङ्गा पद के अभिधेयार्थ विशिष्ट जलप्रवाह के समीपवर्ती तट के स्वरूप को अपह्नुत किये विना ही उसे जलप्रवाह से उपरक्त या उससे अदूरवर्ती बताना अभीष्ट होता है तब इस उदाहरण मे अध्यारोप होता है।[4] किन्तु जब तट से प्रवाह विशेष की अत्यन्त निकटता का प्रतिपादन करने के लिए उपर्युक्त वाक्य प्रयुक्त होता है तब 'तट' पद का अपह्नव करके ही वक्ता 'गङ्गाया घोष' वाक्य का प्रयोग करता है उस समय 'घोष साक्षात् गङ्गा पर ही है अन्यत्र नही' इसका बोध होता है। ऐसे प्रयोग मे यह अध्यवसान का उदाहरण होता है।[5]

---

[1] 'गङ्गाया घोषो न वितस्तायामि' ति गङ्गाशब्देप्रयुज्यमाने तटस्य स्रोतोविशेषेणोपलक्षकत्वमात्रोपयुक्तत्वेनोपरागो न प्रतीयते, तटस्थत्वेनैव तस्य तटस्य प्रत्ययात्। (अ० वृ० मा०, पृ० २०) ।

[2] एवमुपादानेऽपि वाच्य यथा 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' इति । (अ० वृ० मा०, पृ० २०) ।

[3] अध्यारोपाध्यवसानस्कन्धयोरपि प्रत्येक द्विप्रभेदता, शुद्धगौणोपचारमिश्रत्वात्। (अ० वृ० मा०, पृ० २०) ।

[4] यदा तु गङ्गाशब्दाभिधेयस्य स्रोतोविशेषस्याविदूरवर्त्तितया तटमनपह्नुतस्वरूप स्रोतोविशेषोपरक्ततया विवक्षित भवति तदा पूर्वस्मिन्नुदाहरणेऽध्यारोपो भवति। (अ० वृ० मा०, पृ० २०) ।

[5] यदा त्वत्यन्तमासन्नता घोष प्रति स्रोतोविशेषस्य प्रतिपादयितुमेतद् वाक्य स्रोतोविशेषनिगीर्णतया तटमपह्नुत्य प्रयुज्यते 'गङ्गायामेव साक्षाद्घोष नत्वन्यत्रे' ति तदाध्वसानम्। (अ० वृ० मा०, पृ० २१) ।

गोणोपचार के अन्तर्गत अध्यारोप एव अध्यवसान का उदाहरण है - गोर्वाहीक तथा 'गोरेवाय साक्षात्' ।[1] इनमे प्रथम मे गोगत जाड्यमान्द्यादि गुणो के सदृश गुणो से युक्त होने के कारण वाहीक की गो से निकटता प्रतिपादित होने के कारण अध्यारोप है। इसमे वाहीक पर गोत्व का अध्यारोप हे परन्तु वाहीक स्वरूपत कथित भी हे, किन्तु जब सादृश्यातिशय के कारण गुणो की उत्कटता विवक्षित होती है तब वाहीक पर गोत्व का अध्यवसान होता है ओर कह दिया जाता है 'गौरेवाय साक्षात्'। यहाँ वाहीक का गो द्वारा निगरण हो गया है। अध्यवसान के ये दोनो ही उदाहरण आसन्नतरता या अत्यधिक निकटता के कारण से है। रूढत्व के आधार पर भी अध्यवसान हो सकता है। इसका उदाहरण 'पञ्चाला' तथा 'राजा' हे[2] इसमे रूढि के कारण ही लक्ष्य का स्वरूप निगीर्ण रहता हे।

४. २ मम्मट के अनुसार लक्षणा के भेद

आचार्य मम्मट ने अपने दोनो ही ग्रन्थो मे लक्षणा के भेदो की व्याख्या विस्तृत रूप से की है। मुकुलभट्ट से प्रभावित होकर इन्होने भी लक्षणा के छ भेद ही स्वीकार किये है।[3] सख्या के विषय मे एकमत होते हुए भी वर्गीकरण के आधार तथा उसके उदाहरणो के विषय मे मुकुलभट्ट से इनका विरोध स्पष्ट ही देखा जा सकता है।

मम्मट को अभिमत लक्षणा के छ भेदो मे शुद्धा लक्षणा के उपादान लक्षणा एव लक्षणलक्षणा नाम से प्रथमत दो भेद है। पुन सारोपा एव साध्यवसाना नामक लक्षणा के शुद्धा और गौणी रूप से दो-दो भेद होकर कुल छ प्रकार की लक्षणा हो जाती है।[4] मम्मट के इस भेद-निरूपण की प्रक्रिया पर भी मुकुलभट्ट का स्पष्ट प्रभाव दृष्टिगत होता है। दोनो मे अन्तर यही है कि जहाँ मुकुलभट्ट ने 'शुद्धा' एव 'उपचारमिश्रा' नाम से दो वर्गो को बाँटते हुए द्वितीय के अन्तर्गत भी शुद्ध तथा गौण रूप से दो भेद करके आरोप और अध्यवसान की व्याख्या की है वहाँ मम्मट ने सारोपा एव साध्यवसाना का कारिकाबद्ध लक्षण प्रस्तुत करते हुए स्पष्ट रूप से लिखा है कि ये दोनो ही भेद जब सादृश्य सम्बन्ध से होगे तो गौणी लक्षणा होगी तथा सादृश्येतर सम्बन्ध से होने पर शुद्धा लक्षणा।[5]

शुद्धा लक्षणा के दोनो भेदो उपादान लक्षणा और लक्षणलक्षणा की परिभाषा देते हुए मम्मट लिखते है - अपनी सिद्धि के लिए जहाँ दूसरे अर्थ का आक्षेप होता है वहाँ 'उपादान' लक्षणा होती है तथा जहाँ दूसरे अर्थ के लिए

---

[1] गौणेऽप्युपचारे वाच्यम् - 'गौर्वाहीक' इति 'गौरेवाय साक्षादि' ति च। (अ० वृ० मा०, पृ० २२) ।

[2] यथा चासन्नतरत्वेनाध्यवसान पूर्वं प्रविभक्त तथा रूढत्वेनापि प्रविभक्तव्यम् यथा पूर्वोपदर्शितयोरुदाहरणयो 'पञ्चाला' इति तथा 'राजे'ति। (अ० वृ० मा०, पृ० २२) ।

[3] लक्षणा तेन षड्विधा । (श० व्या० वि०, पृ० १४) ।

[4] आद्यभेदाभ्या सह। (श० व्या० वि०, पृ० १४) ।

स्वार्थ का समर्पण होता है वहाँ 'लक्षणलक्षणा' होती है।[2] ये दोनो ही भेद 'अन्यत्र अजहत्स्वार्था तथा जहत्स्वार्था लक्षणा के नाम से जाने जाते है।[3]

मम्मट ने उपादान लक्षणा का उदाहरण दिया है - 'कुन्तान् प्रवेशय' तथा 'यष्टी प्रवेशय'[4] यहाँ कुन्त एव यष्टी के अचेतन होने के कारण उनमे प्रवेशन क्रिया सम्भव नही हो सकती फलस्वरूप मुख्यार्थ बाधित होने पर अपनी सिद्धि हेतु ये दोनो ही पद अपने से सयुक्त पुरुषो का आक्षेप कर लेते है। इस प्रकार यहाँ अपने अर्थ की सिद्धि के लिए अन्य अर्थ का आक्षेप रूप उपादान लक्षणा है। महाभाष्य मे तत्साहचर्य के कारण होने वाली लक्षणा के लिए उपर्युक्त उदाहरण मिलते है।

उपादान लक्षणा का अपना उदाहरण देकर मम्मट ने 'गौरनुबन्ध्य' तथा 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुड्क्ते' इन दो उदाहरणो का खण्डन किया है। ये दोनो ही उदाहरण मुकुलभट्ट की 'अभिधावृत्तिमातृका' मे उपादान लक्षणा के प्रसङ्ग मे मिलते है। इससे यही सिद्ध होता है कि मम्मट ने मुकुलभट्ट का खण्डन किया है। कतिपय विद्वान् इसे मण्डनमिश्र की आलोचना मानते है।[5]

'गौरनुबन्ध्योऽजोऽग्नीषोमीय' यह एक श्रुति वाक्य है। मीमासक केवल जाति मे सङ्केत मानते है अत उनके अनुसार 'गौरनुबन्ध्य' मे 'गो' पद का मुख्यार्थ 'गोत्व' जाति होगा। किन्तु श्रुति का तात्पर्य एक गो व्यक्ति मे होने से सम्पूर्ण गोत्व जाति का आलम्भन सङ्गत नही हो सकता। अत मुकुलभट्ट जाति से व्यक्ति का बोध उपादान लक्षणा से मानते है।

---

[1] भेदाविमौ च सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतस्तथा गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ। (श० व्या० वि०, पृ० ११)।

[2] स्वसिद्धये पराक्षेप परार्थं स्वसमर्पणम्।
उपादान लक्षण चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा।। (श० व्या० वि०, पृ० ८)।

[3] एते एवान्यत्राजहत्स्वार्थाजहत्स्वार्थे इत्युच्यते। (का० प्र०, बा० बो०, पृ० ४३)।

[4] (क) 'कुन्तान् प्रवेशय' 'यष्टी प्रवेशये'- त्यादौ कुन्तादिभिरात्मन प्रवेशसिद्धये स्वसयोगिन पुरुषा आक्षिप्यन्ते, तत उपादानेनेय लक्षणा। (श० व्या० वि० पृ० ६)।
(ख) 'काव्यप्रकाश' मे इसका उदाहरण दिया गया है- 'कुन्ता प्रविशन्ति' तथा 'यष्टय प्रविशन्ति'। (का० प्र०, पृ० ५६)
।

[5] (क) मण्डनमिश्रास्तु 'गौरनुबन्ध्य' इत्यादिकमुपादानलक्षणाया उदाहरणमाहु। तन्मत दूषयितुमनुवदति गौरित्यादिना। (का० प्र०, बा० बो०, पृ० ४४)।
(ख) इति मण्डनमतमुपन्यस्य दूषयति - गौरित्यादि। ----। (का० प्र०, १६ टीकाओ सहित, सुधासागर, पृ० २८७)।

मम्मट इसी मत की उपस्थापना करते हुए इसका खण्डन करते है कि यहाँ लक्षणा के प्रयोजन या रूढि रूप हेतु मे से कोइ भी उपस्थित नही है। इस कारण यहाँ लक्षणा नही मानी जा सकती । व्यक्ति का तो जाति से अविनाभाव सम्बन्ध है फलत जाति से व्यक्ति का आक्षेपमात्र कर लिया जाता है। यह लक्षणा का स्थल ही नही है।[1]

मम्मट ने अविनाभाव सम्बन्ध के अन्य उदाहरण भी दिये हे जैसे 'क्रियताम्' 'कुरु', 'प्रविश' 'पिण्डीम्' इत्यादि अपूर्ण वाक्यो को अपने अर्थ की सिद्धि के लिए अन्य अशो की आवश्यकता रहती है जिसकी पूर्ति आक्षेप या अध्याहार द्वारा कर ली जाती है। 'क्रियताम्' तथा 'कुरु' ये दोनो क्रिया पद है इनमे अविनाभाव से क्रमश 'त्वया' कर्ता का तथा 'पाकम्' इत्यादि कर्म का आक्षेप हो जाता है। इसी प्रकार 'प्रविश', 'पिण्डीम्' इत्यादि कहने पर इनकी सिद्धि के लिए 'गृहम्' इस कर्म पद का तथा 'भक्षय' क्रिया पद का आक्षेप कर लिया जाता है। 'काव्यप्रकाश' के उद्योत टीकाकार के अनुसार आक्षेप का अर्थ अनुमान हे और अविनाभाव सम्बन्ध व्याप्ति है।[2]

मीमासको मे भी अपूर्ण वाक्य के पूरक अशो के लिए आक्षेप या अध्याहार की मान्यता पायी जाती है। अध्याहार के विषय मे इनमे दो सिद्धान्त हे। कुमारिलभट्ट ने शब्द के अध्याहार को माना है किन्तु प्रभाकरमिश्र अर्थाध्याहारवादी हे। मम्मट ने इनका समन्वय करते हुए अर्थाध्याहार एव शब्दाध्याहार दोनो का ही उदाहरण दिया है। आक्षेप के उपर्युक्त चारो उदाहरणे मे 'क्रियताम्' एव 'कुरु' के लिए जो कर्ता तथा कर्म का आक्षेप होता है उनमे अध्याहार वस्तुत कर्ता एव कर्म पदो का न होकर उनके अर्थो का होता हे। 'प्रविश' तथा 'पिण्डीम्' मे 'गृहम्' तथा 'भक्षय' का आक्षेप शब्द रूप मे होता हे अत यहाँ शब्दाध्याहार हे। इसी प्रकार 'गोरनुबन्ध्य ' उदाहरण मे व्यक्ति का आक्षेप हो जाता है क्योकि जाति व्यक्ति के विना नही रह सकती। अत यहाँ लक्षणा नही हे।

मुकुलभट्ट ने उपादान लक्षणा का दूसरा उदाहरण दिया था 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुड्क्ते' मम्मट ने इस स्थल पर भी लक्षणा का निषेध किया है। उनके अनुसार यहाँ पर लक्षणा न होकर श्रुतार्थापत्ति अथवा अर्थापत्ति से अर्थबोध होता है।[3]

'श्रुतार्थापत्ति' से यहाँ तात्पर्य शब्द के अध्याहार से है तथा अर्थापत्ति अर्थाध्याहार है। इसके माध्यम से मम्मट ने भाट्टमत तथा प्रभाकरमत का सङ्केत किया है।[4]

---

[1] - - - न ह्यत्र प्रयोजनमस्ति न वा रूढि व्यक्त्यविनाभावात्तु जात्या व्यक्तिराक्षिप्यते यथा क्रियतामित्यत्र कर्ता कुर्वित्यत्र कर्म प्रविश पिण्डीमित्यादौ गृह भक्षयेत्यादि च। (श० व्या० वि०, पृ० ६) ।

[2] अत्राहुरुद्योतकारा अपि। "आक्षिप्यते इति। आक्षेपोऽत्रानुमानम्। व्यक्ति विनेत्यनेन व्याप्तिर्दर्शिता। वृत्तिप्रयोज्योपस्थितिश्च शब्दादौ कारणम्" इति। (का० प्र०, बा० बो०, पृ० ४५) ।

[3] 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुड्क्ते' इत्यत्र च रात्रिभोजन न लक्ष्यते श्रुतार्थापत्तेरर्थापत्तेर्वा तस्य विषयत्वात्। (श० व्या० वि०, पृ० ६) ।

'द्वारम' कहने पर 'पिधेहि' शब्द की कल्पना श्रुतार्थापत्ति है। यही शब्दाध्याहार है। 'द्वारम्' कहने पर अर्थ की अनुपपत्ति होने से 'पिधेहि' क्रिया पदार्थ की कल्पना अर्थापत्ति या अर्थाध्याहार है।[२]

इस प्रकार उपर्युक्त उदाहरण 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' अर्थापत्ति का ही विषय है लक्षणा का नही। लक्षणा शब्द की शक्ति है। मीमासको ने भी शब्द को अर्थापत्ति से पृथक् प्रमाण के रूप मे माना है।

मुकुलभट्ट-प्रदत्त उपादान लक्षणा के दोनो उदाहरणे का खण्डन करके मम्मट लक्षणलक्षणा की व्याख्या करते हुए इसका उदाहरण देते है- 'गङ्गाया घोष' यहाँ घोष के अधिकरणत्व की सिद्धि-हेतु गङ्गा शब्द अपने जलप्रवाह रूप मुख्यार्थ का परित्याग कर देता है और तट रूप लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है। इसीलिए यहाँ अन्य की सिद्धि के लिए स्वार्थ का त्याग रूप लक्षणलक्षणा है।[३]

४ २. १ *ताटस्थ्य-सिद्धान्त का खण्डन* -

उपादान तथा लक्षणलक्षणा दोनो ही शुद्धा लक्षणाएँ है। मम्मट इसे शुद्धा लक्षणा इस कारण से कहते है क्योकि इनमे 'उपचार' का मिश्रण नही रहता है।[४] मुकुलभट्ट ने 'उपचार' का अर्थ अन्य के लिए अन्य का प्रयोग अथवा एक वस्तु पर दूसरी वस्तु का आरोप किया है। इसे शुद्धा एव गौणी का भेदक धर्म नही माना है, किन्तु मम्मट के अनुसार सादृश्य के कारण प्रवृत्ति का होना उपचार है। 'काव्यप्रकाश' के 'काव्यप्रकाशदर्पण' नामक टीका के रचयिता विश्वनाथ के अनुसार दो भिन्न पदार्थो मे सादृश्यातिशय के कारण जो अभेद प्रतीति होती है वही उपचार है।[५] मम्मट को मान्य शुद्धा लक्षणा मे सादृश्य के कारण लक्ष्य एव लक्षक का अभेद सम्बन्ध नही होता, इसीलिए इसे शुद्धा लक्षणा कहते है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नही कि शुद्धा लक्षणा मे लक्ष्य एव लक्षक के मध्य अभेद सम्बन्ध होता ही नही। वहाँ भी लक्ष्यार्थ की प्रतीति लक्षक से अभिन्न रूप मे ही होती है। शुद्धा मे यह अभेद प्रतीति सादृश्य से भिन्न सम्बन्धो

---

[१] भाट्टमते श्रुतार्थापत्तौ रात्रौ भुङ्क्त इति शब्द कल्प्यते। गुरुमतेऽर्थापत्तौ रात्रिभोजनमर्थ। (का० प्र०, १६टीकाओ सहित, दर्पण, पृ० २७२)।

[२] यथा द्वारमिति शब्द पिधेहीति क्रियापदम्। इयमेव पदाध्याहार (शब्दाध्याहार)। यत्र च दृष्ट श्रुतो वार्थोऽनुपपन्नोऽर्थान्तर कल्पयति सा अर्थापत्ति। यथा तत्रैव द्वारमित्यर्थोऽनुपपन्न पिधेहीति क्रिया कल्पयति। इयमेवार्थाध्याहार इति मतभेदेनोभयम् इति भाव। (का० प्र०, बा० बो०, पृ० ४५-४६)।

[३] 'गङ्गाया घोष' इत्यत्र तटस्य घोषाधिकरणताया सिद्धये गङ्गाशब्द स्वार्थमर्पयतीत्येवमादौ लक्षणेनैषा लक्षणा। (श० व्या० वि०, पृ० ६)।

[४] उभयरूपा चेय शुद्धा उपचारेणामिश्रितत्वात्। (श० व्या० वि०, पृ० ६)।

[५] सादृश्याख्यसम्बन्धेन प्रवृत्तिरुपचार तेनामिश्रितत्वात् असम्बन्धात्। - - -। "अत्यन्त विशकलितयो सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमुपचार" इति काव्यप्रकाशदर्पणे। (का० प्र०, बा० बो०, पृ० ४६)।

के कारण होती है। यहाँ लक्ष्य तथा लक्षक का भेदप्रतीति रूप 'ताटस्थ्य' नही माना जा सकता क्योंकि 'गङ्गातटे घोष' के स्थान पर 'गङ्गाया घोष' प्रयोग किसी विशिष्ट प्रयोजन की दृष्टि से ही हुआ है। यह प्रयोजन है तट मे शैत्य एव पावनत्वातिशय की प्रतीति कराना जो कि गङ्गा का धर्म है। गङ्गा पद के लक्ष्यार्थ 'तट' को गङ्गा से अभिन्न माने विना अभीष्ट प्रयोजन की प्रतीति नही हो सकती। अर्थात् शैत्यादि की प्रतीति तो गङ्गात्वेन तट की प्रतीति मे ही उत्पन्न होती है। इसके अतिरिक्त गङ्गा से सम्बन्ध मात्र दर्शाना ही लक्षणा का प्रयोजन नही है क्योकि अभिधा प्रयोग 'गङ्गा तटे घोष' की अपेक्षा लक्षणा प्रयोग 'गङ्गाया घोष' का वैशिष्ट्य ही यही है - लक्ष्य एव लक्षक का अभेदप्रतिपादन न कि लक्ष्य की लक्षक से उदासीनता। इस प्रकार मम्मट के अनुसार शुद्धा लक्षणा मे भी अभेद की प्रतीति होने से 'ताटस्थ्य' को शुद्धा एव गोणी का भेदक धर्म नही माना जा सकता, अपितु उपचार ही दोनो का भेदक है।[1]

उपादान एव लक्षणलक्षणा नामक दो भेदो वाली शुद्धा लक्षणा की विशद व्याख्या करने के पश्चात् मम्मट ने सारोपा एव साध्यावसाना नामक दो भेदो की चर्चा की हे जो सादृश्य सम्बन्ध से होने पर क्रमश गौणी सारोपा एव गोणी साध्यवसाना तथा सादृश्य-भिन्न सम्बन्धो के कारण होने पर शुद्धा सारोपा तथा शुद्धा साध्यवसाना कहलाते है[2] इसप्रकार मम्मट ने गौणी को लक्षणा मे ही अन्तर्भावित कर उसी का एक भेद बताया है जिसे अन्य कतिपय विद्वानो ने लक्षणा मे भिन्न वृत्ति कहा है।

जहाँ विषयी (आरोप्यमाण) तथा विषय (आरोपाश्रय) दोनो ही शब्दत कथित रहते हे वहाँ सारोपा लक्षणा होती है[3] तथा जहाँ विषयी द्वारा विषय का निगरण कर लिया जाता है वहाँ साध्यवसाना लक्षणा होती है।[4] मम्मट ने गौणी सारोपा एव साध्यवसाना लक्षणा का उदाहरण दिया है - 'गौर्वाहीक' तथा 'गौरयम्'।[5] 'गौर्वाहीक' मे आरोप्यमाण 'गौ' तथा आरोपाश्रय 'वाहीक' दोनो ही शब्दत कथित है इसके विपरीत द्वितीय उदाहरण मे विषयी ('गौ') द्वारा 'विषय' (वाहीक) का निगरण कर लिया गया है अत ये क्रमश सारोपा एव साध्यवसाना लक्षणा के उदाहरण है। गुणो के सादृश्य के कारण होने से यहाँ गौणी लक्षणा है। ये दोनो ही उदाहरण 'पुंयोगादाख्यायाम्' (४/१/४८) सूत्र के

---

[1] अनयोर्भेदयोर्लक्ष्यस्य लक्षकस्य च न भेदरूप तटस्थत्वम् तटादीना गङ्गादिशब्द प्रतिपादने तत्त्वप्रतिपत्तौ हि प्रतिपिपादयिषितप्रयोजनसप्रत्यय गङ्गासम्बन्धमात्रप्रतीतौ तु गङ्गातटे घोष इति मुख्यशब्दाभिधानाल्लक्षणाया को भेद। (श० व्या० वि०, पृ० ६)।

[2] भेदाविमौ च सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतस्तथा।
गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ, (श० व्या० वि०, पृ० ११)।

[3] सारोपान्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा। (श० व्या० वि०, पृ० ११)।

[4] विषय्यन्त कृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका। (श० व्या० वि०, पृ०११)।

[5] इमावारोपाध्यवसानरूपौ सादृश्यहेतू भेदौ 'गौर्वाहीक' इत्यत्र गौरयमि'त्यत्र च। (श० व्या० वि०, पृ०१२)।

महाभाष्य मे मिलते है। 'गोर्वाहीक' उदाहग्ण मे दोनो पदार्थों का समानाधिकरण्य ही अभिधेयार्थ है। यह तभी सम्भव हो सकता है जब दोनो पदार्थ एक ही धर्मि का बोध कराते हो। एकधर्मिबोधकत्व ही दो पदार्थों का समानाधिकरण्य है। किन्तु यहाँ स्थिति इसके विपरीत है। यहाँ दोनो पदार्थ दो भिन्न धर्मियो के बोधक है अत समानाधिकरण्य के अनुपपन्न होने पर मुख्यार्थबाध होता है। यही लक्षणा की स्थिति आती है। लक्षणा से 'गो' इस लाक्षणिक पद का ऐसा लक्ष्यार्थ निकालना है जिससे उसका वाहीक के साथ अभेदान्वय उपपन्न हो जाए। इस विषय मे आचार्य मम्मट ने तीन मतो का उल्लेख किया है।

प्रथम मत के अनुसार 'गो' शब्द से अभिधा द्वारा 'बैल' अर्थ की प्रतीति होती है उसके साथ गो शब्द का समानाधिकरण्य अनुपपन्न है। उसका बाध होने पर लक्षणा द्वारा 'गो' शब्द से गोगत जाड्यामान्द्यादि गुणो का बोध होता हे। लक्षणा से बोधित होने वाले जाड्यमान्द्यादि को प्रवृत्ति-निमित्त बनाकर अभिधाशक्ति से जाड्यादि युक्त 'वाहीक' का बोध होता हे। इस प्रकार 'गो' शब्द की वाहीक के साथ समानाधिकरणता उपपन्न हो जाती है।[1]

मम्मट के विविध टीकाकारो ने उपयुक्त मत को दोषपूर्ण सिद्ध किया। इस मत के लिए मम्मट के द्वारा 'केचित्' शब्द का प्रयोग इसके प्रति इनकी अरुचि को ही दर्शाता है।[2] गो शब्द का सङ्केत वाहीक मे न होने के कारण वह उसका बोध कथमपि नही करा सकता। 'बैल' अर्थ मे ही विरतव्यापार वाली अभिधा वाहीक का बोध कैसे करा सकती है ? इस प्रक्रिया मे यदि दूसरी अभिधा की कल्पना की जाये तो उससे कल्पना-गोरव का प्रसङ्ग उत्पन्न हो जाएगा।[3]

द्वितीय मत के अनुसार 'गो' शब्द के मुख्यार्थ 'बैल' के सहचारी जाड्यमान्द्यादि गुणो से अभिन्न वाहीकगत गुणो मे लक्षणा होती है पदार्थ अर्थात् वाहीक मे अभिधा नही होती।[4] उसका बोध तो आक्षेप द्वारा ही हो जाता है। इस प्रकार इस मत के अनुसार गोगत जाड्यादि गुणो के सजातीय वाहीकगत जाड्यादि गुण लक्ष्यार्थ है।[5]

---

[1] स्वार्थसहचारिणो गुणा जाड्यमान्द्यादयो लक्ष्यमाणा अपि गोशब्दस्य परार्थाभिधान प्रति निमित्तत्वमुपयान्तीति केचित्। (का० प्र० पृ० ६७), (श० व्या० वि०, पृ०१२)।

[2] केचिदित्यस्वरसोद्भावनम्। तद्बीज तु गोपदस्य वाहीके सङ्केताभावेनाभिधाभावरूपम्। जाड्यादिगुणाना लक्ष्यत्वात् अशक्यतया प्रवृत्तिनिमित्तत्वासभवश्च। (का० प्र०, बा० बो०, पृ० ४६)।

[3] केचिदिति। तन्मते अरुचि सूचयति। तथा हि। गोशब्दोऽगृहीतसङ्केत वाहीकार्थं कथमभिधया बोधयेत्। गोशब्दार्थमात्रबोधनविरताया अभिधायाश्च कुत पुनरुत्थान शब्दबुद्धिकर्मणा विरम्य व्यापाराभाव इति न्यायात्। अभिधान्तरकल्पने तु कल्पनागौरवम्। (का० प्र०, १६ टीकाओ सहित, दर्पण, पृ० ३०६)।

[4] स्वार्थसहचारिगुणाभेदेन परार्थगता गुणा एव लक्ष्यन्ते न तु परार्थोऽभिधीयत इत्यन्ये। (का० प्र०, पृ० ६७)। श० व्या० वि० मे 'इत्यन्ये' के स्थान पर 'इत्यपरे' मिलता है। (श० व्या० वि०, पृ० १२)।

इस मत मे जो जाड्यमान्द्यादि धर्म दो अलग-अलग धर्मियो के गुण है उनमे एक (गो) के धर्म से दूसरे गुणी (वाहीक) मे पाए जाने वाले गुणो का लक्षणा से बोधित होना असङ्गत है। टीकाकारो के अनुसार इस मत के प्रति भी मम्मट की उदासीनता ही प्रकट होती है क्योकि इसे भी इन्होने 'अन्ये' पद द्वारा प्रतिपादित किया है। दर्पणकार के अनुसार इस मत के अनुसार भी 'वाहीक' की प्रतीति न होने से गो पदार्थ के साथ वाहीक का समानाधिकरण्य सगत नही हो पाता। वाहीक रूप अर्थ गो शब्द का अभिधेयार्थ नही है अत उससे वाहीक का बोध नही हो सकता। उसे अविनाभाव या अनुमान द्वारा लब्ध भी नही माना जा सकता। लक्षणा शब्द की शक्ति है और शब्द सम्बन्धी आकाङ्क्षा शब्द से ही पूर्ण होती है यह नियम है अत उसमे अनुमान मानना तर्कसगत नही है।[२]

तृतीय मत के अनुसार साधारण गुणो के आश्रयरूप से वाहीक मे ही लक्षणा होती है अर्थात् गौ तथा वाहीक दोनो मे ही पाए जाने वाले जाडयादि गुण साधारण गुण हुए। इन गुणो का आश्रय वाहीक है अत लक्षणा से उसी का बोध होता है।[३] इस मत के अनुसार गोर्वाहीक मे लक्षणा की प्रक्रिया को इस प्रकार समझा जा सकता हे - गौ शब्द के मुख्यार्थ के साथ वाहीक का समानाधिकरण्य असङ्गत होने पर अर्थात् मुख्यार्थ बाध होने पर लक्षणा से 'गौ' तथा 'वाहीक' दोनो मे समान रूप से पाये जाने वाले जाड्यमान्द्यादि गुणो के आधार पर वाहीक रूप अर्थ का बोध होता है। यहॉ लक्ष्य वाहीक तथा लक्षक गौ मे सादृश्य सम्बन्ध है। यहॉं लक्षणा गुणो के योग से हुई है अत गौणी लक्षणा है।

इसके समर्थन मे मम्मट ने अपने दोनो ही ग्रन्थो मे तन्त्रवार्तिक की कारिका उद्धृत की है -

'अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते

लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद्वृत्तेरिष्टा तु गौणता।'[४]

---

[१] अभेदेन सजात्येन। गुणा एवेति। न तु गुणीत्यर्थ । तस्याक्षेपेण वाहीकशब्दादेव लाभादिति भाव । (का० प्र०, बा० बो०, पृ० ४६) ।

[२] ---- अत्र गोशब्दात् वाहीकार्थ प्रतीयते न वा ? आद्येऽपि गोशब्दादेव वा लक्षिताद्गुणादविनाभावाद्वा ? न प्रथम समनन्तरोक्तादेव न्यायात्। न द्वितीय अविनाभावलभ्यस्यार्थस्य शाब्दीत्याकाङ्क्षादिनयेन शाब्दे नये प्रवेशासभवात्। (का० प्र०, १६ टीकाओ सहित, दर्पण, पृ० ३०६) ।

[३] साधारणगुणाश्रयणेन परार्थ एव लक्ष्यत इत्यपरे। (का० प्र० पृ० ७) । शब्दव्यापारविचार मे 'इत्यन्ये' पाठ मिलता है। (श० व्या० वि०, पृ० १२) ।

[४] इस कारिका मे प्रयुक्त 'अविनाभाव' शब्द का अर्थ व्याप्ति नही अपितु सम्बन्ध मात्र है ऐसा मम्मट ने अपने दोनो ग्रन्थो मे स्पष्ट किया है। - अविनाभावोऽत्र सम्बन्धमात्र न तु नान्तरीयकत्वम्। (श० व्या० वि०, पृ० १२) ।

'मानान्तरविरुद्धे हि मुख्यार्थस्य परिग्रहे' यह इस कारिका के पहले का भाग है। इससे उपर्युक्त कारिका का यही आशय निकलता है कि मुख्यार्थ के अन्य प्रमाण से बाधित होने पर उससे सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति कराने वाली शक्ति लक्षणा है और लक्ष्यमाण गुणो के योग से इस वृत्ति की गौणता हो जाती है।

'गौर्वाहीक ' मे लक्ष्यार्थ के विषय मे तीनो मतो की चर्चा के प्रसङ्ग मे मम्मट ने इसका उल्लेख नही किया है कि ये तीनो ही मत किन विद्वानो अथवा सम्प्रदाय के है। न ही इन्होने इनमे किसी भी मत का खण्डन अथवा मण्डन किया है। किन्तु काव्यप्रकाश के कुछ टीकाकारो ने तृतीय मत को ही इनका अपना मत माना है। इस मत को प्रस्तुत करते हुए मम्मट ने जो 'अपरे' शब्द का प्रयोग किया है उसकी व्याख्या 'न परे इत्यपरे' करते हुए स्वीया अर्थ लिया जा सकता है।[1]

'शब्दव्यापारविचार' के दो सस्करणो मे द्वितीय मत के लिए 'अपरे' तथा तृतीय मत के लिए 'अन्ये' शब्द का प्रयोग मिलता ह। इससे व्याख्याकारो के 'अपरे' शब्द की व्याख्या के आधार पर तृतीय मत को मम्मट का मत कह देना उचित नही है। 'काव्यप्रकाश' के हिन्दी व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर ने इस तृतीय मत को मुकुलभट्ट का मत माना है।[2] किन्तु यह विचार भी युक्तिसङ्गत नही है। 'शब्दव्यापारविचार' मे मम्मट ने स्पष्ट लिखा है कि जिन्होने गोगत जाड्यमान्द्यादि के सदृश जाड्यमान्द्यादि गुण माना है उन्हे गुणो मे जाति माननी पडेगी। जिससे चतुष्टयी शब्दप्रवृत्ति का सिद्धान्त खण्डित हो जाएगा।[3] इस कथन द्वारा मम्मट ने मुकुलभट्ट के मत का सङ्केत किया है मुकुलभट्ट ने गोगत जाड्यमान्द्यादि गुणो के सदृश वाहीकगत जाड्यमान्द्यादि गुण माना हे।[4]

मम्मट के तर्क का अभिप्राय यह हे कि स्वार्थगत (गोगत) तथा परार्थगत (वाहीकगत) गुणो मे भेद मानने पर ही सादृश्य हो सकता है। इस प्रकार जब गुण भिन्न हो जाएँगे तो उनमे जाति माननी होगी। तृतीय मत मे दोनो गुणो को एक ही मानते हुए उन्हे 'साधारणगुण' की सज्ञा दी गई है। उसमे 'सादृश्य सम्बन्ध' का भी यही अर्थ है कि दोनो मे एक ही गुण होते है । दोनो गुणो के एक होने से यहाँ जाति मानने का प्रसङ्ग नही उत्पन्न होगा। इससे तो यही सङ्केत मिलता है कि तृतीय मत ही मम्मट को मान्य मत था इसे मुकुलभट्ट का मत नही कहना चाहिए।

---

[1] स्वमतमाह साधरणेति। ----- न परे, अपरे स्वीया इत्यर्थ। (का० प्र०, बा० बो०, पृ० ५०) ।

[2] का० प्र०, आचार्यविश्वेश्वर पृ० ६४ ।

[3] येन गोगतजाड्यमान्द्यादिसदृशजाड्यमान्द्याद्युच्यते तेन गुणाभेदाभ्युपगमे गुणजातिप्रसगाच्चतुष्टयी शब्दाना प्रवृत्तिरुक्ता व्याहन्येत। (श० व्या० वि०, पृ० १२) ।

[4] अत्र हि गोगतजाड्यमान्द्यादिगुणसदृशजाड्यमान्द्यादियोगात् --- (अ० वृ० मा०, पृ० १६) ।

गौणी सारोपा एव साध्यवसाना लक्षणा के उदाहरणो को स्पष्ट करके मम्मट ने शुद्धा सारोपा तथा साध्यवसाना का उदाहरण दिया है- 'आयुर्घृतम्' तथा 'आयुरेवेदम्' इनमे 'आयु' विषयी है तथा 'घृत' विषय हे।[1] प्रथम उदाहरण मे विषयी तथा विषय शब्दत कथित है अत यह सारोपा लक्षणा हे तथा दूसरे उदाहरण मे आयु के द्वारा घृत का निगरण कर लिये जाने के कारण साध्यवसाना लक्षणा है। ये दोनो ही सादृश्य से भिन्न सम्बन्ध से होने के कारण शुद्धा लक्षणाएँ है । यहाँ कार्यकारण-भाव से लक्षणा हुई है। मम्मट ने गौणी एव शुद्धा दोनो प्रकार की लक्षणाओ का प्रयोजन भी स्पष्ट किया हे। गौणी सारोपा (गौर्वाहीक) मे आरोप्यमाण तथा आरोपविषय मे ताद्रूप्य की प्रतीति कराना तथा गौणी साध्यवसाना (गोरय) मे दोनो मे सर्वथा अभेद प्रतिपादन लक्षणा का प्रयोजन है।[2] इसी प्रकार शुद्धा सारोपा मे अन्य कारणो की अपेक्षा घृत मे अधिक क्षमता से आयुवर्धक होना तथा शुद्धा साध्यवसाना मे निश्चित रूप से कार्य सम्पादन करना प्रयोजन हे।[3] इस प्रकार सादृश्य सम्बन्ध से गोणी तथा सादृश्य से भिन्न स्थलो मे शुद्धा लक्षणा होनी हे।

सादृश्यभिन्न सम्बन्धो मे मम्मट ने कार्य-कारण सम्बन्ध के अतिरिक्त तादर्थ्य, स्वस्वामिभाव, अवयवावयविभाव तथा तात्कर्म्य आदि की चर्चा की है।[1]

मम्मट के ग्रन्थो की कारिकाओ के आधार पर इनके 'लक्षणा-भेदो' को चित्र सख्या (२) द्वारा स्पष्ट किया जा सकता हे ।
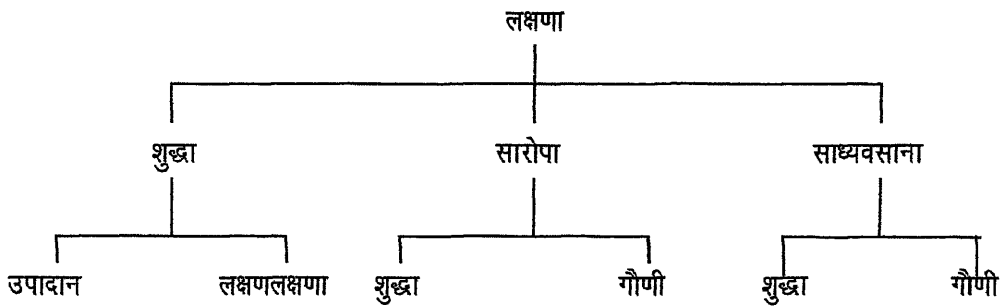
चित्र सख्या (२) मम्मट के अनुसार लक्षणा-भेद ।

किन्तु इस प्रकार का विभाजन मानने पर इसके भिन्न-भिन्न भेदो मे सकर हो जाता है। उदाहरणस्वरूप 'आयुर्घृतम्' तथा 'आयुरेवेदम्' ये दोनो ही उदाहरण मम्मट के अनुसार क्रमश शुद्धा सारोपा एव शुद्धा साध्यवसाना के

---

[1] 'आयुर्घृतम्' 'आयुरेवेदम्' इत्यादौ सादृश्यादन्य कार्यकारणाभावादि पर सम्बन्ध। (श० व्या० वि०, पृ० १४)।

[2] अत्र गौणभेदयोर्भेदेऽपि तादूरूप्यप्रतीति सर्वथैवाभेदावगमश्च प्रयोजनम्। (श० व्या० वि०, पृ० १४) ।

[3] शुद्धभेदयोस्त्वन्यवैलक्षण्येनाव्यभिचारेण च कार्यकारित्वादि। (श० व्या० वि०, पृ० १४) ।

है। ये उदाहरण लक्षणलक्षणा के भी हो सकते है। क्योकि इनमे 'आयु' अपने अर्थ का परित्याग करके ही लक्ष्यार्थबोध कराता है।

इसी सङ्कर के निराकरण हेतु 'प्रदीप' आदि कतिपय टीकाओ मे मम्मटकृत लक्षणा का विभाजन चित्र सख्या (३) द्वारा दिया गया है ।

मम्मट के ग्रन्थो मे जो भेद-निरूपण है उस के अनुरूप न होने के कारण यह विभाजन भी सन्तोषजनक नही माना जा सकता। चित्र सख्या (२) ही मम्मट के मत के अनुकूल है यद्यपि वह भी पूर्णतया विसङ्गतिरहित नही है।

रूढि एव प्रयोजन के आधार पर भी मम्मट की लक्षणा का विभाजन किया जाता है जो कि उचित नही है क्योकि रूढि एव प्रयोजन को तो इन्होने स्पष्ट रूप से लक्षणा का प्रयोजक हेतु कहा है इसे विभाजक हेतु नही माना जा सकता।
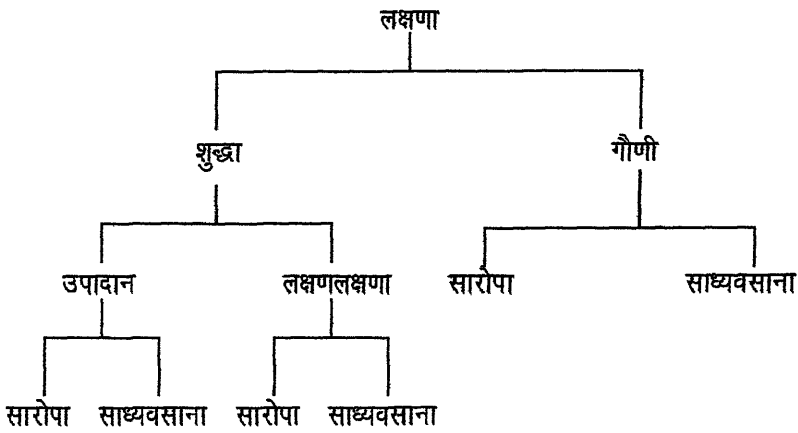
चित्र सख्या (३) 'प्रदीप' टीका के अनुसार मम्मट का लक्षणा-भेद ।

मम्मट ने लक्षणा मे प्रयोजन की प्रतीति को व्यञ्जनागम्य माना है। जो लक्षणाएँ रूढि के कारण होती है वे व्यङ्ग्य से रहित होती है।[1] 'काव्यप्रकाश' मे इन्होने रूढि तथा प्रयोजन की दृष्टि से होने वाली लक्षणा के तीन भेदो का निरूपण भी किया है। रूढि के कारण होने वाली लक्षणा को अव्यङ्ग्या कहते है तथा प्रयोजनयुक्त लक्षणा सव्यङ्ग्या है। इसमे भी कही-कही प्रयोजन रूप व्यङ्ग्य अत्यन्त गूढ होता है अर्थात् जिसकी प्रतीति सहृदयजन को ही हो सकती है, कही यह व्यङ्ग्य अत्यधिक अगूढ अथवा प्रकट रूप मे होती है उस कारण इसे सरलता से अधिगत किया जा सकता

---

[1] तृतीय अध्याय, पृ० ६३ द्रष्टव्य ।

है।[२] इस दृष्टि से सव्यङ्ग्या लक्षणा के गूढव्यङ्ग्य और अगूढव्यङ्ग्य रूप दो भेद होकर लक्षणा के तीन प्रकार हो जाते है।[३]

४.३ परवर्ती काव्यशास्त्रियो के अनुसार लक्षणा-भेद

मम्मट के अधिकाश परवर्ती काव्यशास्त्रियो ने न्यूनाधिक मात्रा मे इन्ही के अनुकरण पर लक्षणा का विभाजन प्रस्तुत किया है। इनमे से कुछ प्रमुख लक्षणा-भेद निम्नलिखित है -

नरेन्द्रप्रभसूरि ने 'अलङ्कारमहोदधि' मे 'काव्यप्रकाश' के अनुसार ही लक्षणा का भेद प्रस्तुत किया है। प्रथमत इन्होने सारोपा एव साध्यवसाना नाम से लक्षणा के दो प्रकार प्रस्तुत किये है।[४] तदनन्तर ये दोनो भेद सादृश्य आर सादृययेतर सम्बन्धो से होने पर गौणी एव शुद्धा कहलाए।[५] शुद्धा के पुन उपादान तथा लक्षणलक्षिता रूप से दो भेद हो गये ।[६] इस प्रकार इनके अनुसार भी गौणी लक्षणा के दो भेद तथा शुद्धा के चार भेदो को मिलाकर कुल छ प्रकार की लक्षणाएँ हुई (चित्र सख्या ४)।[७] इनके लक्षणा के सभी उदाहरण वही है जो मम्मट के है। इन्होने भी 'गौरनुबन्ध्य' मे उपादान लक्षणा का खण्डन करते हुए मुकुलभट्ट के 'ताटस्थ्य-सिद्धान्त' की भी आलोचना की है।[८]

'काव्यानुशासन' के रचयिता हेमचन्द्र ने यद्यपि अपने ग्रन्थ की रचना मे 'काव्यप्रकाश' को आधार बनाया है किन्तु इन्होने कही भी लक्षणा-विभाजन प्रस्तुत नही किया है। इन्होने चार प्रकार के शब्दो को मानते हुए गौणी को लक्षणा से पृथक् रूप मे स्वीकार किया है। लक्षणा के भेदो की चर्चा न करते हुए भी हेमचन्द्र ने गौणार्थ एव लक्ष्यार्थ के

---

[१] व्यङ्ग्येन रहिता रूढौ सहिता तु प्रयोजने। (का० प्र०, पृ० ७७)।

[२] तच्च गूढमगूढ वा। (का० प्र०, पृ० ७७)।

[३] तदेषा कथिता त्रिधा।
अव्यङ्ग्या गूढव्यङ्ग्या अगूढव्यङ्ग्या च। (का० प्र०, पृ० ७६)।

[४] सारोपा लक्षणाऽऽरोपविषयारोप्यभेदभृत्।
आरोप्यापह्नुतेऽन्यस्मिन् सैव साध्यवसानिका। (अ० म०, पृ० ३४)।

[५] द्विप्रकाराऽपि सादृश्याद् या सा गौणीति गीयते।
प्रत्यासत्तेस्तु याऽन्यस्या सा शुद्धेति प्रकीर्तिता॥ (अ० म०, पृ० ३४)।

[६] शुद्धाया एव पुनर्भेदद्वयमाह -
स्वार्थसिद्धयै पराक्षेपे साऽप्युपादानजा क्वचित्
परस्मै चार्पणे स्वस्य क्वापि लक्षणलक्षिता॥ (अ० म०, पृ० ३५)।

[७] एव च द्विभेदा गौणी चतुर्भेदा च शुद्धेति षट्प्रकारोपचारविचित्रता। (अ० म०, पृ० ३६)।

[८] अ० म०, पृ० ३५-३६ ।

अन्तर्गत 'गौर्वाहीक 'गौरय' 'आयुर्घृतम्' 'आयुरेवेदम्' इत्यादि उदाहरण दिये है तथा 'समारोपित' 'अध्यवसित' इत्यादि शब्द भी इनके ग्रन्थ मे मिलते है।[१]
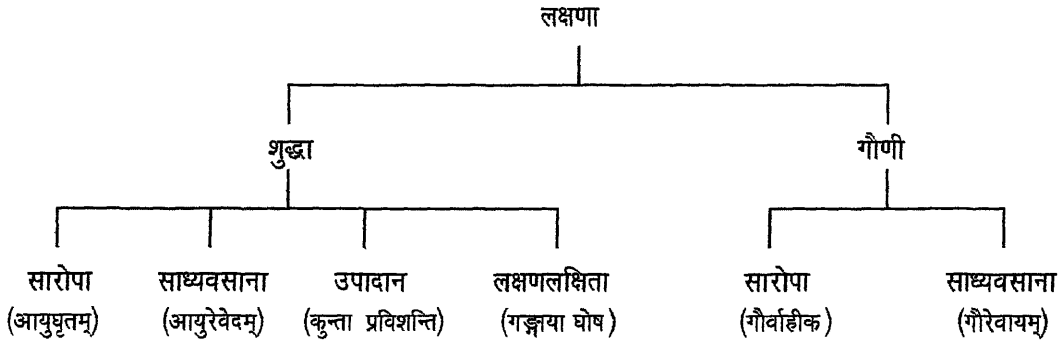
चित्र सख्या (४) नरेन्द्रप्रभसूरि के अनुसार लक्षणा-भेद ।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ का लक्षणा-विभाजन काव्यशास्त्र मे महत्त्व रखता है। इन्होने लक्षणा के अस्सी भेद स्वीकार किये है। रूढि एव प्रयोजन को भी लक्षणा का विभाजक हेतु मानते हुए इन्होने रूढा और प्रयोजनवती रूप से लक्षणा के दो भेद किये। पुन इन दोनो के उपादान एव लक्षण-लक्षणा के भेद से दो-दो भेद होकर चार प्रकार की लक्षणा हुई।[२] इन चारो के भी सारोपा और साध्यवसाना भेद से आठ प्रकार हुए।[३] उक्त आठ प्रकार की लक्षणाएँ भी सादृश्येतर सम्बन्ध से होने पर शुद्धा तथा सादृश्य सम्बन्ध से होने पर गौणी कहलाती है । इस प्रकार लक्षणा के सोलह भेद हो जाते है।[४] यहॉ यह अवधेय है कि मुकुलभट्ट एव मम्मट ने उपादान ओर लक्षणलक्षणा को केवल शुद्धा लक्षणा माना है, किन्तु विश्वनाथ ने उनको गौणी के अन्तर्गत भी माना है।

---

[१] सत्यारोप्यारोपविषययोर्भेदेनाभेदेन च समारोपितोऽतथाभूतोऽपि तथात्वेनाध्यवसितो । (काव्यानुशासनम्, पृ० २८) ।

[२] (क) मुख्यार्थस्येतराक्षेपो वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये।
स्यादात्मनोऽप्युपादानादेषोपादानलक्षणा॥ (सा० द०, पृ० ३१) ।
(ख) अर्पण स्वस्य वाक्यार्थे परस्यान्वयसिद्धये
उपलक्षणहेतुत्वादेषा लक्षणलक्षणा। (सा० द०, पृ० ३२) ।

[३] आरोपाध्यवसानाभ्या प्रत्येक ता अपि द्विधा। (सा० द०, पृ० ३३) ।

[४] सादृश्येतरसबन्धा शुद्धास्ता सकला अपि
सादृश्यात्तु मता गौण्यस्तेन षोडश भेदिता ॥ (सा० द०, पृ० ३४-३५) ।

मम्मट की ही भाँति विश्वनाथ भी लक्षणा मे प्रयोजन को व्यङ्ग्य मानते है। उपर्युक्त १६ प्रकार की लक्षणाओ मे जो आठ प्रयोजनवती लक्षणाएँ है उनके प्रयोजन रूप व्यङ्ग्य के गूढ एव अगूढ होने से दो प्रकार होकर सोलह भेद हो जाते है। ये सोलह प्रकार की प्रयोजनवती लक्षणाएँ धर्मिगत एव धर्मगत होने से बत्तीस प्रकार की हो जाती है।[1] अन्तत बत्तीस प्रयोजनमूलक एव आठ रूढिमूलक को मिलाकर कुल चालीस प्रकार[2] की लक्षणाएँ पदगत एव वाक्यगत रूप होने से अस्सी प्रकार की हो जाती हे।[3][4] (चित्र सख्या ५)।

पण्डितराज जगन्नाथ ने लक्षणा के सात भेद माने है। इन्होने भी रूढि ओर प्रयोजन की दृष्टि से लक्षणा के दो भेद किये है। प्रयोजनवती लक्षणा के पण्डितराज ने भी वही छ भेद किये है जो मम्मट की लक्षणा के भेद हे। अन्तर मात्र इतना ही ह कि शुद्धा लक्षणा के चार भेदो मे जो उपादान एव लक्षणलक्षणा नामक भेद है उसे इन्होने क्रमश अजहत्स्वार्था तथा जहत्स्वार्था लक्षणा कहा हे।[5] अजहत्स्वार्था तथा जहत्स्वार्था भेद मे व्यङ्ग्य की प्रधानता रहती है अत ये दोनो भेद ध्वनि के आधार होते है। (चित्र सख्या ६)।

'वेदान्तपरिभाषा' मे भी लक्षणा के भेदो की चर्चा हुई है। यह 'वेदान्त-दर्शन' का एक प्रकरण ग्रन्थ है। इसमे लक्षणा के भेदो का वेदान्तदर्शन के अनुकूल की वर्णन किया गया है। मुख्य रूप से इसमे जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा तथा जहदजहल्लक्षणा, ये तीन भेद ही लक्षणा के माने गये है। जहल्लक्षणा तथा अजहल्लक्षणा क्रमश लक्षणलक्षणा तथा उपादान लक्षणा के ही सदृश है।

वेदान्तपरिभाषाकार **धर्मराजाध्वरीन्द्र** ने सर्वप्रथम तो लक्षणा के दो भेद किये है केवल लक्षणा तथा लक्षितलक्षणा। केवल लक्षणा का उदाहरण 'गङ्गाया घोष' दिया है जिसमे गङ्गा पद से साक्षात्सम्बद्ध तट अर्थ मे लक्षणा

---

[1] धर्मिधर्मगतत्वेन फलस्यैता आपि द्विधा (सा० द०, पृ० ३८)।

[2] तदेव लक्षणाभेदाश्चत्वारिशन्मता बुधै। (सा० द०, पृ० ३६)।

[3] पदवाक्यगतत्वेन प्रत्येक ता अपि द्विधा। (सा० द०, पृ० ३६)।

[4] एवमशीतिप्रकारा लक्षणा। (सा० द०, पृ० ३६)।

[5] इय तावद् द्विविधा निरूढा प्रयोजनवती च। तत्रापि द्वितीया द्विविधा गोणी शुद्धा च। तत्राद्या सारोपा साध्यवसाना चेति द्विविधा। अन्त्या चतुर्विधा- जहत्स्वार्था अजहत्स्वार्था सारोपा साध्यवसाना चेति प्रयोजनवती षड्विधा सम्पद्यते। (र० गङ्गा०, द्वि० आ० (I), पृ० १६५)।

नोट (१) ८ रुढिमूला + ३२ प्रयोजनवती, इन ४० प्रकार की लक्षणाओ के पदगत तथा वाक्यगत होने से ८० भेद लक्षणा के हो जाते हे।
(२) गूढ = गूढव्यङ्ग्य, अगूढ = अगूढव्यङ्ग्य, धर्म = धर्मगत, धर्मि = धर्मिगत।

चित्र सख्या (५) आचार्य विश्वनाथ के अनुसार लक्षणा-भेद।

होती है। लक्षितलक्षणा मे शक्यार्थ अर्थात् अभिधा से परम्परा सम्बन्ध से लक्षणा होती है। गौणी इनके अनुसार लक्षितलक्षणा है।[1]
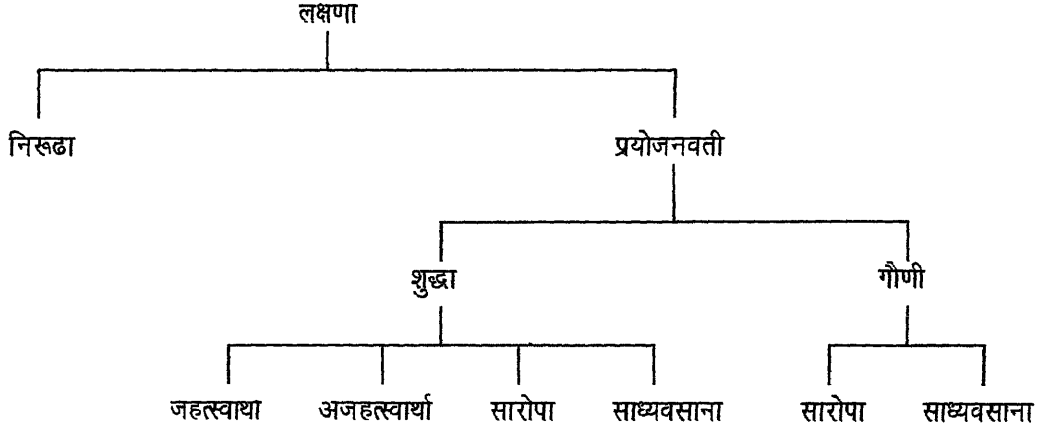
चित्र सख्या (६) पण्डितराज जगन्नाथ के अनुसार लक्षणा-भेद ।

उपर्युक्त दो भेदो के अतिरिक्त प्रकारान्तर से लक्षणा के तीन अन्य भेद भी माने गये है - जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा तथा जहदजहल्लक्षणा।[2] जहॉ शक्यार्थ का अन्तर्भाव न करके अर्थात् उसका परित्याग करके अन्यार्थ की प्रतीति होती है उसे जहल्लक्षणा कहते है।[3] जहॉ शक्यार्थ का अन्तर्भाव करके अन्यार्थ की प्रतीति होती है उसे अजहल्लक्षणा कहते है।[4] तीसरी जहदजहल्लक्षणा प्रमुख रूप से वेदान्तियो की कल्पना है जहॉ विशिष्टवाचक शब्द विशिष्टार्थ के एक देश का परित्याग करके अन्यार्थ की प्रतीति कराता है वहॉ जहदजहल्लक्षणा होती है। अर्थात् इस

---

[1] लक्षणा च द्विविधा- केवललक्षणा लक्षितलक्षणा चेति। तत्र शक्यसाक्षात्सम्बन्ध केवललक्षणा यथा गङ्गाया घोष इत्यत्र प्रवाहसाक्षात्सम्बन्धिनि तीरे गङ्गापदस्य केवललक्षणा। यत्र शक्यपरम्परासम्बन्धेनार्थान्तरप्रतीतिस्तत्र लक्षितलक्षणा -। (वे० परि०, पृ० १२१) ।

[2] प्रकारान्तरेण लक्षणा त्रिविधा-जहल्लक्षणा अजहल्लक्षणा जहदजहल्लक्षणा चेति। (वे० परि०, पृ० १२२) ।

[3] तत्र शक्यमनन्तर्भाव्य यत्रार्थान्तरप्रतीतिस्तत्र जहल्लक्षणा यथा विष भुङ्क्ष्वेत्यत्र स्वार्थं विहाय शत्रुगृहे भोजननिवृत्तिर्लक्ष्यते। (वे० परि०, पृ० १२२) ।

[4] यत्र शक्यार्थमन्तर्भाव्यैवार्थान्तरप्रतीतिस्तत्राजहल्लक्षणा यथा शुक्लो घट इत्यत्र हि शुक्लशब्द स्वार्थं शुक्लगुणमन्तर्भाव्यैव तद्वति द्रव्ये लक्षणया वर्तते। (वे० परि०, पृ० १२३) ।

लक्षणा मे वाच्यार्थ के एक अश का परित्याग करके अवशिष्ट अश का बोध कराया जाता है।[1] इसे ही भागत्याग लक्षणा भी कहते है। वेदान्त दर्शन मे 'तत्त्वमसि' महावाक्य की व्याख्या के लिए इसी लक्षणा का आश्रय लिया गया है। इस महावाक्य का वाच्यार्थ है परोक्षत्वविशिष्ट एव अपरोक्षत्वविशिष्ट चैतन्य की एकरूपता। इसमे विरोध होने पर विरुद्धाश का परित्याग करके अविरुद्ध अखण्ड चैतन्य का लक्षणा से बोध होता है। यहाँ वाक्यार्थ के एक अश मे विरोध होने से उसका त्याग किया गया है अत जहदजहल्लक्षणा है।[2] इस महावाक्य की व्याख्या मे जहल्लक्षणा एव अजहल्लक्षणा दोनो ही अपर्याप्त है।[3]

धर्मराजाध्वरीन्द्र 'तत्वमसि' मे जहदजहल्लक्षणा लक्षणा नही मानते । इनके अनुसार शक्ति वृत्ति अर्थात् अभिधा से ही स्वतन्त्र रूप से उपस्थित तत् एव त्व पदार्थो के अभेदान्वय मे बाधा न होने से यहाँ लक्षणा मानने की आवश्यकता नही हे। इसका उदाहरण इन्होने 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्' दिया हे।[4]

विद्यानाथ ने **'प्रतापरुद्रीय'** मे सक्षिप्त रूप से ही शब्द-वृत्तियो का निरूपण किया है। गौणी को इन्होने लक्षणा का ही भेद मानते हुए[5] सादृश्यनिबन्धना तथा सम्बन्धनिबन्धना रूप से पहले लक्षणा के दो भेद किये है।[6] पुन इनकी सम्बन्धनिबन्धना का जहद्वाच्या तथा अजहद्वाच्या एव सादृश्य-निबन्धना लक्षणा के सारोपा एव साध्यवसाना दो भेद हो जाते है।[7] सादृश्यनिबन्धना लक्षणा का उदाहरण इन्होने 'अग्निर्माणवक' तथा सम्बन्धनिबन्धना का 'गङ्गाया घोष' दिया है। इन्होने किसी प्रकार की लक्षणा का लक्षण नही प्रस्तुत किया है। सारोपा एव साध्यवसाना लक्षणा को शुद्धा लक्षणा का भेद न मानते हुए इसे केवल गौणी तक ही सीमित कर दिया है। (चित्र सख्या ७)।

---

[1] यत्र हि विशिष्टवाचकशब्द एकदेश विहाय एकदेशे वर्तते तत्र जहदजहल्लक्षणा यथा सोऽय देवदत्त इति। (वे० परि०, पृ० १२३) ।

[2] ---- तथा 'तत्त्वमसि' इति वाक्य तदर्थो वा परोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टचैतन्यैकत्वलक्षणस्य वाक्यार्थस्याशे विरोधाद् विरुद्धपरोक्षत्वापरोक्षत्वादिविशिष्टत्वाश परित्यज्याविरुद्धमखण्डचैतन्यमात्र लक्षयतीति। (वे० सा०, पृ० १७६) ।

[3] अत्र 'गङ्गाया घोष प्रतिवसति' इतिवाक्यवज्जहल्लक्षणादि न सङ्गच्छते। (वे० सा०, पृ० १७२) ।

[4] एवमेय तत्त्वमसीत्यादिवाक्येऽपि न लक्षणा। शक्त्या स्वातन्त्र्येणोपस्थितयोस्तत्त्वपदार्थयोरभेदान्वये बाधकाभावात्। --- जहदजहल्लक्षणोदाहरण तु- काकेभ्यो दधि रक्ष्यतामित्यादेव। (वे० परि०, पृ० १२५)

[5] गौणवृत्तिरपि लक्षणाप्रभेद एव। (प्र० रु०, पृ० ५५-५६) ।

[6] अत एव सादृश्यनिबन्धना सम्बन्धनिबन्धना चेति द्विविधा लक्षणा। (प्र० रु०, पृ० ५७-५८) ।

[7] सम्बन्धनिबन्धना जहद्वाच्या अजहद्वाच्या चेति द्विविधा। सादृश्यनिबन्धना सारोपा साध्यवसाया चेति द्विविधा। एव लक्षणा चतुर्विधा। (प्र० रु०, पृ० ५८) ।
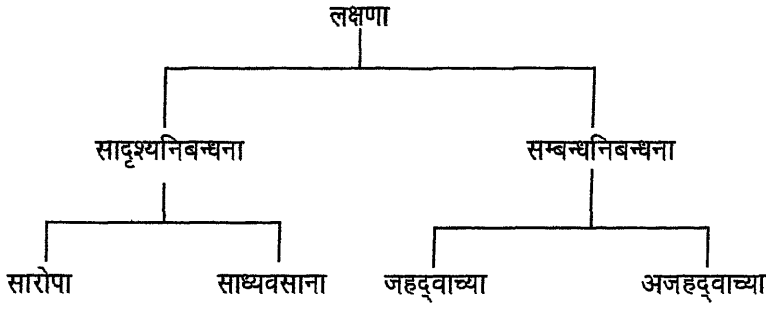
चित्र सख्या (७) आचार्य विद्यानाथ के अनुसार लक्षणा-भेद ।

वृत्तिवार्तिककार **अप्पयदीक्षित** ने शुद्धा तथा गौणी रूप से लक्षणा के दो भेद मानते हुए[1] उन दोनो के भी निरूढा एव फलवती रूप से दो-दो भेद किये है।[2] प्रयोजन से होने वाली लक्षणा ही फलवती लक्षणा है। इन्होने भी गौणी तथा शुद्धा का आधार सादृश्यमूलक तथा सादृश्येतर सम्बन्ध माना है। गौणी लक्षणा गुणो के आधार पर होती है। इसके लिए इन्होने आदर सहित 'अभिधावृत्तिमातृका' की पक्ति भी उद्धृत की है।[3]

फल लक्षणा सात प्रकार की होती है। शुद्धा फल लक्षणा के पाँच प्रकार जहत् लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहदजहल्लक्षणा, सारोपा तथा साध्यवसाना है एव गौणी फल लक्षणा के सारोपा एव साध्यवसाना दो भेद है।[4]

व्यतिरेक लक्षणा जिसे मम्मट ने वैपरीत्य सम्बन्ध से होने वाली लक्षणा कहा है, उसे ये जहल्लक्षणा का ही एक भेद मानते है तथा इसके लिए 'उपकृत बहु तत्र - - - इत्यादि पद्य प्रस्तुत करते है।[5] इसमे 'तुम्हारे अपकार करने पर भी मै इस प्रकार प्रिय बोल रहा हूँ' इत्यादि रूप मे स्वसाधुत्व का प्रतिपादन ही लक्षणा का प्रयोजन है।

अजहल्लक्षणा का उदाहरण अप्पयदीक्षित 'कुन्ता प्रविशन्ति' तथा 'यष्टय प्रविशन्ति' देते है[6] जिसे मम्मट ने भी उपादान लक्षणा के लिए उदाहृत किया था। जहदजहल्लक्षणा का उदाहरण इन्होने 'ग्रामो दग्ध' तथा 'पुष्पित वनम्'

---

[1] तस्मात् सादृश्यगर्भतदन्यसम्बन्धनिमित्ततया गौणी शुद्धा चेति लक्षणाया एव द्वैविध्यम्। (वृ० वा०, पृ० ५१) ।

[2] इय च द्विविधापि लक्षणा प्रत्येक द्विविधा- निगूढलक्षणा फललक्षणा च। (वृ० वा०, पृ० ५१) ।

[3] इदमेवाभिसन्धायोक्त वृद्धै 'लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तेरिष्टा तु गौणता 'इति।। (वृ० वा०, पृ० ५५) ।

[4] (फललक्षणा तावत्-) जहल्लक्षणा अजहल्लक्षणा जहदजहल्लक्षणा। सारोपा साध्यवसाना च । शुद्धा गौणी च। इत्येव सप्तविधा फललक्षणा। (वृ० वा०, पृ० ५२) ।

[5] व्यतिरेकलक्षणापि जहल्लक्षणा प्रभेद एव। यथा- उपकृत बहु तत्र - - - । (वृ० वा०, पृ० ५२-५३) ।

[6] अजहल्लक्षणा यथा- 'कुन्ता प्रविशन्ति यष्टयश्च'। (वृ० वा०, पृ० ५३) ।

दिया है। इसमे स्व अर्थ के एक देश का त्याग तथा एक देश का बोध होता है।[1] सारोपा एव साध्यवसान का वही स्वरूप इन्हे भी मान्य था जो मुकुलभट्ट एव मम्मट को मान्य था। (चित्र सख्या ८)।

कोविदानन्द एव त्रिवेणिका जैसे प्रसिद्ध काव्यशास्त्रीय ग्रन्थो के रचयिता **आशाधरभट्ट** ने दोनो ही ग्रन्थो मे लक्षणा-भेदो की चर्चा की है किन्तु इनमे लक्षणा का व्यवस्थित एव क्रमयुक्त विभाजन नही मिलता है। सर्वप्रथम जहती अजहती तथा उभयी ये तीन भेद इनकी लक्षणा के होते है। इसके अतिरिक्त अभिधेयार्थ एव लक्ष्यार्थ के मध्य सम्बन्ध के आधार पर लक्षणा के अनेक भेदो का उल्लेख भी मिलता है।[2] जहती इत्यादि उक्त तीनो भेदो का निरूढा तथा फलवती रूप से दो प्रकार स्पष्ट किया गया है।[3] फलवती लक्षणा सव्यङ्ग्या होती हे। व्यङ्ग्य के गूढ तथा अगूढ होने से उसके भी दो प्रकार हो जाते है।[4] इसके अतिरिक्त इन लक्षणाओ के सारोपा एव साध्यवसाना दो भेद होते हे।[5] गौणी ओर शुद्धा भेद से भी लक्षणा के दो प्रकार माने हे।[6]
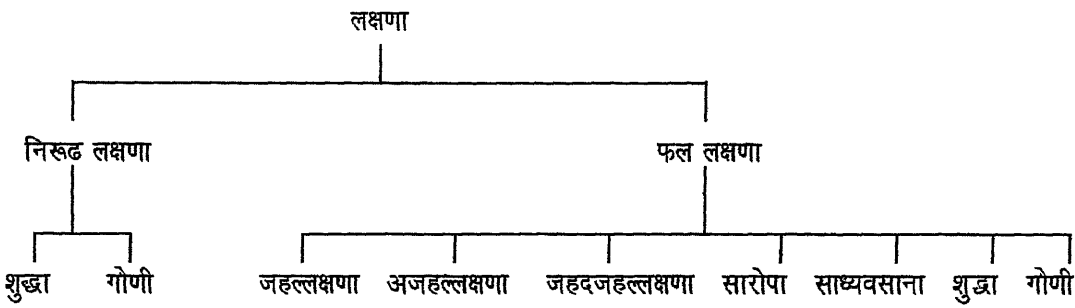
चित्र सख्या (८) अप्पयदीक्षित के अनुसार लक्षणा-भेद ।

---

[1] ग्रामैकदेशदाहादौ सति 'ग्रामो दग्ध' 'पुष्पित वनम्' इत्यादि प्रयोगे 'ग्रामा'दि पदस्य स्वार्थैकदेशपरित्यागेन तदेकदेश वृत्तेर्जहदजहल्लक्षणा दग्धभूयस्त्वादिद्योतन फलम्। (वृ० वा०, पृ० ५३) ।

[2] प्लुतिस्तु जहती नाम प्रस्तारोऽजहती च सा।
सकोच उभयी ज्ञेया सम्बन्धादप्यनेकधा।। (कोवि०, पृ० २८) ।

त्रिवेणिका मे इन तीनो लक्षणाओ के नाम जहल्लक्षणा अजहल्लक्षण तथा जहदजहल्लक्षणा नाम मिलते है। तृतीय जहदजहल्लक्षणा को ही 'भागत्यागलक्षणा' भी कहते है -

अथ फलवती जहदजहल्लक्षणा। इयमेव भागत्यागलक्षणेत्याहु। (त्रिवेणिका, पृ० १३) ।

[3] त्रिविधापि पुनर्द्वेधा निरूढा च फलान्विता। (कोवि०, पृ० ३१) ।

[4] निरूढा भक्तिरफला गूढागूढफलाऽपरा। (कोवि०, पृ० ३४) ।

[5] सारोपा सा मता यत्र विषयी विषयान्वित।
ज्ञेया साध्यवसाना सा विषयी यत्र केवल ।। (कोवि०, पृ० ३५) ।

[6] कार्यकारणभावाद भेदौ शुद्धाविमौ स्मृतौ
सादृश्ये सति गौणौ च शक्यलक्ष्यगुणाश्रयात्।। (कोवि०, पृ० ३६) ।

उपर्युक्त विभाजन को आशाधरभट्ट ने जिस प्रकार प्रस्तुत किया है उसके अनुसार लक्षणा के भेदोपभेद की कोई निश्चित तालिका नही निर्मित की जा सकती।

४. ४ 'गुणवृत्ति', 'भक्ति' एव 'उपचार'

लक्षणाशक्ति के अब तक के विवेचन से यह स्पष्ट है कि इस प्रसङ्ग मे 'गुणवृत्ति' 'भक्ति' एव 'उपचार' शब्द का प्रयोग बहुलता से उपलब्ध होता है। कही-कही ये तीनो ही लक्षणा के पर्याय के रूप मे प्रयुक्त है तो कही गौणी को लक्षणा का एक भेद बताया गया है। कतिपय विद्वानो ने गौणी को लक्षणा से भिन्न वृत्ति के रूप मे मान्यता दी है।

गुणवृत्ति अथवा गौणी सामान्यतया सादृश्य सम्बन्ध पर आधारित होती है। गुणो के योग से होने के कारण ही इसे 'गौणी' कहते हे। 'गौणी' वृत्ति को लक्षणा से भिन्न वृत्ति के रूप मे स्पष्ट मान्यता मीमासको ने प्रदान की है। कुमारिलभट्ट ने गौणी को लक्षणा से भिन्न बताते हुए उसे लक्ष्यमाण गुणो के योग से होने वाली वृत्ति कहा है।[१] प्रभाकरमिश्र एव उनके मतानुयायियो ने भी गौणी को लक्षणा से भिन्न ही माना है।[२]

नैयायिको ने गौणी को लक्षणा से भिन्न नही माना है। न्यायसिद्धान्त के सस्थापक आचार्य गौतम लक्षणा को 'उपचार' कहते है।[३]

'ध्वन्यालोक' मे आनन्दवर्धन ने अनेकश गुणवृत्ति, भक्ति एव उपचार शब्द का प्रयोग लक्षणा के लिए ही किया है। इस ग्रन्थ की प्रथम कारिका के 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' अश मे 'भाक्त' पद को स्पष्ट करते हुए आनन्दवर्धन ने इसे 'गुणवृत्ति' कहा है[४] इसके साथ ही 'भक्ति' के लिए इन्होने 'उपचार' शब्द भी प्रयुक्त किया है।[५] लोचन टीका मे अभिनवगुप्त ने तीनो का लक्षणा के पर्याय के रूप मे ही प्रयोग किया है।[६]

मुकुलभट्ट ने भी गौणी का अन्तर्भाव लक्षणा मे ही कर लिया है इन्होने लक्षणा का वर्गीकरण करते हुए उसके शुद्धा तथा उपचारमिश्रा दो भेद किये जिनमे उपचारमिश्रा को भी शुद्ध और गौण दो भेदो मे बाँटा। उपचार

---

[१] त० वा०, मी० द० (२), पृ० ३१३ ।

[२] गौणवृत्तिर्लक्षणातो भिन्नेति प्राभाकरा। (प्रता० रु०, सस्कृत व्या०, पृ० ५८) ।

[३] न्या० सू०, २/२/६३

[४] भाक्तमाहुस्तमन्ये। अन्ये त ध्वनिसज्ञित काव्यात्मान गुणवृत्तिरित्याहु। (ध्व०, प्र० उ०, पृ० ४५) ।

[५] उपचारमात्र तु भक्ति' (ध्व०, प्र० उ०, पृ० २६२) ।

[६] तत आगतो भाक्त इति गौणो लाक्षणिकश्च। मुख्यस्याचार्थस्य भङ्गो भक्तिरित्येव मुख्यार्थबाधानिमित्तप्रयोजनमितित्रय-सद्भाव उपचारबीजम्। (ध्व० लो०, प्र० उ०, पृ० ४६) ।

को परिभाषित करते हुए मुकुलभट्ट ने लिखा है - एक वस्तु पर दूसरी वस्तु के आरोप को उपचार कहते है। गौणोपचारमूलक लक्षणा मूलभूत उपमानोपमेयभाव पर आधारित होती है तथा शुद्धोपचार मे ऐसा नही होता, अर्थात् वहाँ उपमानोपमेयभाव के न होने से उपमानगत गुणो के समान गुणो के सम्बन्ध से लक्षणा नही हो पाती। ऐसे स्थलो पर कार्य-कारणभाव इत्यादि सम्बन्धो के कारण लक्षणा होती है। मुकुलभट्ट ने 'उपचार' का जो शुद्ध नामक भेद किया है उससे यही सिद्ध होता है कि इन्हे 'उपचार' का केवल 'सादृश्यसम्बन्ध' रूप अर्थ ही अभिप्रेत नही था। इन्होने गौणोपचार के लिए 'मूलभूत उपमानोपमेयभाव' शब्द का प्रयोग किया है इसका डॉ० रेवा प्रसाद द्विवेदी ने यह अर्थ लिया है कि मुकुलभट्ट सादृश्यमूलक उपचार को ही वास्तविक उपचार मानते है। वस्तुत यह युक्तिसङ्गत नही है। मुकुलभट्ट के अनुसार 'मूलभूत' शब्द का यहाँ अभिप्राय प्रतीत होता है कि शुद्ध एव गौण दोनो उपचारो मे से गोणोपचार के अन्तर्गत मूलरूप से 'उपमानोपमेयभाव' के आधार पर लक्षणा होती है अर्थात् उपमानगत गुणो का सम्बन्ध इसका आधार होता है। यही मूलभूत शब्द का अभिप्राय हे। उपमानोपमेयभाव के सादृश्यमूलक होने के कारण ही गौणी लक्षणा का मूल सादृश्य-सम्बन्ध होता है तथा गुणो के आधार पर होने के कारण ही यह गौणोपचार कहलाता है। शुद्धोपचार के मूल मे सादृश्यभिन्न कार्यकारण भावादि सम्बन्ध होते है।

मुकुलभट्ट के परवर्ती आलङ्कारिको मे अधिकाश ने 'उपचार' का अर्थ सादृश्ययुक्त गौण प्रयोग किया है। आचार्य मम्मट ने अपने ग्रन्थो मे उपचार को गौणी तथा शुद्धा का भेदक धर्म मानते हुए इसे गौणी लक्षणा तक सीमित कर दिया है। इनके अनुसार उपचार से मिश्रित होने के कारण ही गौणी शुद्धा लक्षणा से भिन्न है। अर्थात् शुद्धा लक्षणा मे उपचार का मिश्रण नही रहता। मम्मट ने यद्यपि 'उपचार' की कोई परिभाषा नही दी है तथापि इनके अनुसार इसका अर्थ सादृश्य-सम्बन्ध ही हे। शुद्धा लक्षणा को ये स्पष्ट रूप से उपचार से अमिश्रित कहते है।[1] जिसका तात्पर्य है कि गौणी मे उपचार का मिश्रण रहता है। अन्यत्र मम्मट सादृश्य-सम्बन्ध से होने वाली लक्षणा को गौणी कहते है,[2] इस प्रकार उपचार का अर्थ इनके अनुसार सादृश्य सम्बन्ध ही हुआ।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ मे जो उपचार की परिभाषा दी है उसके अनुसार दो भिन्न-भिन्न पदार्थों का अत्यधिक सादृश्य के कारण भेद-ज्ञान का तिरोहित हो जाना ही उपचार है।[3] 'सिहो माणवक' इस उदाहरण

---

[1] उभयरूपा चेय शुद्धा उपचारेणामिश्रितत्वात्। (श० व्या० वि०, पृ० ६)।

[2] भेदौविमौ च सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतस्तथा। गौणौ शुद्धौ च विज्ञेयौ। (श० व्या० वि०, पृ० ११)।

[3] उपचारो हि नामात्यन्त विशकलितयो पदार्थयो सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमात्रम्। (सा० द०, पृ० ३७)।

मे सिह तथा बालक मे भिन्नता होते हुए भी उनमे शूरता एव क्रूरता इत्यादि गुण समान है। यही सादृश्य है।[१] इसी के कारण इनका भेद तिरोहित हो गया है। इसी को उपचार कहते है। इसके कारण होने वाली लक्षणा गौणी कहलाती है।

नरेन्द्रप्रभसूरि ने 'उपचार' का अर्थ मुकुलभट्ट के समान ही करते हुए इसे अन्य पर अन्य का आरोप कहा है, किन्तु इनके अनुसार 'उपचार' न तो लक्षणा का भेद है और न ही भेदक धर्म अपितु लक्षणा का ही अपर पर्याय है।[२] गौणी को इन्होने भी लक्षणा का ही एक भेद माना है। सादृश्य अथवा गुणसाम्य से होने वाली लक्षणा ही गौणी लक्षणा हे।[३]

इसी प्रकार अनेक अन्य काव्यशास्त्री है जिन्होने गौणी को लक्षणा का ही एक भेद स्वीकार किया है। आचार्य विद्यानाथ के अनुसार गौणी लक्षणा का ही भेद है उससे भिन्न नही क्योंकि दोनो मे ही सम्बन्ध की अनुपपत्ति रहती है।[४] अप्पयदीक्षित ने मीमासको का खण्डन करते हुए गौणी को लक्षणा मे ही अन्तर्भूत माना है क्योकि 'सादृश्य' एक प्रकार का सम्बन्ध ही होता है और सादृश्य युक्त लक्षणा ही गौणी लक्षणा है।[५] आशाधरभट्ट[६] एव नागेशभट्ट[७] ने भी सादृश्य के आधार पर होने वाली लक्षणा को गौणी कहते हुए इसे लक्षणा का ही भेद माना है।

कुछ काव्यशास्त्रियो ने गौणी को लक्षणा से भिन्न वृत्ति कहा है जिनमे हेमचन्द्र एव भोजराज प्रमुख है। हेमचन्द्र ने चार प्रकार के शब्द माने है वाचक, लक्षक, गौण एव व्यञ्जक । शृङ्गारप्रकाशकार भोजराज ने एक ही अभिधा शक्ति मानते हुए उसके मुख्या, गौणी और लक्षणा तीन भेद किये है।

---

[१] तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम्। यथा चन्द्रभिन्नत्वे सति चन्द्रगतावह्लादकत्वादिमत्त्व मुखे चन्द्रसादृश्यम् (न्या० सि० मु०, शक्तिसादृश्यखण्डनम्, पृ० ४६) ।

[२] उपचरणमन्यस्मिन्नन्यस्यारोपणमुचार स च लक्षणाऽपरपर्याय शब्दस्य व्यापारविशेषस्तेन विचित्रता। (अ० म०, पृ० ३३)।

[३] द्विप्रकाराऽपि सादृश्याद् या सा गौणीति गीयते। (अ० म०, पृ० ३४) ।

[४] गोणवृत्तिरपि लक्षणाप्रभेद एव सम्बन्धानुपपत्तिमूलकत्वात्। (प्रता० रु०, पृ० ५५-५६) ।

[५] सादृश्येन प्रतिपादकत्वरूपा गौण्यपि लक्षणाप्रभेद एव तत्सदृशेऽपि तन्निरुपितसादृश्याधिकरणत्वपरम्परासम्बन्धसत्वात्। (वृ० वा०, पृ० ५०) ।

[६] सादृश्यसम्बन्धे सति गौणी। (त्रिवेणिका, पृ० १२) ।

[७] स्वनिरूपितसादृश्याधिकरणत्वसम्बन्धेन शक्यसम्बन्ध्यर्थप्रतिपादिका गौणी। (वै० सि० ल० म०, पृ० १००) ।

व्यञ्जनावृत्ति-विवेचन

शब्दशक्तियो मे व्यञ्जना नामक वृत्ति भी मानी गई है। मुख्यार्थ एव लक्ष्यार्थ से भिन्न एक अन्य अर्थ भी होता है, इसी अर्थ की प्रतीति कराने वाली शक्ति 'व्यञ्जना' है। इससे व्यक्त अर्थ को 'व्यङ्ग्यार्थ' कहते है। काव्यशास्त्र के क्षेत्र मे शब्द की एक शक्ति के रूप मे व्यञ्जना की उद्भावना आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य मे ही सर्वप्रथम मिलती है। किन्तु आनन्दवर्धन ने अपने ग्रन्थ मे व्यञ्जना की कोई भी परिभाषा नही दी है।

आनन्दवर्धन ने 'ध्वनि' को काव्य की आत्मा कहा हे। जहाँ शब्द अपने अर्थ को तथा अर्थ स्वय को गौण करके प्रतीयमान अर्थ की व्यञ्जना कराते है वही 'ध्वनि' है।[1] अभिनवगुप्त ने लोचन मे स्पष्ट किया है कि ध्वनि शब्द का व्यवहार पॉच अर्थो मे होता है। ये पाँच अर्थ है- वाच्य अर्थ, वाचक शब्द, व्यङ्ग्य अर्थ, व्यञ्जना व्यापार तथा इन चारो का समुदाय रूप काव्य।[2]

व्याकरण-शास्त्र सभी विद्याओ का मूल माना जाता है अत वैयाकरण प्रथम कोटि के विद्वान् कहलाते है। वैयाकरणो ने मस्तिष्क मे नित्य रूप से वर्तमान स्फोट के अभिव्यञ्जक वर्णो को 'ध्वनि' कहा है। इन्ही ध्वनियो को हम लोक मे सुनते है। आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त का आधार वैयाकरणो का यह स्फोटवाद ही है।[3]

---

[1] यत्रार्थ शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यड्क्त काव्यविशेष स ध्वनिरिति सूरिभि कथित ॥ (ध्व०, प्र० उ०, पृ०१७१) ।

[2] एव घण्टानिर्ह्रादस्थानीयोऽनुरणनात्मोपलक्षितो व्यङ्ग्योऽप्यर्थो ध्वनिरिति व्यवहृत । - - - - तेन व्यञ्जकौ शब्दार्थावपीह ध्वनिशब्देनोक्तौ। - - - - अस्माभिरपि प्रसिद्धेभ्य शब्दव्यापारेभ्योऽभिधातात्पर्यलक्षणारूपेभ्योऽतिरिक्तो व्यापारो ध्वनिरित्युक्त । एव चतुष्कमपि ध्वनि । तद्योगाच्च समस्तमपि काव्य ध्वनि । (ध्व०, लो० प्र० उ०, पृ० २४७-२५०) ।

[3] प्रथमे हि विद्वासो वैय्याकरणा व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम् । ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभि सूरिभि काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्यवाचकसम्मिश्र शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद्ध्वनिरित्युक्त । (ध्व०, प्र० उ०, पृ० २४१) ।

इस प्रकार आनन्दवर्धन के अनुसार ध्वनिकाव्य मे व्यङ्ग्य अर्थ की ही प्रधानता रहती है। व्यङ्ग्यार्थ अथवा प्रतीयमानार्थ काव्य का विलक्षण अर्थ होता है। जिस प्रकार अङ्गनाओ मे लावण्य मुखादि शरीर के अवयवो से सर्वथा पृथक् होता है, उसी प्रकार प्रतीयमानार्थ भी प्रसिद्ध अलङ्कारो एव शब्दार्थों से भिन्न ही होता है।[१] व्यङ्ग्य अर्थ तथा व्यञ्जक शब्दो का महत्त्व बताते हुए आनन्दवर्धन कहते है कि महाकवियो को 'महाकवित्व' पद की प्राप्ति व्यङ्ग्य व्यञ्जक से ही होती है।[२]

मम्मट के ग्रन्थो मे व्यञ्जना के विभिन्न भेदो की परिभाषाएँ मिलती है किन्तु व्यञ्जना-शक्ति कहते किसे है, इसे स्पष्ट करने वाली कोई परिभाषा उपलब्ध नही होती है। मम्मट के कुछ परवर्ती काव्यशास्त्रियो ने व्यञ्जना को परिभाषित करने का अवश्य प्रयास किया है। हेमचन्द्र ने मुख्य, गौण एव लक्ष्यार्थ के अतिरिक्त प्रतीत होने वाले अर्थ को ही व्यङ्ग्यार्थ कहा हे जिसकी पूर्वाचार्यों ने 'ध्वनि' सज्ञा दी थी।[३] व्यञ्जना-व्यापार को स्पष्ट करते हुए हेमचन्द्र कहते है कि अभिधा शक्ति के द्वारा प्रतीत अर्थ सहृदय की प्रतिभा की सहायता से एक नूतन अर्थ को प्रकट करता है जिसे द्योतित करने वाली शक्ति व्यञ्जना कहलाती है।[४] साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने व्यञ्जनावृत्ति की परिभाषा देने का सार्थक प्रयास किया है। व्यञ्जना शब्द तथा अर्थ दोनो मे रहने वाली वृत्ति है। अपने-अपने अर्थ की प्रतीति कराने के पश्चात् अभिधा आदि वृत्तियो के शान्त होने पर जिससे अन्य अर्थ का बोधन होता है उसे व्यञ्जना-व्यापार कहते है।[५] व्यञ्जना को आचार्यों ने व्यञ्जन, ध्वनन, द्योतन, गमन, प्रत्यायन आदि नामे से भी व्यवहृत होने वाली शक्ति बताया है।[६]

व्यञ्जना-शक्ति की विवेचना के प्रसङ्ग मे यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि ध्वनिकार के पूर्ववर्ती आलङ्कारिको ने व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता को स्वीकारा था अथवा नही ? इस प्रश्न का समाधान भी हमे आनन्दवर्धन के ही

---

[१] प्रतीयमान पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्त विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु। (ध्व०, प्र० उ०, पृ० ७०) ।

[२] व्यङ्ग्योऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन न शब्दमात्रम्। तावेव शब्दार्थौ महाकवे प्रत्यभिज्ञेयो।
व्यङ्ग्यव्यञ्जकाभ्यामेव सुप्रयुक्ताभ्या महाकवित्वलाभो महाकवीना न वाच्यवाचकरचनामात्रेण। (ध्व०, प्र० उ०, पृ० १६१) ।

[३] मुख्यगौणलक्ष्यार्थव्यतिरिक्त प्रतीतिविषयो व्यङ्ग्योऽर्थ। स च ध्वन्यते द्योत्यते इति ध्वनिरिति पूर्वाचार्यै संज्ञित।
(काव्यानुशासनम्, पृ० ३१) ।

[४] तच्छक्त्युपजनितार्थावगमपवित्रितप्रतिपतृप्रतिभासहायार्थद्योतनशक्तिर्व्यञ्जकत्वम्। (काव्यानुशासनम्, पृ० ४१) ।

[५] विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यते पर
सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च। (सा० द०, पृ० ३६) ।

[६] व्यञ्जनध्वननगमनप्रत्यायनादिव्यपदेशविषया व्यञ्जना नाम। (सा० द०, पृ० ४०) ।

ग्रन्थ मे प्राप्त हो जाता है। इनसे पूर्व आचार्यों ने काव्य मे अभिधा के अतिरिक्त 'अमुख्यवृत्ति' का भी प्रयोग किया है। आनन्दवर्धन के विचार मे इन आचार्यों के द्वारा इस अमुख्यवृत्ति का प्रयोग यही दर्शाता है कि इन्होने इसके माध्यम से ध्वनि-मार्ग का स्पर्श तो किया, किन्तु उसका लक्षण नही दिया।[1] 'ध्वन्यालोक' की प्रथम कारिका मे ही आनन्दवर्धन ने ध्वनि-विरोधी तीन सम्भावित पक्षो को रखा है- अभाववाद, भाक्तवाद तथा अनिर्वचनीयतावाद।[2] इनमे 'भाक्तवाद' की व्याख्या करते हुए इन्होने कहा है कि कुछ लोग ध्वनि को 'भक्ति' अथवा 'गुणवृत्ति' कहते है।[3] यद्यपि पूर्ववर्ती किसी भी आलङ्कारिक ने शब्दश यह नही कहा कि ध्वनि गुणवृत्ति या लक्षणा ही है, किन्तु इनका अभिधा के अतिरिक्त किसी अन्य व्यापार का मानना यही सङ्केत करता है कि इनके 'अमुख्यव्यापार' मे ही अभिधा से भिन्न सभी व्यापारो का अन्तर्भाव हो जाता है। अभिनवगुप्त ने लोचन टीका मे स्पष्ट किया है कि भामह के 'शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्था' सूत्र की व्याख्या मे उद्भट ने लिखा था- 'शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च'[4] इसका तात्पर्य हे कि शब्दो के अभिधान का अर्थ है अभिधाव्यापार। वह मुख्य एव गुणवृत्ति रूप से दो प्रकार का होता है। वामन ने भी सादृश्य से होने वाली लक्षणा को वक्रोक्ति कहा हे।[5] इस प्रकार इन आचार्यों ने वाच्यार्थ के अतिरिक्त अन्य अर्थ भी माना जिसे अमुख्यार्थ, गौणार्थ या लक्ष्यार्थ कहा। इसी से सिद्ध होता है कि इन्हे व्यङ्ग्य अर्थ का भी ज्ञान तो था किन्तु इसकी प्रतीति के लिए इन्होने अभिधा से भिन्न कोई शब्दशक्ति नही मानी।

यह सत्य है कि भामह इत्यादि आचार्यों ने व्यञ्जना का कही उल्लेख नही किया हे, किन्तु इन पूर्ववर्ती आलङ्कारिको के ग्रन्थो मे कतिपय ऐसे अलङ्कारो का वर्णन है जिससे यह स्पष्ट अनुमान लगाया जा सकता है कि इन आचार्यों का परिचय प्रतीयमानार्थ से अवश्य था। इस प्रसङ्ग मे पण्डितराजजगन्नाथ का यह मत उल्लेखनीय है कि प्राचीन आलङ्कारिको के 'ध्वनि' आदि शब्दो का प्रयोग न करने मात्र से यह अर्थ नही लगाया जा सकता कि ये व्यङ्ग्यार्थ से परिचित नही थे। उन आचार्यो ने भी 'समासोक्ति' 'व्याजस्तुति' 'अप्रस्तुत प्रशसा' आदि अलङ्कारो के

---

[1] यद्यपि च ध्वनिशब्दसङ्कीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिभिर्गुणवृत्तिरन्यो वा न कश्चित्प्रकार प्रकाशित तथापि अमुख्यवृत्त्या काव्येषु व्यवहार दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक् स्पृष्टोऽपि न लक्षित। (ध्व०, प्र० उ०, पृ० ५१)।

[2] ध्व०, प्र० उ०, पृ०११।

[3] भाक्तमाहुस्तमन्ये। अन्ये त ध्वनिसंज्ञित काव्यात्मान गुणवृत्तिरित्याहु। (ध्व०, प्र० उ०, पृ० ४५)।

[4] ध्व० लो०, पृ० ५२ ।

[5] सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति। (काव्या० सू०, पृ० १७२)।

वर्णन के माध्यम से गुणीभूतव्यङ्ग्य के भेदो का निरूपण किया है। अन्य सभी व्यङ्ग्य-प्रपञ्च को पर्यायोक्त अलकार मे अन्तर्भूत कर लिया।[1]

आचार्य भामह ने 'काव्यालङ्कार' मे 'समासोक्ति' 'पयार्योक्त', 'अप्रस्तुतप्रशसा' इत्यादि अलङ्कारो के वर्णन मे वाच्यार्थ से भिन्न व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता मे स्पष्ट सङ्केत किया था। समान विशेषणो के द्वारा जहाँ अन्य अर्थ गम्य हो वहाँ समासोक्ति अलङ्कार होता है।[2] इसी प्रकार इन्होने अप्रस्तुतप्रशसा के लक्षण मे भी अप्रस्तुत अर्थ के द्वारा प्रस्तुत अर्थ को गम्य मानते हुए व्यञ्जनावृत्ति को मौन स्वीकृति है।[3] इनके पर्यायोक्त[4] एव दृष्टात[5] नामक अलङ्कारो मे भी व्यङ्ग्यार्थ का निर्देश देखा जा सकता है।

दण्डी ने तो उत्प्रेक्षा अलङ्कार के प्रसङ्ग मे मन्ये, शङ्के इत्यादि उत्प्रेक्षा के व्यञ्जक शब्दो की चर्चा करते हुए 'व्यज्यते' शब्द का प्रयोग किया है।[6] इसके एक टीककार ने 'व्यज्यते' पद का अर्थ 'द्योतते' किया है।[7] पर्यायोक्त अलङ्कार की परिभाषा देते हुए इन्होने 'प्रकारान्तराख्यानम्' पद का प्रयोग किया है।[8] यह प्रकारान्तरया आख्यान

---

[1] ध्वनिकाराद्याचीनैर्भामहोद्भटप्रभृतिभि स्वग्रन्थेषु कुत्रापि ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यादिशब्दा न प्रयुक्ता इत्येतावतैव तैर्ध्वन्यादयो न स्वीक्रियन्त इत्याधुनिकाना वाचोयुक्तिरयुक्तैव। यत समासोक्तिव्याजस्तुत्यप्रस्तुतप्रशसाद्यलकारनिरूपणेन कियन्तोऽपि गुणीभूतव्यङ्ग्यभेदास्तैरपि निरूपिता। अपरश्च सर्वोऽपि व्यङ्ग्यप्रपञ्च पर्यायकुक्षौ निक्षिप्त। (र० गङ्गा०, द्वि० आ० (II), पृ० ३६०)।

[2] यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानविशेषण।
सा समासोक्तिरुद्दिष्टा संक्षिप्तार्थतया यथा। (भा० काव्या०, २/७६, पृ० ६०)।

[3] अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुति।
अप्रस्तुतप्रशसेति सा चैव कथ्यते यथा। (भा० काव्या०, ३/२६, पृ० ७८)।

[4] पर्यायोक्त यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
उवाच रत्नाहरणे चैद्य शार्ङ्गधनुर्यथा॥ (भा० काव्या०, ३/८, पृ० ७०)।

[5] यत्र दृष्टान्तमात्रेण व्यज्येते साध्यसाधने।
तमाहु शुद्धदृष्टान्त तन्मात्राविष्कृतेर्यथा॥ (भा० काव्या०, ५/५८, पृ० १३८)।

[6] मन्ये शङ्के ध्रुव प्रायो नूनमित्येवमादिभि
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृश। (काव्यादर्श, २/२३४, पृ० १६४)।

[7] तै शब्दैरुत्प्रेक्षा उक्तलक्षणा शब्दान्तरोक्ताप्यव्यक्ता सती व्यज्यते द्योत्यते। (काव्यलक्षण-'रत्नश्रिया' टीका, पृ० १४५)।

[8] इष्टमर्थमनाख्याय साक्षात्तस्यैव सिद्धये
यत्प्रकारान्तराख्यान पर्यायोक्त तदिष्यते। (काव्यादर्श, २/२९५, पृ० १८६)।

वाचक व्यापार से भिन्न किसी दूसरे व्यापार से कथन है और यह अन्य व्यापार व्यञ्जना ही है। उदात्त अलङ्कार के प्रसङ्ग मे तो 'व्यञ्जित' शब्द का प्रयोग मिलता है।[१]

उद्भट के 'काव्यालङ्कारसारसग्रह' मे भी कई ऐसे स्थल है जिनसे सिद्ध होता है कि इन्हे भी 'व्यङ्ग्यार्थ' का ज्ञान अवश्य था। पर्यायोक्त अलङ्कार के लक्षण मे इन्होने 'अन्येन प्रकारेण अभिधीयते' कहकर अभिधा के अतिरिक्त एक 'अवगमात्मक' व्यापार को भी माना है।[२] इस अवगमकता का अभिप्राय अन्यार्थ की व्यञ्जकता ही प्रतीत होती है। अप्रस्तुतप्रशसा[३] तथा व्याजस्तुति[४] नामक अलङ्कारो के वर्णन मे भी गम्यमान अर्थ की सत्ता मे ही सङ्केत मिलता है। अप्रस्तुतप्रशसा मे अन्य की स्तुति रहती है तथा व्याजस्तुति मे शब्द-शक्ति के स्वभाव से तो निन्दा प्रतीत होती है किन्तु वस्तुत स्तुति ही गम्य होती हे।

रीति को काव्य की आत्मा मानने वाले आचार्य, वामन का उल्लेख भी लोचन टीका मे मिलता है। आनन्दवर्धन का मानना है कि वामन को भी अस्फुट रूप मे ध्वनि नामक काव्यतत्व का ज्ञान था।[५] वामन ने विशिष्ट पद रचना को रीति कहा है।[६] रचना मे यह विशिष्टता गुणो के कारण ही आती है।[७] गुण ही काव्यशोभा के उत्पादक धर्म है अलङ्कार तो उस शोभा का वर्धन करते है।[८] लोचनकार के अनुसार गुणो का पर्यवसान रस मे ही होता है[९] और रस सदा व्यङ्ग्य ही होता है इससे यह सिद्ध है कि वामन भी वाच्यार्थ से भिन्न काव्य के रमणीयार्थ से अवश्य

---

[१] पूर्वत्राशयमहात्म्यमत्राभ्युदयगौरवम्।
सुव्यञ्जितमिति प्रोक्तमुदात्तद्वयमप्यद ॥ (काव्यादर्श., २/३०३, पृ० १६२) ।

[२] पर्यायोक्त यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्या शून्येनावगमात्मना॥ (काव्या० सा० स०, पृ० ३५) ।

[३] अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुति ।
अप्रस्तुतप्रशसेय प्रस्तुतार्थनिबन्धिनी॥ (काव्या० सा० स०, पृ० ४३) ।

[४] शब्दशक्तिस्वभावेन यत्र निन्दैव गम्यते
वस्तुतस्तु स्तुतिश्चेष्टा व्याजस्तुतिरसौ मता॥ (काव्या० सा० स०, पृ० ४४) ।

[५] एतद्ध्वनिप्रवर्तनेन निर्णीत काव्यतत्त्वमस्फुटस्फुरित सदशक्नुवद्भि प्रतिपादयितु वैदर्भी गौडी पाञ्चाली च रीतय प्रवर्तिता । रीतिलक्षणविधायिना हि काव्यतत्त्वमेतदस्फुटतया मनाक्स्फुरितमासीदिति लक्ष्यते। तदत्र स्फुटतया सम्प्रदर्शितेनान्येन रीतिलक्षणेन न किञ्चित्। (ध्व०, तृ० उ०, पृ० ५१४) ।

[६] विशिष्टा पदरचना रीति । (काव्या० सू०, पृ० १५) ।

[७] विशेषो गुणात्मा। (काव्या० सू०, पृ० १६) ।

[८] काव्यशोभाया कर्तारो धर्मा गुणा । तदतिशयहेतवस्त्वलङ्कारा । (काव्या० सू०, पृ० ८७-८८) ।

[९] रीतिर्हि गुणेष्वेव पर्यवसिता । यदाह-विशेषो गुणात्मा गुणाश्च रसपर्यवसायिन— - -। (ध्व० लो०, तृ० उ०, पृ० ५१४) ।

परिचित थे। आचार्य वामन ने सादृश्य से होने वाली लक्षणा को 'वक्रोक्ति' कहा है।[1] अलङ्कारसर्वस्वकार' का मन्तव्य हे कि वामन ने वक्रोक्ति अलङ्कार के माध्यम से ध्वनि के अविवक्षितवाच्य रूप भेद को ही कहा है।[2] वामन से पूर्व भामह ने भी वक्रोक्ति की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए कहा है कि कोई भी अलङ्कार वक्रोक्ति के विना नही रह सकता।[3] सभी अलङ्कारो के प्रयोग मे एक प्रकार के उक्तिवेचित्र्य की अपेक्षा रहती हे। यह तो अनुभवसिद्ध है कि किसी बात के वक्र-कथन से उसमे विलक्षणता आ जाती है। वक्र रूप से कथन कभी भी अभिधा से सम्भव नही है। इस उक्तिवैचित्र्य के माध्यम से भी इन आचार्यों ने व्यङ्ग्यार्थ को ही स्वीकारा है।

आचार्य रुद्रट ने 'भाव' नामक अलङ्कार का लक्षण देते हुए व्यङ्ग्य अर्थ की सत्ता का स्पष्ट सङ्केत किया हे। दो प्रकार के भाव अलकार इन्होने माने है। इनमे प्रथम मे अभिप्राय गम्य रहता हे तथा दूसरे मे अर्थान्तर।[4] इस प्रकार इन्होने प्रकारान्तर से व्यञ्जना का ही उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त रुद्रट ने प्रथम भावालङ्कार का जो उदाहरण दिया हे उसे मम्मट ने गुणीभूतव्यङ्ग्य के उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किया है।

इस प्रकार आनन्दवर्धन के पूर्ववर्ती आचार्यों के ग्रन्थो से जो उपर्युक्त उदाहरण दिये गये हे उनके अतिरिक्त भी अन्यान्य ऐसे स्थल उपलब्ध हो सकते है जिनमे व्यङ्ग्यार्थ के बीज निहित है। आनन्दवर्धन का यह कथन उचित ही है कि ध्वनि-मार्ग का स्पर्श करके भी इन आचार्यों ने इसका लक्षण नही दिया।

५. १ मुकुलभट्ट एव व्यञ्जना-शक्ति

व्यञ्जना-विरोधी आचार्यों मे मुकुलभट्ट अग्रगण्य माने जाते है । इनकी गणना उन आचार्यों मे की जाती है जिन्होने व्यङ्ग्यार्थ का अन्तर्भाव लक्ष्यार्थ मे ही माना है। अर्थात् जिस अर्थ को व्यञ्जनावादी आचार्य व्यञ्जना नामक शक्तिविशेष से बोधगम्य मानते है उसकी प्रतीति ये लक्षणा से ही मान लेते है। मुकुलभट्ट के अनुसार तो लक्षणा भी शब्द की पृथक् शक्ति नही है। 'इत्येतदभिधावृत्त दशधात्र विवेचितम्' कह कर अभिधा के जो दस भेद इन्होने माने है

---

[1] काव्या० सू०, ४/३/८, पृ० १७२

[2] वामनेन तु सादृश्यनिबन्धनाया लक्षणाया वक्रोक्त्यलङ्कारत्व ब्रुवता कश्चिद्ध्वनिभेदोऽलङ्कारतयैवोक्त । (अ० सर्व०, पृ० ८) ।

[3] सैषा सर्वैव वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते।
यत्नोऽस्या कविना कार्य कोऽलङ्कारोऽनया विना। (भा० काव्या०, २/८५, पृ० ६२) ।

[4] यस्य विकार प्रभवन्नप्रतिबद्धेन हेतुना येन।
गमयति तदभिप्राय तत्प्रतिबन्ध च भावोऽसौ॥ (रु० काव्या०, ७/३८, पृ० २०६) ।

उनमे ही अन्तिम छ को लाक्षणिक अर्थ की अभिधा कहते है। इस लाक्षणिक अर्थ को 'अमुख्य' भी कहा जा सकता है क्योकि उसकी प्रतीति मुख्य अर्थ की पर्यालोचना से ही होती है। इसी 'अमुख्य' अर्थ मे इन्होने व्यङ्ग्यार्थ को भी समाविष्ट कर लिया है।

मुकुलभट्ट के समय तक ध्वनि-सिद्धान्त की स्थापना तथा व्यङ्ग्यार्थ की महत्ता स्थापित हो चुकी थी। जिस प्रकार आनन्दवधन के पूर्ववर्ती आचार्यो ने व्यञ्जनाशक्ति को न मानते हुए भी व्यङ्ग्यार्थ को किसी न किसी रूप मे स्वीकार किया है उसी प्रकार मुकुलभट्ट के विषय मे भी यह कहा जा सकता है कि इन्हे ध्वनि-सिद्धान्त एव प्रतीयमानार्थ का ज्ञान अवश्य था। इनके ग्रन्थ मे तो इस बात के स्पष्ट प्रमाण भी उपलब्ध होते हे कि ये आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त से पूर्णरूपेण परिचित थे।

मुकुलभट्ट ने अपने ग्रन्थ मे किसी 'सहृदय' नामक विद्वान् के जिन सिद्धान्तो का उल्लेख किया हे वे 'ध्वन्यालोक' से ही समानता रखते हे। इस ग्रन्थ के अन्तिम भाग मे तो इन्होने स्पष्ट लिखा है कि 'सहृदय' नामक विद्वान् के द्वारा नवीन स्थापना के रूप मे वर्णित ध्वनि का लक्षणा मे ही समावेश हो जाता हे।[1]

लक्षणा पर विचार के प्रसङ्ग मे मुकुलभट्ट ने लक्ष्यार्थ को वक्ता, वाक्य तथा वाच्य अर्थ से सापेक्ष बताया है। वक्ता आदि कारण-सामग्रियो के होने पर ही लक्ष्यार्थ का ज्ञान होता हे।[2] इसके लिए इन्होने जो उदाहरण दिये हे उससे भी इनके व्यञ्जनाविरोधी होने का ही सङ्केत मिलता हे । इन उदाहरणो को मम्मट जेसे ध्वनिवादी आचार्य ने व्यञ्जना का उदाहरण माना है। इनके तीनो उदाहरणो मे मम्मट ने क्रमश वस्तु, अलङ्कार एव रस की व्यञ्जना मानी है।[3]

आनन्दवर्धन तथा मम्मट ने ध्वनि के अनेक भेद माने है। ध्वनि की यह अनेक प्रकारता वस्तु, अलङ्कार एव रसादि के भेद से होती है। व्यङ्ग्यार्थ को वाच्यार्थ से भिन्न बताते हुए आनन्दवर्धन ने लिखा है कि प्रतीयमानार्थ वस्तु, अलङ्कार एव रसादि से होने वाले अपने सभी भेदो मे वाच्यार्थ से सर्वथा भिन्न ही होता है।[4] मम्मट ने भी 'काव्यप्रकाश' मे ध्वनि एव गुणीभूतव्यङ्ग्य के सक्षेप मे तीन भेद किये हे। इस भेद का आधार व्यङ्ग्य का तीन रूपो वाला होना है। इन भेदो मे कोई वाच्यता को सहन करने वाला होता है तो कोई वाच्यता सहन न करने वाला होता है। प्रथम कोटि मे

---

[1] लक्षणामार्गावगाहित्व तु ध्वने सहृदयैर्नूतनतयोपवर्णितस्य विद्यत इति दिशमुन्मीलयितुमिदमत्रोक्तम्। (अ० वृ० मा०, पृ० ६६)।

[2] अ० वृ० मा०, पृ० २४ ।

[3] श० व्या० वि०, पृ० १८ ।

[4] स ह्यर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्त वस्तुमात्रमलङ्काररसादयश्चेत्यनेकप्रभेदप्रभिन्नो दर्शयिष्यते। सर्वेषु च तेषु प्रकारेषु वाच्यादन्यत्वम् । (ध्व०, प्र० उ०, ७३)।

वस्तुध्वनि एव अलङ्कारध्वनि की गणना होती है जिन्हे क्रमश अविचित्र एव विचित्र भी कहते है[1] तृतीय प्रकार रसादि ध्वनि का है जो कभी भी वाच्यता को सहन नही कर सकता।[2] यहाॅ वाच्यता को सहन करने का अभिप्राय यह है कि वस्तु तथा अलङ्कार रूप ध्वनि मे जिस अर्थ की व्यङ्ग्य रूप से प्रतीति होती है वह अन्य दशा मे वाच्य भी हो सकता है किन्तु रसादि ध्वनि मे अर्थ कभी भी वाच्य नही होता। इसके लिए आनन्दवर्धन तथा मम्मट ने यह तर्क दिया है कि - रस रूप अर्थ की अभिव्यञ्जना विभाव, अनुभावादि के द्वारा ही होती है। रस, भाव अथवा शृङ्गार आदि शब्द से अभिधा के द्वारा इसकी प्रतीति नही होती क्योकि यह देखा जाता है कि जब कभी रस, शृङ्गार, भावादि शब्दो का प्रयोग होता है और विभावादि का प्रयोग नही होता तो रस की प्रतीति नही होती, किन्तु इसके विपरीत शृङ्गारादि शब्दो का प्रयोग न होने पर भी विभाव, अनुभावादि का कथन होने से रस-प्रतीति हो जाती है। इस अन्वयव्यतिरेक से यही सिद्ध होता है कि रस सदा व्यङ्ग्य होता हे तथा विभावानुभावादि ही रस के व्यञ्जक होते है।[3]

रसादि की प्रतीति लक्षणाशक्ति से भी नही हो सकती क्योकि यहाॅ लक्षणा के तीनो हेतु मुख्यार्थबाध, मुख्यार्थयोग तथा रूढि अथवा प्रयोजन मे से कोई भी नही है।[4] विभावादि मे किसी प्रकार की मुख्यार्थबाधा नही होती, विभावादि का रस के साथ ज्ञाप्य-ज्ञापक भाव सम्बन्ध भी नही हो सकता। यहाँ कोई प्रयोजन भी नही है क्योकि रसास्वादन तो स्वय काव्य का अन्तिम प्रयोजन है। इसे आचार्य मम्मट ने 'सकलप्रयोजनमौलिभूतम्' कहा है।

मुकुलभट्ट ने वक्ता आदि की सापेक्षता से होने वाली तीनो लक्षणाओ के जो उदाहरण दिये है उनमे 'दृष्टि हे प्रतिवेशिनि - - -' उदाहरण मे उनके अनुसार भावी रति का अपह्नव लक्ष्यार्थ है। मम्मट के अनुसार यहाॅ वस्तु से वस्तु

---

[1] सङ्कलनेन पुनरस्य ध्वनेस्त्रयो भेदा व्यङ्ग्यस्य त्रिरूपत्वात्। तथा हि किञ्चिद्वाच्यता सहते किञ्चित्वन्यथा। तत्र वाच्यतासहमविचित्र विचित्र चेति। अविचित्र वस्तुमात्र विचित्र त्वलङ्काररूपम्। (का० प्र०, पृ० २३७-२३८)।

[2] रसादिलक्षणस्त्वर्थ स्वप्नेऽपि न वाच्य। (का० प्र०, पृ० २३८)।

[3] (क) - - -तत्प्रयोगे विभावाद्यप्रयोगे तस्याऽप्रतिपत्तेस्तदप्रयोगेऽपि विभावादिप्रयोगे तस्य प्रतिपत्तेश्चेत्यन्वयव्यतिरेकाभ्या विभावाद्यभिधानद्वारेणैव प्रतीयते इति निश्चीयते तेनाऽसौ व्यङ्ग्य एव। (का० प्र०, पृ० २३८)।

(ख) - - -यतश्च स्वाभिधानमन्तरेण केवलेभ्योऽपि विभावादिभ्योविशिष्टेभ्यो रसादीना प्रतीति। केवलाच्च स्वाभिधानादप्रतीति। तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यामभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तमेव रसादीना। नत्वभिधेय कथञ्चित्। (ध्व०, प्र० उ०, पृ० १३१)।

[4] मुख्यार्थबाधाभावान्न पुनर्लक्षणीय। (का० प्र०, पृ० २३८)।

की व्यञ्जना है। इन्होने 'काव्यप्रकाश' मे वस्तु से वस्तु की व्यञ्जना होने पर 'वस्तुमात्रध्वनि' नामक भेद माना है जो कि शब्दशक्तिमूलक ध्वनि का एक भेद है।[1]

'प्राप्तश्रीरेष कस्मात् - - - ' इत्यादि मे मुकुलभट्ट ने राजा मे भगवान् वासुदेव के स्वरूप का अध्यवसान मानते हुए अतिशयोक्ति अलङ्कार को लक्ष्य कहा है।[2] मम्मट ने यहाँ अतिशयोक्ति के स्थान पर रूपक माना है तथा उसके 'लक्ष्य' होने का निषेध किया है।[3] 'ध्वन्यालोक' मे भी यह उदाहरण अलङ्कार से अलङ्कार व्यङ्ग्य रूपक ध्वनि के लिए प्रस्तुत किया गया है।[4]

'दुर्वारामदनेषवो दिशि दिशि- - - -' रूप तृतीय उदाहरण मे मुकुलभट्ट ने वाच्य के सामर्थ्य से आक्षिप्त विप्रलम्भ शृङ्गार माना है। इस प्रकार इन्होने रस को भी लक्ष्य कह दिया है। यहाँ काम के बाणादि पाँचो पदार्थों पर अग्नित्व के आरोप से प्रधानरूप से उनका असह्य होना ही प्रकट होता है, यही वाच्य है, इसी से विप्रलम्भ शृङ्गार का आक्षेप होता है।

इस प्रकार इन तीनो उदाहरणो के माध्यम से मुकुलभट्ट ने वस्तु, अलङ्कार तथा रस रूप ध्वनि का अन्तर्भाव लक्षणा मे ही दर्शाया है। उपर्युक्त तीनो उदाहरणो मे इनके अनुसार लक्ष्यार्थ की प्रतीति उपादान लक्षणा से ही होती है।[5] आक्षेप को ही मुकुल ने उपादान लक्षणा कहा है, इससे प्रतीत होता है कि व्यङ्ग्यार्थ को ये आक्षेपलभ्य ही मानते हे।

मम्मट ने तीनो उदाहरणो मे मुख्यार्थबाध का अभाव दिखाते हुए लक्षणा का निषेध किया है।[6] मम्मट एव मुकुलभट्ट की लक्षणा मे मौलिक अन्तर है। यद्यपि मुकुलभट्ट ने भी लक्षणा के मुख्यार्थबाधादि हेतुत्रय को स्वीकारा है किन्तु इसे उस परम्परागत रूप मे नही माना है जैसा कि मम्मट ने। मुख्यार्थबाधादि हेतु मम्मट की लक्षणा के आधार

---

[1] काव्यप्रकाश मे मम्मट ने वस्तुमात्र ध्वनि का उदाहरण दिया है-
'पथिक, नात्र स्रस्तरमस्ति मनाक् प्रस्तरस्थले ग्रामे,
उन्नतपयोधर प्रेक्ष्य यदि वससि तदा वस।'
यहाँ वक्तृवैशिष्ट्य से वस्तु रूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हे। (का० प्र०, पृ० १७३)।

[2] - - - नृपतेर्भगवद्वासुदेवताऽऽक्षिप्ता- - । (अ० वृ० मा०, पृ० ३४)।

[3] श० व्या० वि०, पृ० १८ ।

[4] ध्व०, द्वि उ०, पृ० २३०

[5] (क) तेनात्र वक्तृविशेषपर्यालोचनया सत्यार्थे निष्ठाया उपादानात्मिकाया लक्षणाया प्रतिपत्ति। (अ० वृ० मा०, पृ० ३२)।
(ख) तेनात्रोपादानात्मिका लक्षणा (अ० वृ० मा०, पृ० ३४)।
(ग) विप्रलम्भशृङ्गाराक्षेपादुपादानात्मिका लक्षणा वाच्यनिबन्धना (अ० वृ० मा०, पृ० ३८)।

[6] — - - -लक्ष्यत इति नोदाहार्यम्। मुख्यार्थस्य बाधाभावात्। (श० व्या० वि०, पृ० १८)।

है किन्तु मुकुलभट्ट की लक्षणा का आधार है किसी न किसी अर्थ की सापेक्षता। इनका लक्षणीय अर्थ अर्थावसेय है अर्थात् उसकी प्रतीति मुख्यार्थ की पर्यालोचना के बाद ही होती है। इस प्रकार मुख्यार्थ के अनन्तर प्रतीत होने वाले सभी अर्थ लक्ष्य अर्थ ही कहलाते है। कही-कही इस लक्ष्य अर्थ की वाच्यार्थ से प्रधानता भी रहती है। जैसे रस-रूप लक्ष्यार्थ आक्षेपलभ्य होते हुए भी वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रधान होता हे क्योकि उसमे सहृदयहृदयाह्लादकता होती हे।[1] स्पष्ट है कि मुकुलभट्ट अर्थों का प्रधानाप्रधान भाव भी मानते है जैसा कि व्यञ्जनावादियो ने माना है। अन्तर यही है कि इन्होने हृदयाह्लादक अर्थों को भी आक्षेप अर्थात् लक्षणा से ही प्रतीत मान लिया है। इसकी प्रतीति के लिए व्यञ्जना नामक शक्तिविशेष को नही माना। व्यञ्जना तथा व्यङ्ग्यार्थ को न मानने के कारण ही इन्होने लक्षणा के प्रसङ्ग मे ही वाच्यार्थ की विवक्षा, अविवक्षा तथा उसके अत्यन्त तिरस्कार रूप तीन स्थितियो का वर्णन किया है, जिसकी विवेचना 'ध्वन्यालोक' एव 'काव्यप्रकाश' मे ध्वनि-काव्य के भेदो के प्रसङ्ग मे की गई है। आनन्दवर्धन ने अभिधामूलक ध्वनि मे वाच्य की विवक्षा मानी है लक्षणामूलक ध्वनि मे तो उसका सर्वथा परित्याग ही रहता किन्तु मुकुलभट्ट के अनुसार लक्षणा के क्षेत्र मे भी कही-कही वाच्य की विवक्षा रहती है।

लक्षणलक्षणा मे मुकुलभट्ट के अनुसार वाच्य की अविवक्षा रहती हे। 'स्निग्धश्यामल- - -' इत्यादि पद्य मे 'राम' शब्द का वाच्यार्थ 'दशरथ-पुत्र' अविवक्षित है। यह वाच्यार्थ उससे व्यङ्ग्य अन्य धर्म के रूप मे परिणत हो जाता है यही उसकी अविवक्षा है किन्तु यहाँ उसका अत्यन्त तिरस्कार नही होता क्योकि 'अत्यन्तकष्टसहिष्णुत्व' रूप जो व्यङ्ग्यधर्मान्तर है उससे वाच्यार्थ का सम्बन्ध तो रहता ही है।[2] इस उदाहरण मे आनन्दवर्धन ने अर्थान्तरसक्रमित वाच्यध्वनि माना है।[3] स्पष्ट है आनन्दवर्धन की यह अर्थान्तरसक्रमितवाच्यता ही मुकुलभट्ट के वाच्यार्थ की अविवक्षा है।

यहाँ मुकुलभट्ट ने स्पष्ट रूप से 'व्यङ्ग्य' शब्द का प्रयोग किया है। व्यञ्जनाशक्ति से गम्य अर्थ ही व्यङ्ग्य या व्यङ्ग्यार्थ है। ध्वनि का स्पष्ट शब्दो से लक्षणा मे अन्तर्भाव दर्शाते हुए भी इन्होने 'व्यङ्ग्य' शब्द का प्रयोग किया है। वस्तुत इस प्रसङ्ग पर चर्चा आनन्दवर्धन के सिद्धान्त को आधार बनाकर ही की गई है। सम्भवत इसी कारण

---

[1] विप्रलम्भशृङ्गारस्य चाक्षिप्यमाणस्यापि वाच्यापेक्षया प्राधान्यम्, सहृदयहृदयाह्लादहेतुतया प्राधान्येनाक्षेपात्। (अ० वृ० मा०, पृ० ३८)।

[2] अत्र हि रामशब्दवाच्य दाशरथिरूप व्यङ्ग्यधर्मान्तरपरिणतत्वात् स्वपरत्वेनानुपात्त तस्मादविवक्षित नत्वत्यन्त तिरस्कृत व्यङ्ग्यधर्मद्वारेण वाक्यार्थे कथञ्चिदन्वितत्वात्। (अ० वृ० मा०, पृ० ६३)।

[3] तत्रार्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यो यथा-
'स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना - - - -। (ध्व०, द्वि० उ०, पृ० ५)।

मुकुलभट्ट उन्ही की भाषा का प्रयोग कर गये है। आनन्दवर्धन ने भी 'व्यङ्ग्यधर्मान्तर' पद का प्रयोग किया है।[1] इस प्रकार 'व्यञ्जना' को न मानते हुए भी मुकुलभट्ट अपने विचारो को व्यङ्ग्यार्थ से मुक्त नही कर पाए है। जिसे व्यञ्जनावादियो ने व्यङ्ग्यार्थ कहा है उससे ये भली-भाँति परिचित थे किन्तु इसकी प्रतीति हेतु 'व्यञ्जना' नाम की पृथक् शब्दशक्ति को नही मानना चाहते थे।

मुकुलभट्ट की लक्षणा भी अभिधा का ही एक अङ्ग है इस प्रकार वह भी अभिधा से पृथक् शब्द की शक्ति नही है किन्तु क्रियायोगनिबन्धना लक्षणा मे वाच्यार्थ की स्थिति बताते हुए इन्होने लक्षणा के लिए 'शब्दशक्त्यन्तर' पद का प्रयोग किया है।[2]

इस प्रसङ्ग मे यह उल्लेखनीय है कि मुकुलभट्ट ने लक्षणा को अर्थव्यापार माना है। यद्यपि लक्ष्यार्थबोध मे शब्द का भी ज्ञान रहता है तथापि वह लक्ष्यार्थ वाच्यार्थ से ही प्रतीत होता है। क्रियायोगनिबन्धना लक्षणा मे शब्दगत अवयवो की शक्ति का भी ग्रहण होता हे अत वहाँ लक्ष्यमाण अर्थ की शब्दशक्तिमूलता रहती है।[3]

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हे कि मुकुलभट्ट ने ध्वनिसिद्धान्त, व्यञ्जनाशक्ति, व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता से परिचित होते हुए भी अभिधा मे ही समस्त ध्वनिप्रपच का समावेश कर लिया है। व्यङ्ग्यार्थ को भी लक्ष्यार्थ ही कहा हे तथा इसके बोधन के लिए व्यञ्जना की आवश्यकता नही मानी, इसका बोध भी अभिधा के लक्षणा वाले भेद से ही हो जाता है।

अन्तत इन्होने पारमार्थिक स्तर पर एकमात्र शब्द की ही सत्ता मानते हुए अभिधा के दस भेदो को भी असम्भव बताया है। किसी भी प्रकार के विषय-विभाग की स्थिति के पूर्व शब्दतत्त्व जब रज्जुसर्प की भाँति शब्द, अर्थ, और उसके सम्बन्ध रूप तीन विवर्तो को प्राप्त होता है तभी अभिधा के दस भेद दृष्टिगोचर होते है। इसके विपरीत जब अविभक्त रूप मे वह समस्त क्रम-भेदो को अपने मे समाहित कर लेता है तब उस स्थिति मे अभिधा के दस भेदो को भी अवकाश नही रहता।[4]

---

[1] अनेन हि व्यङ्ग्यधर्मान्तरपरिणत सञ्ज्ञी प्रत्याय्यते न सञ्ज्ञिमात्रम्। (ध्व०, द्वि० उ०, पृ० १०)।

[2] यत्र तु निमित्तसद्भावाद् वाच्येऽर्थे विवक्षित एव तस्यार्थान्तरस्य शब्दशक्त्यन्तरमूलतया- - - । (अ० वृ० मा०, पृ० ६५-६६)।

[3] क्रियायोगनिबन्धनाया तु लक्षणाया शब्दगतावयवशक्त्यनुसरणे शब्दशक्तिमूलता लक्ष्यमाणस्यार्थस्य। (अ० वृ० मा०, पृ० ६५)।

[4] (क) इदानी सकलशब्दाविभागात्मकस्य शब्दतत्त्वस्य यदा शब्दार्थसम्बन्धत्रितयरूपतया रज्जुसर्पतया विवर्त्तमानत्व तदैतदभिधावृत्त दशविधव्यवहारोपारोहितयोपपद्यते - - - । (अ० वृ० मा०, पृ० ६६)।

'विवर्तवाद' अद्वैत वेदान्त का पारिभाषिक शब्द है । विवर्त का अर्थ है अपने स्वरूप का परित्याग किये विना ही अपने से भिन्न रूप को प्रदर्शित करना । जैसे अधकार मे रज्जु को देखकर सर्प का भ्रम होने पर व्यक्ति तदनुसार ही व्यवहार करने लगता हे। वस्तुत रज्जु के विवर्त सर्प की रज्जु से पृथक् अपनी कोई सत्ता नही होती। आकाशादि समस्त जगत् ब्रह्म की माया शक्ति से भाषित होने वाले तथा ब्रह्म का विवर्त हे। ब्रह्म का विवर्त होने से जगत् की अपनी कोई पृथक् सत्ता नही होती।

मुकुलभट्ट के अनुसार शब्द तत्त्व प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय एव प्रमिति इन चार रूपो मे आकर वाच्य-वाचक तथा उसके सम्बन्ध के सम्पूर्ण प्रपञ्च को अपनाता हुआ रज्जु-सर्प के समान उसमे विवर्तित होता है। पारमार्थिक स्तर पर इस विवर्त की कोई सत्ता नही होती।

यहाँ मुकुलभट्ट आचार्य भर्तृहरि के 'शब्दब्रह्म' से प्रभावित हो गये है जिन्होने शब्द को ब्रह्म स्वरूप माना है तथा अर्थ को उसका विवर्त-

अनादिनिधन ब्रह्म शब्दतत्त्व यदक्षरम्।

विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यत ॥ (वा० प०, ब्र० का०, पृ० १) ।

मुकुभट्ट के शिष्य प्रतीहारेन्दुराज की प्रसिद्धि उद्भट के 'काव्यालङ्कारसारसग्रह' पर 'लघुवृत्ति' नामक टीका के रचयिता के रूप मे है। 'काव्यालङ्कारसारसग्रह' मे केवल अलङ्कारो का ही वर्णन है किन्तु 'लघुवृत्ति' के अन्त मे प्रतीहारेन्दुराज ने अपने ध्वनि-विरोधी विचार भी प्रस्तुत किये है। इनके अनुसार उद्भट भी ध्वनि-सिद्धान्त से परिचित थे किन्तु उस ध्वनि का अलङ्कारो मे ही अन्तर्भाव हो जाने के कारण उन्होने इसकी चर्चा नही की है।[१]

अलङ्कारो की व्याख्या करके अन्त मे प्रतीहारेन्दुराज की ध्वनि-विरोधी चर्चा अप्रासङ्गिक ही प्रतीत होती है। सम्भवत मुकुलभट्ट एव उनके शिष्य मे परस्पर ध्वनि-विरोधी चर्चा भी अवश्य हुई होगी। इसी के परिणामस्वरूप प्रतीहारेन्दुराज ने लघुवृत्ति मे प्रसङ्ग न होते हुए भी ध्वनि-चर्चा करके उसका विरोध किया है। जिस ध्वनि को मुकुलभट्ट लक्षणा मे अन्तर्भूत मानते है उसका अन्तर्भाव इन्होने अलङ्कारो मे, विशेषकर पर्यायोक्त अलङ्कार मे ही मान लिया है।

(ख) विवर्त्तमान वाक्यतत्त्व दशधैव विलोक्यते।
सहृतक्रमभेदे तु तस्मिस्तेषा कुतो गति ॥ (अ० वृ० मा०, पृ० ६६) ।

[१] ननु यत्र काव्ये सहृदयहृदयाह्लादिन प्रधानभूतस्य स्वशब्दव्यापारास्पृष्टत्वेन प्रतीयमानैकरूपस्यार्थस्य सद्भावस्तत्र तथाविधार्थाभिव्यक्तिहेतु काव्यजीवितभूत कैश्चित् सहृदयैर्ध्वनिर्नाम व्यञ्जकत्वभेदात्मा काव्यधर्मोऽभिहित स कस्मादिह नोपदिष्ट । उच्यते। एष्वलङ्कारेष्वन्तर्भावात्। तथाहि। (काव्या० ल० वृ०, पृ० ४१८) ।

प्रतीहारेन्दुराज ने ध्वनि का अन्तर्भाव पर्यायोक्त अलङ्कार मे किस प्रकार किया ह यह प्रस्तुत प्रसङ्ग मे उल्लेखनीय हे।

मुख्य रूप से ध्वनि के वस्तु, अलङ्कार एव रस रूप जो तीन भेद होते ह उसका अन्तभाव पर्यायोक्त अलङ्कार मे ही हो जाता है। प्रतीहारेन्दुराज ने वस्तुध्वनि का उदाहरण दिया हे-

चक्राभिधातप्रसभाज्ञयैव चकार यो राहुवधूजनस्य

आलिङ्गनोद्दामविलासबध्य रतोत्सव चुम्बनमात्रशेषम्।[१]

उद्भट ने पर्यायोक्त अलङ्कार का जो लक्षण दिया ह उसके अनुसार जहाँ वाच्य तथा वाचक व्यापार से रहित अवगमात्मक व्यापार के द्वारा किसी वस्तु का कथन अन्य रूप से किया जाता ह वहाँ पर्यायोक्त अलङ्कार होता है। इस प्रकार पर्यायोक्त मे व्यङ्ग्य की सत्ता रहती हे।[२]

प्रतीहारेन्दुराज के अनुसार उपर्युक्त उदाहरण मे वस्तु व्यङ्ग्य की प्रधानता हे ओर प्रधानता होते हुए भी यहाँ पर्यायोक्त अलङ्कार है। यद्यपि प्रधान होने के कारण वस्तु-व्यङ्ग्य यहाँ अलङ्कार्य होना चाहिए उसे अलङ्कार नही कहा जा सकता, किन्तु इस विषय मे प्रतीहारेन्दुराज का यह तर्क हे कि अप्रधान ही सदा प्रधान को अलङ्कृत करे यह आवश्यक नही है। कभी-कभी प्रधान भी अप्रधान के सौन्दर्य का कारण होने से अलङ्कार बन जाता हे।[३] अत पर्यायोक्त अलङ्कार मे वस्तु व्यङ्ग्य की प्रधानता होते हुए भी उसकी अलङ्कारता नष्ट नही होती।

आनन्दवर्धन ने उपर्युक्त उदाहरण मे पर्यायोक्त अलङ्कार की प्रधानता मानी है। कभी-कभी रस मे तात्पर्य होते हुए भी अलङ्कार की प्रधान रूप से सत्ता रहती हे। 'चक्राभिघात- - -' इत्यादि उदाहरण मे रस का ही तात्पर्य है किन्तु इसमे पर्यायोक्त ही अङ्गीरूप मे विवक्षित है।[४]

---

[१] प्रतीयमानेकरूपस्य वस्तुनस्त्रैविध्य तैरुक्त वस्तुमात्रालङ्काररसादिभेदेन । तत्र वस्तुमात्र तावत्प्रतीयते। यथा-
चक्राभिघात - - - । (काव्या० ल० वृ०, पृ० ४१८) ।

[२] पर्यायोक्त यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्या शून्येनावगमात्मना॥ (काव्या० सा० स०, पृ० ३५) ।

[३] तच्चेह प्रतीयमान प्रधानत्वादलङ्कार्यतया वक्तु युक्त, नत्वलङ्कृतिकारणतया । अत कथ तस्यालङ्कारव्यपदेश। उच्यते प्रधानमपि गुणाना सौन्दर्यहेतुत्वादलङ्कृतौ साधनत्व भजति। (काव्या० ल० वृ०, पृ० ४१९-४२०) ।

[४] कदाचिद्रसादितात्पर्येण विवक्षितोऽपि ह्यलङ्कार कश्चिदङ्गित्वेन विवक्षितो दृश्यते। यथा-
चक्राभिघात- - - - ।
अत्र ही पर्यायोक्तस्याङ्गित्वेन विवक्षा रसादितात्पर्ये सत्यपीति (ध्व०, द्वि० उ०, पृ० १३६) ।

वस्तुध्वनि की भाँति अलङ्कारध्वनि का भी अन्तर्भाव अलङ्कार मे ही हो जाता है-

लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन

स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि॥

क्षोभ यदेति न मनागपि तेन मन्ये

सुव्यक्तमेव जलराशिरय पयोधि ॥

इस उदाहरण मे रूपक अलङ्कार की प्रतीति व्यङ्ग्य अर्थात प्रतीयमान रूप से है। प्रतीयमान होने के कारण यहाँ रूपक ध्वनि होना चाहिए, किन्तु प्रतीहारेन्दुराज यहाँ रूपक अलङ्कार ही मानते है । इनके अनुसार यहाँ रूपक अलङ्कार प्रकारान्तर से उपस्थापित किया गया है अत यहाँ पर्यायोक्त अलङ्कार भी माना जा सकता है। इसी प्रकार अन्य अलङ्कारध्वनि का अन्तर्भाव भी अलङ्कार मे ही हो जाता है।[1]

'लावण्यकान्ति- - - ' इत्यादि पद्य को आनन्दवर्धन ने रूपकध्वनि के उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किया था। इसमे रूपक अलङ्कार के आश्रय से ही काव्य मे चारुत्व की व्यवस्था है अत यहाँ रूपक ध्वनि है।[2]

प्रतीहारेन्दुराज ने रसादि ध्वनि का अन्तर्भाव भी अलङ्कारो मे ही दर्शाया है। उद्भट ने रसवदादि को अलङ्कार ही माना है। भावध्वनि, रसाभास, भावाभास तथा भावप्रशम नामक ध्वनियो का अन्तर्भाव क्रमश रसवत् प्रेयस्वत्, ऊर्जस्वित् तथा समाहित नामक अलङ्कारो मे हो जाता है। रस के अप्रधान होने की दशा मे उसका अन्तर्भाव उदात्त अलङ्कार मे ही हो जाता है।[3]

इस प्रकार तीनो प्रकार की ध्वनियो का अन्तर्भाव प्रतीहारेन्दुराज ने अलङ्कारो मे ही दर्शाते हुए उनसे भिन्न ध्वनि के अस्तित्व को अस्वीकार किया है।

---

[1] न च यस्यालङ्कारस्य प्रतीयमानरूपता तस्येहालङ्कारत्व केनचिन्निवारितमिति प्रतीयमानरूपतया रूपकाख्योऽलङ्कारो भविष्यति। अथवा पर्यायोक्त्या रूपकस्यात्रावसितत्वात् पर्यायोक्तमलङ्कार। (काव्या० ल० वृ०, पृ० ४२२)।

[2] यथा वा मयैव -
लावण्यकान्तिपूरि - - -
इत्येवंविधे विषयेऽनुरणनरूपरूपकाश्रयेण काव्यचारुत्वव्यवस्थानाद्रूपकध्वनिरितिव्यपदेशो न्याय्य । (ध्व०, द्वि० उ०, पृ० २३५)।

[3] यत्रापि भावास्तथा रसभावाभासा रसभावतदाभासप्रशमाश्च प्रतीयमानास्तत्रापि यथाक्रम प्रेयस्वदूर्जस्वित्समाहितलक्षणालङ्कारयोगो वाच्य। एवमेतत्प्रधानभूतेषु रसादीषूक्तम्। गुणभूतेष्वपि च रसेषूदात्तालङ्कार प्रतिपादित। - - - - । (काव्या० ल० वृ०, पृ० ४२५)।

प्रतीहारेन्दुराज ने यद्यपि ध्वनि का विरोध किया है तथापि इन्होने अपने ढङ्ग से ध्वनि भेदो का निरूपण भी किया है

वाचक शक्ति का आश्रय लेने वाले अलङ्कार मे वाच्य विवक्षित होता है। वाच्यशक्ति के आश्रित वस्तु एव अलङ्कार मे वाच्य विवक्षित तथा अविवक्षित दोनो ही रहता है। जहाँ शब्दशक्तिमूलक रस विषय होता है वहाँ वाच्य विवक्षित रहता है। इस प्रकार वाच्य की विवक्षा अविवक्षा की दृष्टि से ध्वनि के छ भेद होते है।[1]

१- वाचकशक्त्याश्रित विवक्षितवाच्य अलङ्कार रूप

२- वाच्यशक्त्याश्रित विवक्षित वाच्य वस्तु रूप

३- वाच्यशक्त्याश्रित अविवक्षित वाच्य वस्तु रूप

४- वाच्यशक्त्याश्रित विवक्षित वाच्य अलङ्कार रूप

५- वाच्यशक्त्याश्रित अविवक्षित वाच्य अलङ्कार रूप

६- वाच्य शक्त्याश्रित विवक्षितवाच्य रसादि रूप[2] (चित्र सख्या ६)

इनमे चार प्रकार के विवक्षित वाच्य रूप भेदो के स्वत सम्भावी तथा कविप्रतिभानिर्मित रूप से आठ प्रकार हो जाते है। इनमे अविवक्षित वाच्य रूप मे दो भेदो को मिलाकर कुल दस भेद होते है। ये ही कभी पदप्रकाश्य होते है और कभी वाक्यप्रकाश्य। अत इस दृष्टि से ध्वनि के कुल २० भेद होते है।[3]

---

[1] एव च त्रिविधेऽपि प्रतीयमानेऽर्थे यच्छब्दाना व्यञ्जकत्वमनन्तरोपवर्णितेषूदाहरणेषु षट्प्रकारतयोपदर्शित तस्योक्तेष्वलङ्कारेष्वन्तर्भावात् व्याप्ति षट् प्रकारता - - - । (काव्या० ल० वृ०, पृ० ४२५) ।

[2] (क) द्विविध व्यञ्जकत्वम् - वाचकशक्त्याश्रय वाच्यशक्त्याश्रयश्च । (काव्या० ल० वृ०, पृ० ४२६) ।

(ख) तत्र वाचकशक्त्याश्रयमलङ्काराणामेव व्यङ्ग्यत्वादेकप्रकारम्। तत्र ह्यलङ्कारा एव व्यज्यन्ते न तु वस्तुमात्र नापि रसादय । (काव्या० ल० वृ०, पृ० ४२६) ।

(ग) वाच्य- शक्त्याश्रय तु रसादिवस्तुमात्रालङ्काराभिव्यक्तिहेतुत्वात् त्रिविधम् - - - -। (काव्या० ल० वृ०, पृ० ४२६) ।

(घ) तदेव वाचकशक्तिमूलेऽलङ्कारैकनियते वाच्यशक्तिमूले च रसादिविषये व्यञ्जकत्वे वाच्यस्य विवक्षितत्वैकरूपत्वम्। वस्त्वलङ्कारविषये तु वाच्यशक्तिमूले व्यञ्जकत्वे प्रत्येक वाच्यस्य विवक्षितत्वाविवक्षितत्वाभ्या द्विभेदता। (काव्या० ल० वृ०, पृ० ४३१) ।

[3] एतेषा च षण्णा भेदाना मध्याद्द्वयोर्भेदयोर्वाच्यस्याविवक्षोक्ता चतुर्षु विवक्षितत्वम् । यत्र च विवक्षितत्व तत्र वाच्यस्य स्वत सभवित्वात्प्रौढोक्तिमात्रनिष्पादितशरीरत्वाच्च द्वैविध्यम्। अतस्तत्र तस्याष्टौ भेदा भवन्ति। एते चाष्टौ भेदा वाच्यस्य यत्राविवक्षा तद्विषयाभ्या पूर्वोदिताभ्या द्वाभ्या भेदाभ्या सकलिता सन्तो दश सपद्यन्ते। एत एव तु पदवाक्यप्रकाश्यतया द्वैगुण्य भजमाना विशतिर्भवन्ति। (काव्या० ल० वृ०, पृ० ४३१) ।
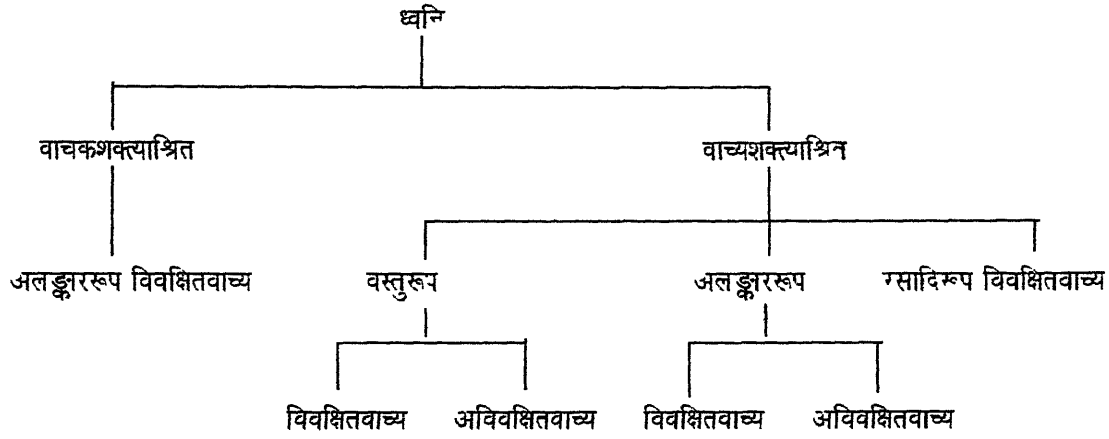
चित्र सख्या ६ प्रतीहारेन्दुराज के अनुसार ध्वनि के भेद ।

५. २ मम्मट के अनुसार व्यञ्जनावृत्ति-विवेचन

शब्द की एक शक्ति के रूप मे व्यञ्जना का व्यवस्थित रूप से विवेचन आचार्य मम्मट के ग्रन्थो मे ही मिलता है। यद्यपि इन्होने व्यञ्जना- शक्ति की कोई परिभाषा नही दी हैं किन्तु इसके विभिन्न भेदो की सविस्तार चर्चा की है। 'काव्यप्रकाश' मे शाब्दी तथा आर्थी व्यञ्जना का वर्णन हे। जिनमे शाब्दी व्यञ्जना के लक्षणामूलक तथा अभिधामूलक दो भेद होते हे।

मम्मट ने 'शब्दव्यापारविचार' मे 'काव्यप्रकाश' की अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ का सामान्य किन्तु स्पष्ट विवेचन किया है। जिस प्रकार सङ्केत एव मुख्यार्थबाधादि हेतुत्रय की सहायता से शब्द को अभिधायक ओर लक्षक कहा जाता हे और वही शब्द पक्षधर्मता एव अन्वयव्यतिरेक के सहयोग से वक्ता की विवक्षा का अनुमापक भी कहलाता है। उसी प्रकार प्रज्ञानेर्मल्य, वैदग्ध्य तथा प्रकरणादि की विशेषता से युक्त शब्द का एक अन्य अर्थ भी होता है जो व्यङ्ग्य अर्थ कहलाता है। अर्थात् वाचक तथा लक्षक शब्द ही प्रकरणादि की विशेषता से व्यङ्ग्य अर्थ को भी व्यञ्जनाशक्ति के द्वारा प्रकट करते है।[1] इस प्रकार मम्मट ने व्यङ्ग्यार्थ का अभिधा तथा लक्षणा से युक्त होना बताकर अभिधामूला तथा लक्षणामूला व्यञ्जना का सङ्केत किया है।

---

[1] यथा सङ्केतेन मुख्यार्थबाधादित्रितयेन च सहायेनाभिधायको लक्षकश्च यथा वा पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकसहगतो विवक्षया अनुमापक तथा प्रतिभानैर्मल्यविदग्धपरिचयप्रकरणादिज्ञानसापेक्षो वाचको लक्षकश्च व्यङ्ग्यमर्थं ध्वनिशब्दो व्यनक्ति।
प्रज्ञानैर्मल्यवैदग्ध्यप्रस्तावादिविधायुज
अभिधालक्षणायोगी व्यङ्ग्योऽर्थ प्रथितो ध्वने ॥ (श० व्या० वि०, पृ० ३३) ।

प्रयोजनवती लक्षणा के प्रसङ्ग मे प्रयोजन की प्रतीति को एकमात्र व्यञ्जनावृत्ति से ही गम्य बताते हुए आचाय मम्मट ने प्रथमत लक्षणामूला व्यञ्जना की ही व्याख्या की ह।

लक्षणा के मुख्यार्थबाधादि तीन प्रकार के हेतुओ मे प्रयोजन भी एक हेतु ह। 'गङ्गाया घोष' इस लाक्षणिक प्रयोग का घोष मे शत्य एव पावनत्व के आधिक्य का प्रतिपादन ही प्रयोजन ह। इस प्रयोजन की प्रतीति व्यञ्जना नामक व्यापार से ही हो सकती ह जिसे ध्वनन अवगमन, प्रकाशन द्योतन आदि शब्दो से कहा जा सकता ह।[१]

लक्षणाओ मे प्रयोजन की प्रतीति शब्द प्रमाण मे ही होती ह। शब्द प्रमाण से बोधित होने वाले अर्थ मे न तो प्रत्यक्ष प्रमाण की प्रवृत्ति होती ह और न ही अनुमान की क्योकि अनुमान भी प्रत्यक्षपूर्वक ही होता ह। इसके अतिरिक्त उसमे न ही कोई दूसरा अनुमान माना जा सकता ह क्योकि उससे अनवस्था दोष हो जाएगा। यहाँ स्मृति भी नही हो सकती[२] क्योकि ज्ञात विषय को ही स्मृति कहते हे[३] आर प्रयोजन का अनुभव पहले से तो हुआ नही रहता। यदि किसी भी प्रकार से यहाँ स्मृति को स्वीकार कर भी लिया जाये तब भी यह सम्भव नही कि प्रयोजन रूप अर्थ नियत रूप से स्मृति का विषय बने।[४] इस प्रकार प्रयोजन की प्रतीति को शब्द प्रमाण से ही मानना होगा। कोई भी शब्द अर्थ की प्रतीति किसी न किसी व्यापार से ही कराता है।[५] इस प्रयोजन रूप अर्थ की प्रतीति अभिधा एव लक्षणा नामक शब्द व्यापार से नही हो सकती।

अभिधा व्यापार से अर्थ बोधन की प्रक्रिया मे शब्द से उसी अर्थ का बोध होता है जिसमे उसका सङ्केत हो। प्रयोजन रूप अर्थ मे शब्द का सङ्केत नही रहता।[६] 'गङ्गाया घोष' वाक्य मे शेत्य तथा पावनत्व रूप प्रयोजन मे गङ्गा शब्द का सङ्केत नही हे। अत इसे अभिधा से बोधित नही मान सकते ।

---

[१] (क) सप्रयोजनाया च लक्षणाया तदतिरिक्तो व्यापारोऽवश्यमङ्गीकर्तव्य। तथा च सति प्रयोजने लक्षणा- - - । तत प्रयोजनविषयो व्यापारोऽभ्युपगन्तव्य। स च ध्वननावगमनप्रकाशनद्योतनादिशब्दव्यवहार्य। (श० व्या० वि०, पृ० १८)।
(ख) यस्य प्रतीतिमाधातु लक्षणा समुपास्यते ॥
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापराक्रिया। (का० प्र०, पृ० ८१)।

[२] न खलु शाब्देऽर्थे प्रत्यक्ष क्रमते नापि तत्पूर्वकमनुमानम्। नानुमानान्तरम् अनवस्थापत्ते । न स्मृति तदनुभवाभावात् (श० व्या० वि०, पृ० १८)।

[३] ज्ञातविषय ज्ञान स्मृति (त० भा०, पृ० १३)।

[४] सत्यामपि वा तस्या नियतस्मरण न स्यात्। (श० व्या० वि०, पृ० १८)।

[५] तस्माच्छब्द एव तत्र प्रमाणम्। निर्व्यापारश्च शब्दो नार्थप्रतीतिकृत्। (श० व्या० वि०, पृ० १८)।

[६] (क) व्यापारश्च नाभिधा तत्र सङ्केताभावात्। (श० व्या० वि०, पृ० १८)।
(ख) नाभिधा समयाभावात्।

यहाँ लक्षणा भी नही हो सकती। क्योकि प्रयोजन तो स्वय लक्षणा का हेतु ह उसी के होने पर लक्षणा होती ह।[1] प्रयोजन लक्षणा का विषय नही होता। यदि प्रयोजन की प्रतीति लक्षणा मे माना जाये तो यहाँ उसके तीनो हेतुओ मे से एक भी नही उपस्थित होगा।[2] उदाहरणस्वरूप 'गङ्गाया घोष' मे गङ्गा के मुख्यार्थ जल-प्रवाह तथा घोष मे आधाराधेय सम्बन्ध का बाध होने पर लक्षणा से गङ्गा का 'तट' अर्थ बोधित होता ह। यहाँ तट रूप लक्ष्यार्थ मुख्यार्थ गङ्गा से सामीप्य सम्बन्ध से सम्बन्धित हे तथा इस प्रकार के लाक्षणिक प्रयोग का प्रयोजन ह तट मे शत्य एव पावनत्व की प्रतीति कराना। किन्तु यदि प्रयोजन को लक्ष्य माना जाये तब गङ्गा का मुख्यार्थ 'तट' को मानना होगा किन्तु ऐसा मानने पर मुख्यार्थ का बाध नही होगा, क्योंकि तट का घोष के साथ आधाराधेय सम्बन्ध अनुपपन्न नही हे। यहाँ मुख्यार्थ से सम्बन्ध रूप लक्षणा का दूसरा हेतु भी घटित नही होता क्योकि शेत्य ओर पावनत्व का तट से कोई साक्षात सम्बन्ध नही हे। उसका सम्बन्ध तो गङ्गा-प्रवाह से हे। इसके अतिरिक्त प्रयोजन की प्रतीति मे लक्षणा मानने पर उसके लिए एक अन्य प्रयोजन मानना होगा तथा उसके लिए भी लक्षणा मानते हुए अनन्त लक्षणा की कल्पना करनी होगी जिससे अनवस्था दोष हो जाएगा। इस प्रकार लक्षणा के तीनो हेतु के अनुपस्थित होने से प्रयोजन की प्रतीति लक्षणा से भिन्न किसी अन्य व्यापार से ही होती है यह मानना ही होगा। इसी अन्य व्यापार को व्यञ्जना कहते हे।[3]

'गङ्गातटे घोष' कहने पर अभिधा से जिस प्रकार के अर्थ की प्रतीति नही होती वैसे अर्थ की प्रतीति कराने के लिए ही 'गङ्गाया घोष' यह लाक्षणिक प्रयोग किया जाता हे, यही प्रयोजन है। यहाँ पर कहा जा सकता हे कि प्रयोजन से विशिष्ट अर्थ मे लक्षणा मान लेने पर उस प्रयोजन की प्रतीति के लिए अन्य व्यापार की कल्पना नही करनी पडेगी। तात्पर्य यह है कि शैत्य एव पावनत्वादि धर्मों से विशिष्ट तट मे ही लक्षणा मान ली जानी चाहिए।[4] अविशिष्ट मे लक्षणा होने पर तट एव प्रयोजन मे धर्मधर्मिभाव सम्बन्ध सिद्ध करने के लिए एक चौथे व्यापार की भी

गङ्गाया घोष इत्यादौ ये पावनत्वादयो धर्मास्तटादौ प्रतीयन्ते न तत्र गङ्गादिशब्दा सकेतिता। (का० प्र०, द्वि उ०, पृ० ८२)।

[1] न लक्षणा तस्मिन् सति हि सा न तु तद्विषयता। (श० व्या० वि०, पृ० १८)।

[2] हेत्वभावान्न लक्षणा। (का० प्र०, द्वि० उ०, पृ० ८३)।

[3] (क) नाप्यस्या लक्ष्ये बाधोऽस्ति। लक्ष्यप्रयोजनयोश्च सम्बन्धस्य प्रयोजनस्य चाभावात्। तस्यापि लक्षणेऽनवस्थापत्तिरिति न लक्षणा। (श० व्या० वि०, पृ० १८)।
(ख) लक्ष्य न मुख्य नाप्यत्र बाधो योग फलेन नो।
न प्रयोजनमेतस्मिन् न च शब्द स्खलद्गति ॥ (का० प्र०, द्वि० उ०, पृ० ८३)।

[4] गङ्गातटे घोष इत्यादिस्वशब्दाद् यादृगर्थप्रतीतिर्न भवति तादृशी 'गङ्गाया घोष' इत्यादे, तदेव प्रयोजन पावनत्वादिधर्माक्रान्त च तटादि लक्ष्यत इति विशिष्टे लक्षणा न तु लक्षिते विशेषा। (श० व्या० वि०, पृ० २०)।

कल्पना करनी पडेगी। इसके अतिरिक्त प्रयोजन तो लक्षणा से उत्पन्न होता ह उसे किसी अन्य व्यापार से उत्पन्न कैसे माना जा सकता ह?[१] इस प्रकार प्रयोजनविशिष्ट अथ की ही लक्षणा द्वारा प्रतीति माननी चाहिए।

मम्मट ने इस शङ्का का समाधान भी तर्कपूर्ण ढङ्ग से प्रस्तुत किया ह। इनके मतानुसार लक्षणा का विषय होता ह लक्ष्य अर्थ उसमे पावनत्वादि होते नही[२] जैसे उपयुक्त उदाहरण मे तटादि लक्षणा का विषय ह । उसमे पावनत्व आदि धर्म नही होते। एकमात्र सकेतितार्थ का बोध कराने के कारण अभिधा सामान्यनिष्ठ ही होती ह। लक्षणा भी हेतुत्रयात्मिका होती हे। तीन हेतुओ के होने पर ही लक्षणा होती हे अन्यथा नही। अत वह भी सङ्केत से अभिन्न ही है। अर्थात लक्षणा से जो अर्थ निकलता है वह दूसरा सङ्केत ह। इस प्रकार लक्षणा भी विशिष्ट अथ को अपना विषय नही बना सकती।[३] व्यञ्जना असकेतित अर्थ का ही बोध कराती हे[४] अत उससे प्रयोजन रूप विशिष्ट अर्थ की प्रतीति होती हे। लक्षणा का विषय लक्ष्य ही होता हे प्रयोजन नही। जिस प्रकार ज्ञान से उसका विषय भिन्न होता हे उसी प्रकार ज्ञान से उसका फल भी भिन्न ही होता है। जसे प्रत्यक्षादि ज्ञान का विषय नीलादि होता हे तथा उसका फल प्रकटता अथवा संवित्ति होता हे,[५] उसी प्रकार लक्षणा का विषय लक्ष्यार्थ होता हे तथा प्रयोजन उसका फल होता हे। लक्ष्यार्थ के ज्ञान को भी लक्षणा का फल कह दिया जाता है। वस्तुत वह लक्ष्य उसका विषय ही होता हे फल नही। लक्षणा से लक्ष्य-ज्ञान विना व्यभिचार के होता है इसीलिए उसे ही फल भी कह दिया जाता हे।[६]

इस प्रसङ्ग मे आचार्य मम्मट ने प्रत्यक्ष ज्ञान के फल को प्रकटता अथवा संवित्ति कहा हे। इन्द्रिय के प्रति उत्पन्न होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते है[७] जो कि इन्द्रिय एव अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है।[८] अध्वरमीमासको के अनुसार इस प्रत्यक्ष ज्ञान का फल होता है प्रकटता अथवा ज्ञातता। 'अय घट' इस प्रकार के प्रत्यक्ष से घट-ज्ञान हो

---

[१] एव हि तटादे पावनत्वादीना च धर्मधर्मिभावकल्पकश्चतुर्थो व्यापार उररीकर्त्तव्य। लक्षणाफल च कथमन्येन क्रियते। (श० व्या० वि०, पृ० २०)।

[२] लक्षणायास्तटादिर्विषय। न च तत्र पावनत्वादय सन्ति। तत्कथ विशिष्टे लक्षणा। (श० व्या० वि०, पृ० २१)।

[३] सामान्यनिष्ठश्च सङ्केत इति त्रितयात्मना सङ्केतभेदेन लक्षणा सा कथ विशिष्ट गोचरीकुर्यात्। (श० व्या० वि०, पृ० २१)।

[४] व्यज्यते त्वसङ्केतित एव। (श० व्या० वि०, पृ० २१)।

[५] (क) कि च लक्षणाया गोचरो लक्ष्य न प्रयोजनम्। प्रत्यक्षस्य हि नील विषय प्रकटता संवित्तिर्वा फलम्। (श० व्या० वि०, पृ० २१)।
(ख) ज्ञानस्य विषयो ह्यन्य फलमन्यदुदाहृतम्। (का० प्र०, द्वि० उ०, पृ० ८६)।

[६] अव्यभिचाराच्च लक्ष्यसंवित् फलत्वेनोक्ता। (श० व्या० वि०, पृ० २१)।

[७] साक्षात्कारिप्रमाकरण प्रत्यक्षम्। (त० भा०, पृ० ५१)।

[८] इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञानमित्यर्थ (का० प्र०, बा० बो०, पृ० ६१)।

जाने के अनन्तर 'ज्ञातो घट' या 'मया घटो ज्ञात' इस प्रकार की प्रतीति होती है। इससे पूर्व उस ज्ञान द्वारा घट मे ज्ञातता अथवा प्रकटता उत्पन्न हो जाती है।[१]

नयायिको के अनुसार घट के प्रत्यक्ष ज्ञान के पश्चात 'घटमह जानामि' यह प्रतीति होती है जिसे सविति अथवा अनुव्यवसाय कहा जाता है।[२] इस प्रकार मीमासको के अनुसार प्रकटता माने अथवा नयायिको के अनुसार सवित्ति दोनो के ही अनुसार ज्ञान का विषय एव फल भिन्न-भिन्न ही होता है। 'काव्यप्रकाश' के टीकाकार माणिक्यचन्द्र ने कुमारिलभट्ट के मत मे प्रकटता को ज्ञान का फल कहा है तथा सवित्ति को प्रभाकर का मत माना है। इनके अनुसार प्रकटता वस्तु का धर्म हे तथा सवित्ति आत्मा का।[३]

वाचक शब्द का फल भी ज्ञान ही होता है और वह फल भी विना किसी व्यापार के नही हो सकता अत उसके लिए किसी व्यापार की कल्पना करनी ही पडती है।[४] फल की प्रतीति कराने वाला व्यापार शब्द मे ही रहता है किसी दूसरे व्यापार मे नही। अत व्यापार का आश्रय शब्द ही सिद्ध होता है।[५]

फल अथवा प्रयोजन को तथा उसके जनक व्यञ्जनाव्यापार को भी मम्मट लक्षणा का ही कार्य कहते हे क्योकि लक्षणा के होने पर ही वह होता हे तथा न होने पर नही होता। कार्य को ही फल कहा जाता है।[६] यद्यपि यह फल व्यञ्जनाशक्ति से उत्पन्न होता हे किन्तु उसे लक्षणा का भी फल कह दिया जाता हे। जिस प्रकार अदृष्ट आदि से प्राप्त स्वार्गादि की प्राप्ति को यज्ञ का फल कह दिया जाता हे उसी प्रकार शैत्य एव पावनत्वादि धर्मो का ज्ञान व्यञ्जना से होता है इस कारण वह व्यञ्जना का फल हे तथापि उसे लक्षणा का भी फल मान लिया जाता हे।[७]

इसके अतिरिक्त मम्मट ने यह भी स्पष्ट किया है कि लक्षणा द्वारा जो ज्ञान होता है उसके विषय (तट) तथा उसके फल (शैत्य एव पावनत्व) मे धर्मधर्मिभाव सिद्ध करने के लिए किसी अन्य व्यापार को मानने की भी आवश्यकता नही है। जिस प्रकार प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नील गुण होता है और उसका फल जो ज्ञान है वह भी उसी

---

[१] घटज्ञानान्तर 'ज्ञातो घट' इति प्रत्ययात् तज्ज्ञानेन तस्मिन् घटे ज्ञाततापरनाम्नी प्रकटता जायते इति अध्वरमीमासकमीमासा। (का० प्र०, बा० बो०, पृ० ६१)।

[२] सति च घटज्ञाने 'घटमह जानामि' इति प्रत्ययरूपा अनुव्यवसायापरपर्याया संवित्तिर्घटज्ञानात् जायते इति तार्किकतर्क। एव च ज्ञातृधर्म संवित्तिस्तार्किकै प्रत्यक्षादिज्ञानस्य फलमित्युच्यत इति भाव। (का० प्र०, बा० बो०, पृ० ६२)।

[३] प्रकटत्व भट्टमते। सवित्ति प्रभाकरे। प्रकटत्व वस्तुनो धर्म संवितिस्तु आत्मन। (का० प्र०, १६ टीकाओ सहित, सङ्केत, पृ० ३६१)।

[४] शब्दस्य च वाचकस्य संविदेव फलम्। तच्च विना व्यापारान्न सम्भवति। (श० व्या० वि०, पृ० २१)।

[५] न च व्यापारस्य व्यापार इति शब्दस्यैवासौ वाच्य। (श० व्या० वि०, पृ० २१)।

[६] लक्षणान्वयव्यतिरेकानुविधान च सव्यापारस्य फलस्येति तस्या तत् कार्यं कार्यं च फलमुच्यते। (श० व्या० वि०, पृ० २२)।

नील विषय मे उत्पन्न होता है। इसी प्रकार लक्षणा का फल भी लक्षणा के विषय मे ही होना है। इस कारण से धमधर्मिभाव की सिद्धि कराने वाले व्यापारान्तर की कल्पना करने की अवश्यकता नहीं होगी।[2]

इस प्रकार आचाय मम्मट ने लक्षणा मे प्रयोजन की प्रतीति मे अभिधा तथा लक्षणाशक्ति को असमथ बताते हुए व्यञ्जनाशक्ति की तार्किक स्थापना की है। ऐसा नही ह कि व्यञ्जनाशक्ति की आवश्यकता मात्र लक्षणा के क्षेत्र मे प्रयोजन की प्रतीति कराने के लिए ही है। इसका क्षेत्र तो अत्यन्त विस्तृत ह। लक्षणा के क्षेत्र मे जो व्यञ्जना प्रवृत्त होती ह वह व्यञ्जना का एक भेद ह जिसे लक्षणामूला व्यञ्जना कहते ह।

मम्मट ने लक्षणामूला व्यञ्जना का उदाहरण दिया ह

रविणा हृतसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डल ।

निश्श्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते॥

इसमे 'अत्यधिक कान्तिहीनता' का प्रतिपादन ही लक्षणा का प्रयोजन है जिसकी प्रतीति व्यञ्जनावृत्ति से ही होती है।[3]

जिस प्रकार लाक्षणिक शब्द व्यञ्जना द्वारा व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति कराते हैं उसी प्रकार वाचक शब्दो से भी व्यञ्जना द्वारा अन्य अर्थ की प्रतीति होती है। इसी दृष्टि से आचार्य मम्मट ने व्यञ्जना के अभिधामूला एव लक्षणामूला भेद किये है। 'शब्दव्यापारविचार' मे लक्षणामूला व्यञ्जना की विस्तृत विवेचना की गई है किन्तु अभिधामूला व्यञ्जना के दो उदाहरण मात्र दिये है।

अभिधामूला, लक्षणामूला तथा आर्थी व्यञ्जना की विस्तृत व्याख्या 'काव्यप्रकाश' मे प्राप्त होती है। इनमे अभिधामूला तथा लक्षणामूला व्यञ्जनाएँ शाब्दी व्यञ्जना है किन्तु आचार्य मम्मट ने कही भी इन्हे शब्दत 'शाब्दी व्यञ्जना' नही कहा हे। व्यञ्जना के शाब्दी अथवा आर्थी होने का कारण उसका 'शब्दपरिवृत्त्यसहत्व' तथा 'शब्दपरिवृत्तिसहत्व' ही है। यही सिद्धान्त शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार शब्ददोष तथा अर्थदोष की शब्दगतता एव अर्थगतता मे भी घटित होता है।

अभिधामूला व्यञ्जना मे व्यञ्जक शब्द के स्थान पर उसके पर्याय का प्रयोग करने पर व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति नही होती यही शब्दपरिवृत्त्यसहत्व है। इसी कारण इसे शाब्दी माना गया है।

---

[1] क्रियान्तरप्राप्तस्य यागफलत्वमिव व्यञ्जनाशक्तिनिर्वर्त्यस्य प्रयोजनस्य लक्षणाफलत्वम्। (श० व्या० वि०, पृ० २२) ।

[2] नीलविषयस्य प्रमाणस्य यथा नीलनिष्ठैव प्रकटता संविद् वा फल तद्वल्लक्षणायास्तद्विषयनिष्ठमेव प्रयोजनम्। तेन धर्मधर्मिभावकल्पक नोपयुज्यते व्यापारान्तरम्। (श० व्या० वि०, पृ० २२) ।

[3] लक्षणामूल यथा 'निश्श्वासान्ध इवादर्श' इत्युदाहृतम्। (श० व्या० वि०, पृ० ३४) ।
इत्यादावन्धादिशब्देषु अनुपपद्यमानत्वाद् वाच्यमत्यन्ततिरस्कृतम् इति विच्छायत्वस्य लक्षितस्यासामान्यत्व व्यङ्ग्यम्। (श० व्या० वि०, पृ० २४) ।

लक्षणामूला व्यञ्जना आपातत आर्थी ही प्रतात होता ह क्योकि 'गङ्गाया घोष' जसे लाक्षणिक प्रयोग मे 'गङ्गा' के स्थान पर 'भागीरथ्याम' इस पर्याय शब्द को रख देने पर भी लक्षणा की स्थिति रहेगी ही अत यहाँ शब्दपरिवृत्त्यसहत्व नही हे। इसका समाधान करते हुए 'काव्यप्रकाश' के टीकाकारो ने लिखा ह कि लक्षणामूला व्यञ्जना भी शाब्दी ही ह क्योंकि उपर्युक्त उदाहरण मे 'गङ्गा' शब्द का पयाय 'भागीरथी' वाचक शब्द का परिवर्तन ह न कि लाक्षणिक शब्द का । 'गङ्गाया घोष' मे गङ्गा पद का वाच्यार्थ जलप्रवाह ह तथा लक्ष्यार्थ तट ह। यदि लाक्षणिक शब्द का पयाय रखने पर भी लक्षणा यथावत् रहे तब उस स्थल पर प्रयोजन रूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति मे शाब्दी व्यञ्जना नही मानी जा सकती । किन्तु यहाँ वाचक गङ्गा शब्द का परिवृत्तिसहत्व होते हुए भी लाक्षणिक शब्द का परिवृत्त्यसहत्व ह ही अत यहाँ शाब्दी व्यञ्जना हे। अर्थात् 'गङ्गाया घोष' कहने पर ही तट मे शत्य एव पावनत्व की प्रतीति होगी 'गङ्गा तटे घोष' कहने पर नही।[1]

५ २ १ *'काव्यप्रकाश' मे वर्णित अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना*

कभी-कभी किसी शब्द के दो या उससे अधिक अर्थ होते है। ऐसे शब्द अनेकार्थक कहलाते हे। इन अनेकार्थक शब्दो मे वक्ता के तात्पर्य के अनुसार सयोग इत्यादि के द्वारा नियन्त्रित होकर अभिधा किसी एक अर्थ का ही बोध कराती है। अभिधा के एक अर्थ मे नियन्त्रित हो जाने पर अन्य अर्थो की प्रतीति व्यञ्जनाव्यापार से ही होती है। इसे ही अभिधामूला व्यञ्जना कहते हे।[2]

मम्मट ने सयोगादि चौदह अभिधानियामको की व्याख्या की है जिससे अभिधा का एक अर्थ मे निर्णय होता है। इसके लिए उन्होने भर्तृहरि की कारिका उद्धृत की हे-

सयोगो विप्रयोगश्च साहचर्य विरोधिता

अर्थ प्रकरण लिङ्ग शब्दस्यान्यस्य सन्निधि ।

---

[1] अभिधामूलव्यञ्जनावत् लक्षणामूलव्यञ्जनापि शब्दपरिवृत्त्यसहा। गङ्गादिशब्दपरिवृत्तिसहत्वेऽपि लाक्षणिकगङ्गादिशब्दपरिवृत्त्यसहत्वात्। 'गङ्गाया घोष' इत्यस्मादेव तीरे शैत्यपावनत्वादिक प्रतीयते । न तु 'गङ्गातीरे घोष' इत्यादिवाचकशब्दघटितवाक्यात्। एतदेवोक्त मूले 'गङ्गातटे घोष इत्यादे प्रयोगात्' इत्यादि 'गङ्गासम्बन्धमात्रप्रतीतौ' इत्यादि च। (का० प्र०, बा० बो०, पृ० ७०) ।

[2] अभिधामूल त्वाह-
अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
सयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यापृतिरञ्जनम्। (का० प्र०, द्वि उ०, पृ० ८८)।

सामर्थ्यमौचिनी देश कालो व्यक्ति स्वगदय

शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषम्मृनिहेतव ॥

१- सयोग किसी प्रसिद्ध सम्बन्ध के आधार पर वाचकता का नियमन सयोग कहलाता ह जसे 'सशङ्खचक्रो हरि' यहाँ 'हरि' शब्द के अनेक अर्थ होते हुए भी शङ्ख एव चक्र का सयोग होने से अभिधा द्वारा 'हरि' शब्द का वाच्यार्थ 'विष्णु' होता ह।

२ विप्रयोग - प्रसिद्ध सम्बन्ध का अभाव ही विप्रयोग कहलाता ह। 'अशङ्खचक्रो हरि' वाक्य मे 'हरि' शब्द विष्णु का वाचक हे क्योंकि शङ्ख तथा चक्र से विष्णु का ही सम्बन्ध प्रसिद्ध ह जिसका यहाँ अभाव बताया गया है।

३- साहचर्य - साथ-साथ रहना ही साहचर्य कहलाता ह। 'रामलक्ष्मणा' मे राम शब्द के परशुराम, दशरथ पुत्र राम, इत्यादि अनेक अर्थ होते हुए भी लक्ष्मण के साथ साहचर्य के कारण दशरथ-पुत्र राम का ही अभिधा से बोध होता है।

४- विरोधिता - प्रसिद्ध वैर या सहानवस्थान ही विरोधिता है जसे 'रामार्जुनगतिस्तयो' मे राम एव अर्जुन का अनेक अर्थ होते हुए भी इनका वाच्यार्थ परशुराम तथा कार्त्तवीर्य होता हे क्योंकि परशुराम तथा कार्त्तवीर्य का विरोध ही इतिहास प्रसिद्ध है।

५- अर्थ - अर्थ का तात्पर्य है प्रयोजन अर्थात् ऐसा फल जो किसी अन्य प्रकार से साध्य न हो। 'स्थाणु भज भवच्छिदे' वाक्य मे स्थाणु के ठूँठ, शकु, रुद्र, शिव आदि अनेक अर्थ होते है किन्तु भवबाधाहरणरूप प्रयोजन के लिए शिव का ही भजन सम्भव है अत 'स्थाणु' शब्द यहाँ अभिधा से शिव का बोध कराता है।

६- प्रकरण - वक्ता तथा श्रोता की बुद्धि मे किसी बात का होना ही प्रकरण है। किसी राजा को सम्बोधीत करके कहे गये 'सर्व जानाति देव' वाक्य मे प्रकरणवशात् देव शब्द का अर्थ राजा ही होगा क्योंकि यही अर्थ वक्ता एव श्रोता की बुद्धि में है। यद्यपि देव शब्द के मेघ, सुर आदि अन्य अनेक अर्थ होते है। अर्थ तथा प्रकरण मे यही अन्तर है कि प्रकरण केवल बुद्धि मे स्थित रहता है किन्तु अर्थ शब्दो द्वारा कहा जाता हे।[1]

७- लिङ्ग - सयोग से भिन्न सम्बन्ध के द्वारा पर पक्ष की व्यावृत्ति कराने वाला धर्म ही लिङ्ग है। साधारण शब्दो मे इसे चिह्न अथवा पहचान कहा जा सकता है। जैसे 'कुपितो मकरध्वज'। यहाँ मकरध्वज का अर्थ है मकर के आकार की ध्वजा है जिसकी अर्थात् कामदेव। विग्रह से मकरध्वज का अन्य अर्थ भी होता है जैसे मकर ही ध्वजा है जिसकी अर्थात् समुद्र, किन्तु कोप रूप लिङ्ग से मकरध्वज का वाच्यार्थ कामदेव होता है क्योंकि समुद्र मे कोप रहता नही।

---

[1] प्रकरणमशब्दम् अर्थस्तु शब्दवानित्यनयोर्भेद। (का० प्र०, बा० बो०, पृ० ६५)।

८- अन्य शब्द की सन्निधि - जहाँ अनेकार्थक शब्द के साथ किसी नियत अथ वाले शब्द का समानाधिकरण्य होता है वहाँ वह अनेकार्थक शब्द उस अन्य नियत अर्थ वाले पद के सान्निध्य से किसी एक अर्थ का वाचक हो जाता है। जैसे - 'देवस्य पुराराते' यहाँ देव शब्द के राजा, मेघ आदि अनेक अर्थ होते ह किन्तु 'त्रिपुराराति' शब्द की सन्निधि से देव शब्द का वाच्यार्थ शिव होता ह।

६ सामर्थ्य - कारणता को सामथ्य कहते ह 'मधुना मत्त कोकिल' वाक्य मे मधु शब्द के वसन्त, मकरन्द, शहद, मदिग आदि अर्थों के होते हुए भी कोयल को मत्त करने का सामर्थ्य वसन्त मे ही ह अत सामर्थ्य से मधु शब्द का अभिधेयार्थ यहाँ वमन्त ऋतु होता है।

१०- ओचिति - ओचित्य अथवा योग्यता आचिति कहलाती ह। 'पातु वो दयितामुखम्' वाक्य मे मुख शब्द का वाच्यार्थ हे साम्मुख्य। यहाँ अर्थ निर्धारण ओचिति से ही होता हे। मुख शब्द के वदन, प्रारम्भ, साम्मुख्य आदि कई अर्थ होते हे।

११- देश - देशविशेष के कारण भी किसी शब्द का अर्थ नियन्त्रित हो जाता है। जेसे 'भात्यत्र परमेश्वर' मे परमेश्वर शब्द का अर्थ राजा विष्णु, शिव आदि है किन्तु राजधानी रूप देश विशेष मे राजा ही शोभित होता है अत उसका वाच्यार्थ राजा होगा। विष्णु तो वैकुण्ठ मे तथा शिव कैलाश मे शोभायमान होते है।

१२- काल - कही-कही कालविशेष भी वाच्यार्थ का नियामक होता है। जेसे- 'चित्रभानुर्विभाति इस उदाहरण मे चित्रभानु शब्द का अर्थ सूर्य एव अग्नि है। यदि रात्रि मे इस वाक्य का प्रयोग होता है तब 'चित्रभानु' का अर्थ अग्नि होगा तथा दिन मे प्रयोग होने पर वह सूर्य अर्थ का वाचक होगा।

१३- व्यक्ति - पुल्लिग,स्त्रीलिग इत्यादि के द्वारा भी अनेकार्थक शब्द किसी एक अर्थ के वाचक हो जाते है। जेसे मित्र शब्द यदि नपुसक लिङ्ग मे होता है तब उसका अर्थ मित्र होगा तथा पुल्लिग मे होने पर वह सूर्य अर्थ का वाचक होगा। इस प्रकार व्यक्ति अर्थात् लिङ्गादि के द्वारा भी वाचकता नियन्त्रित होती है।

१४- स्वर - उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि स्वरो के आधार पर भी अनेकार्थक शब्दो की वाचकता नियन्त्रित हो सकती है। लोक मे स्वरों के आधार पर अर्थ का नियमन नही होता। वेदो मे ही स्वर की नियामकता मानी जाती है। इसका उदाहरण है, 'इन्द्रशत्रु' यहाँ 'इन्द्र शत्रु यस्य' इस बहुव्रीहि समास से इन्द्र शब्द का अर्थ होगा इन्द्र है नाशक जिसका। इसमे पूर्वपद उदात्त होता है। 'इन्द्रस्य शत्रु' इस तत्पुरुष समास से इसका अर्थ होगा इन्द्र का शत्रु। इसका अन्तिम पद उदात्त होता है।[1]

---

[1] इत्युक्तदिशा सशङ्खचक्रो हरि अशङ्खचक्रो हरिरित्युच्यते। रामलक्ष्मणाविति दाशरथी। रामार्जुनगतिस्तयोरिति भार्गवकार्त्तवीर्ययो। स्थाणु भज भवच्छिदे इति हरे। सर्व जानाति देव इति युष्मदर्थे। कुपितो मकरध्वज इति कामे। देवस्य पुरारातेरिति शम्भौ। मधुना मत्त कोकिल इति वसन्ते। पातु वो दयितामुखमिति साम्मुख्ये। भात्यत्र परमेश्वर

भर्तृहरि की कारिका के अन्त मे 'स्वगदय' से जो 'आदि' पद का कथन किया गया ह उससे अभिन्य, अपदेश इत्यादि का ग्रहण होता ह। अपदेश का अर्थ ह विवक्षित अथ का हाथ से निर्देश[1] मम्मट ने अभिनय से अर्थ के निर्णय का उदाहग्ण दिया ह -

एद्‌दहमेत्तत्थणिआ एद्‌दहमेत्तेहि अच्छिवत्तेहि।

एददहमेत्तावत्था एद्‌दहमेत्तेहि दिअएहि ॥[2]

इस प्रकार अनेकार्थी शब्दो का प्रयोग होने पर उनके किसी एक ही अर्थ मे वक्ता का तात्पर्य होता ह, ऐसी दशा मे सयोगादि से वाच्यार्थ उसी अर्थ मे नियन्त्रित हो जाता है। अन्य प्रतीत होने वाले अर्थों का बोध व्यञ्जनावृत्ति द्वारा ही होता हे।[3] उदाहरण स्वरूप -

भद्रात्मनो दुरधिरोहतनोर्विशालवशोन्नते कृतशिलीमुखसग्रहस्य।

यस्यानुपप्लवगते परवारणस्य दानाम्बुसेकसुभग सतत करोऽभूत्॥[4]

इस सम्पूर्ण पद्य के दो अर्थ निकले है - राजा के पक्ष मे तथा गज के पक्ष मे प्रकरण के अनुसार राजा के पक्ष वाला अर्थ वाच्यार्थ है, किन्तु विदग्धजनो को जो गज विषयक अर्थ की भी प्रतीति होती है, व्यञ्जनावृत्ति द्वारा ही होती ह। यह अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना का उदाहरण है।

शक्तिग्रह के नियामक कारणो की चर्चा काव्यशास्त्र के अतिरिक्त व्याकरण तथा न्याय-दर्शन मे भी की गई है। नागेशभट्ट ने भी भर्तृहरि की कारिका उद्‌धृत करते हुए सयोगादि कारणो की विस्तार से चर्चा की है।[5]

अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना की परिभाषा मे मम्मट ने शब्द की अनेकार्थता को स्वीकार किया है किन्तु श्लेष अलङ्कार के प्रसङ्ग मे 'अर्थभेदेन शब्दभेद' इस सिद्धान्त के अनुसार अर्थों का भेद होने पर शब्दो की भिन्नता भी मानी है। यहाँ मम्मट के विचारो मे परस्पर विरोध है क्योंकि श्लेष अलङ्कार मे तो मम्मट यह मान रहे है कि एक शब्द एक

इति राजधानीरूपाद्‌देशाद्राजनि। चित्रभानुर्विभातीति दिने रवौ रात्रो वह्नौ । मित्र भातीति सुहृदि मित्रो भातीति रवौ। इन्द्रशत्रुरित्यादौ वेद एव न काव्ये स्वरो विशेषप्रतीतिकृत् । (का० प्र०, द्वि० उ०, पृ० ६०) ।

[1] अभिनयादय इत्यादिपदेन अपदेशो ग्राह्य । अपदेशो नाम हृदयनिहितहस्तादिनाभिमतनिर्देश । (का० प्र०, बा० बो०, पृ० ६७-६८) ।

[2] का० प्र०, पृ० ६४ ।

[3] इत्थ सयोगादिभिरर्थान्तराभिधायकत्वे- - - व्यञ्जनमेवव्यापार । (का० प्र०, पृ० ६५) ।

[4] का० प्र०, पृ० ६५ ।

[5] सैषा शक्ति सयोगादिभिर्नानार्थशब्देषु नियम्यते तदुक्त हरिणा-
ससर्गो विप्रयोगश्च - - - । (वै० सि० ल० म०, पृ० ६०) ।

ही अर्थ का प्रतिपादक होता ह किन्तु अभिधामूला व्यञ्जना मे शब्दो को अनेकार्थक मानते हुए उसके एक अर्थ मे अभिधा के नियत्रित हो जाने पर दूसरे अर्थ को व्यङ्ग्य कह रहे ह। यहाँ भी 'अर्थभेदेन शब्दभेद' न्याय मे दो अभिधायक शब्द मानना चाहिए अत यहाँ व्यञ्जना का अवसर ही नही ह।

आचार्य विश्वनाथ ने 'काव्यप्रकाशदर्पण' टीका मे इसका समाधान किया ह

'भद्रात्मन' इत्यादि उदाहरण मे राजा पक्ष वाला अर्थ प्राकरणिक हे तथा गजपक्षीय अर्थ अप्राकरणिक। यहाँ भी यदि दोनो अर्थो के लिए दो शब्दो की कल्पना की जाये तो प्रकृत अर्थ की प्रथम प्रतीति नही हो सकेगी। क्योंकि शब्दद्वय मानने पर दोनो ही अर्थो की अभिधेयता होने से दोनो समकक्ष होगे। ऐसी स्थिति मे उनके पूर्वपश्चाद्भाव का निर्णय नही हो सकेगा। इस प्रकार अप्राकरणिक द्वितीय अर्थ की प्रतीति मे व्यञ्जनाव्यापार को मानना ही होगा।[1]

५ २ २ *आर्थी व्यञ्जना* -

अभिधामूला व्यञ्जना की ही भाँति आर्थी व्यञ्जना की भी विस्तृत व्याख्या 'काव्यप्रकाश' मे की गई है।

कभी-कभी अर्थ भी वक्तृ, बोधव्यादिकी विशेषता के कारण सहृदयो को अन्य अर्थ की प्रतीति कराते है। यही आर्थी व्यञ्जना है। शब्दो के साथ-साथ मम्मट अर्थो की भी व्यञ्जकता को स्वीकार करते है।[2] वाच्य तथा लक्ष्य अर्थ के साथ-साथ व्यङ्ग्य अर्थ भी अन्य अर्थ की प्रतीति कराते है। जिस प्रकार शाब्दी व्यञ्जना मे शब्द व्यञ्जक होते हैं किन्तु उनमे अर्थ की भी सहकारिता होती है[3] उसी प्रकार आर्थी व्यञ्जना मे भी यद्यपि अर्थ ही अन्यार्थ के व्यञ्जक होते है किन्तु उनमे भी शब्द की सहकारिता अवश्य रहती है क्योंकि जिन अर्थो से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती है वे शब्दो द्वारा ही जाने जाते है।[4]

---

[1] अत्र हि शब्दद्वयकल्पने कथ प्रकृतार्थस्य प्रथम प्रतीति द्वयोरभिधेयत्वेन पूर्वपश्चाद्भावनैयत्यासम्भवात्। (का० प्र०, १६ टीकाओ सहित, दर्पण, पृ० ३६७) ।

[2] सर्वेषा प्रायशोऽर्थाना व्यञ्जकत्वमपीष्यते। (का० प्र०, प्र० उ०, पृ० ३८) ।

[3] यत्सोऽर्थान्तरयुक् तथा।
अर्थोऽपि व्यञ्जकस्तत्र सहकारितया मत ॥ (का० प्र०, द्वि० उ०, पृ० ६७) ।

[4] शब्दप्रमाणवेद्योऽर्थो व्यनक्त्यर्थान्तर यत
अर्थस्य व्यञ्जकत्वे तच्छब्दस्य सहकारिता॥ (का० प्र०, द्वि० उ०, पृ० १०६) ।

आर्थी-व्यञ्जना मे प्रतिभासम्पन्न व्यक्तियो को, जिन्हे सहृदय कहा जाता ह, वक्ता आदि की विलक्षणता से व्यङ्ग्यार्थ-बोध होता हे। नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा ही प्रतिभा कहलाती ह।[1] इस प्रकार काव्यवासना मे परिपक्व बुद्धि वाले व्यक्तियो को ही सहृदय कहा जाता ह।

मम्मट ने निम्नलिखित कारणो का उल्लेख किया ह जिसके वशिष्टय से सहृदयो को व्यङ्ग्याथ की प्रतीति होती ह[2]

(१) **वक्ता** -

जो दूसरे व्यक्ति को बोध कराने के लिए वाक्य का उच्चारण करता ह उसे वक्ता कहते ह वक्तृवशिष्ट्य से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति का उदाहरण ह -

अइपिहुल जलकुभ घेत्तूण समागदह्मि सहि तुरिअम् ।

समसेअसलिलणीसासणीसहा वीममामि खणम् ॥[3]

इस उदाहरण मे वक्तृ के द्वारा विशाल घट को लाने के कारण होने वाली अपनी परिश्रान्ति का वर्णन ही वाच्यार्थ हे, किन्तु सहृदय को यह ज्ञात है कि कहने वाली स्त्री दुराचारिणी हे अत वक्तृवैशिष्ट्य से यहाँ चौयरतिगोपन रूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो रही ह।

(२) **बोद्धव्य** -

जिससे वाक्य कहा जाता हे वही बोद्धव्य हे।[4] कभी-कभी बोद्धव्य के स्वभाव को जानते हुए सहृदय को उसकी विशिष्टता से व्यङ्ग्यार्थबोध होता हे। जेसे -

ओण्णिद्द दोब्बल्ल चिन्ता अलसत्तण सणीससिअम्

मह मन्दभाइणीए केर सहि तु वि अहह परिहवइ ॥

---

[1] प्रतिभा वासना,नवनवोन्मोषशालिनी प्रज्ञेति यावत्। (का० प्र०, बा० बो०, पृ० ७२) ।

[2] वक्तृबोद्धव्यकाकूना वाक्यवाच्यान्यसन्निधे
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात्प्रतिभाजुषाम्
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा॥ (का० प्र०, पृ० ६६) ।

[3] य परप्रतिपत्तये वाक्यमुच्चारयति स वक्ता । (का० प्र०, बा० बो०, पृ० ७२) ।

[4] बोधनीय पुरुषो बोद्धव्य । (का० प्र०, बा० बो०, पृ० ७२) ।

इस उदाहरण मे नायिका की दूती सखी बोधव्य ह जो कि असाध्वी ह। उसका यह स्वभाव पूर्वज्ञात होने से बोद्धव्य वैशिष्ट्य के कारण नायिका द्वारा अपनी सखी के विरुद्ध आचरण का वर्णन व्यङ्ग्यार्थरूप मे प्रतीत हो रहा ह।

(३) **काकु** -

भिन्न कण्ठध्वनि को ही काकु कहते ह। काकु के वशिष्टय से भी व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होती ह।[1] जमे -

तथाभूता दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनया

वने व्याधै सार्धं सुचिरमुषित वल्कलधरै

विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृत

गुरु खेद खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु ॥

यहाँ काकु की विशेषता से ही इस व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो रही है 'मुझ पर क्रोध करना उचित नही ह अपितु कोरवो पर क्रोध करना उचित हे।'

मम्मट ने गुणीभूतव्यङ्ग्य के भेदो मे 'काक्वाक्षिप्त' नामक एक भेद भी माना हें जहाँ काकु से प्रतीत अर्थ ही वाच्यार्थ को पूर्ण बनाता हे[2] वहाँ व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा अप्रधान होता है। प्रस्तुत उदाहरण मे ध्वनिकाव्य है। यहाँ काकु से प्रकट होने वाला व्यङ्ग्यार्थ वाच्यसिद्धि का अङ्ग नही अपितु प्रधान है।[3]

४- **वाक्य** -

साकाङ्क्षा पदो के समूह को वाक्य कहते है ।[4] कही-कही प्रयुक्त वाक्य की विलक्षणता से वाच्यार्थ से भिन्न एक अन्य अर्थ की प्रतीति होती है उसे ही वाक्य-वैशिष्ट्य कहते है। जैसे -

तइआ मह गण्डत्थलणिमिअ दिट्ठि ण णेसि अण्णत्तो

एण्हि सच्चेअ अह ते अ कवोला ण सा दिट्ठी ॥

---

[1] भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरै काकुरित्यभिधीयते। उक्त च अमरेणापि 'काकु स्त्रिया विकारो य शोकभीत्यादिभिर्ध्वने ।' (का० प्र०, बा० बो०, पृ० ७२) ।

[2] का० प्र०, पृ० २१६) ।

[3] अत्र मयि न योग्य खेद कुरुषु तु योग्य इति काक्वा प्रकाश्यते। न च वाच्यसिद्ध्यङ्गमत्र काकुरिति गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व शङ्क्य प्रश्नमात्रेणापि काकोर्विश्रान्ते। (का० प्र०, पृ० १०२) ।

[4] साकाङ्क्षाणा पदाना समूहो वाक्यम् । (का० प्र०, बा० बो०, पृ० ७२) ।

इस उदाहरण मे नायिका की सखी के प्रति नायक का प्रच्छन्न अनुराग व्यङ्ग्य ह जो कि वाक्य के वशिष्टय से ही प्रतीत हो रहा हे।

५ **वाच्य** -

मुख्यार्थ ही वाच्य कहलाता ह ।[1] कभी-कभी वाच्यार्थ के विशेषणो से व्यङ्ग्य अर्थ की व्यञ्जना होती ह-

उद्देशोऽय सरसकदलीश्रेणिशोभातिशायी

कुञ्जोत्कर्षाङ्कुरितरमणीविभ्रमो नर्मदाया ।

किञ्चैतस्मिन् सुरतसुहृदस्तन्वि ते वान्ति वाता

येषामग्रे सरति कलिताऽकाण्डकोपो मनोभू ॥

इस उदाहरण मे वाच्यार्थ के विशेषणो से ही नायक की सुरतेच्छा रूप व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो रही हे।

६-**अन्यसन्निधि** -

वक्ता आदि के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति की समीपता से भी कभी-कभी व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो जाती हे-

णोल्लेइ अणद्दमणा अत्ता म घरभरम्मि सअलम्मि ।

खणमेत्त जइ सझाइ होइ ण व होइ वीसामो ॥

यह वाक्य नायिका अपनी सखी या प्रतिवेशिनी से कह रही है किन्तु किसी उदासीन व्यक्ति या उपनायक की उपस्थिति से सहृदय को यह व्यङ्ग्यार्थ-बोध होता है कि नायिका सन्ध्या के समय अपने अवकाश का कथन करके सङ्केत के योग्य समय को व्यक्त कर रही है।

७-**प्रस्ताव** -

प्रकरण को ही प्रस्ताव कहा जाता है-

सुव्वइ समागमिस्सदि तुज्झ पिओ अज्ज पहरमेत्तेण ।

एमेअ किंत्ति चिट्ठसि ता सहि सज्जेसु करणिज्जम् ॥

यहाँ प्रकरण से अर्थ-व्यञ्जना हो रही है। उपपति के प्रति अभिसरण को तत्पर नायिका के लिए उसकी सखी का कथन है जिससे अभिसरण का निषेधरूप व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत हो रहा है।

---

[1] शक्योऽर्थो वाच्य। (का० प्र०, बा० बो०, पृ० ७२)।

८- देश -

किसी विशिष्ट देश के कारण भी अन्य अर्थ की व्यञ्जना होती है-

अन्यत्र यूय कुसुमावचाय कुरुध्वमत्रास्मि करोमि सख्य ।

नाह हि दूर भ्रमितु समर्था प्रसीदताय रचितोऽञ्जलिर्व ॥

इस उदाहरण मे नायिका द्वारा सखियो को अन्यत्र पुष्पचयनार्थ प्रेषित कर निर्जन बनाये गये देश के कारण इस व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो रही हे कि नायिका अपनी विश्वसनीय सखी से नायक के प्रेषण का आग्रह कर रही है।

६- काल -

काल अथवा किसी विशिष्ट समय का ज्ञान हो जाने पर भी अन्य अर्थ की प्रतीति हो जाती हे-

गुरुअणपरवस पिअ कि भणामि तुइ मदभाइणी अहकम् ।

अज्ज पवास वच्चसि वच्च सअ जेव्व सुणसि करणिज्जम् ॥

यहाँ 'अज्ज' (अद्य) का तात्पर्य वसन्त ऋतु है। इसके वैशिष्ट्य से ही यहाँ व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत हो रहा हे।

कभी-कभी चेष्टा भी किसी अन्य अर्थ की व्यञ्जना मे सहायक होता है। वक्तादि सहकारी कारणो की व्याख्या मे मम्मट द्वारा प्रयुक्त 'कालादि' के 'आदि' पद का तात्पर्य चेष्टा ही है।[1]

आचार्य मम्मट ने 'शब्दव्यापारविचार' मे इस प्रकार से न तो अभिधामूला व्यञ्जना का विस्तृत विवेचन किया है और न ही आर्थी व्यञ्जना की चर्चा है। वहाँ लक्षणामूला व्यञ्जना की व्याख्या के अनन्तर अभिधामूला के दो उदाहरण दिये गये है-

पदप्रकाश्य -

वाणिअअ हत्थिदन्ता कुत्तो अह्माण वग्घकित्ती अ ।

जाव लुलिआलअमुही घरम्मि परिसक्कए सुण्हा ॥

वाक्यप्रकाश्य -

अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अह दिअसअ पलोएहि ।

मा पहिअ रत्तिअन्धअ सेज्जाए मह णिमज्जहिसि ॥ [2]

---

[1] आदिग्रहणाच्चेष्टादे । (का० प्र०, पृ० १०८) ।

[2] श० व्या० वि०, पृ० ३३-३४ ।

मम्मट ने इन दोनो उदाहरणो मे अभिधामूला व्यञ्जना मानी है। अभिधामूला व्यञ्जना शाब्दी व्यञ्जना है जबकि उपर्युक्त उदाहरणो मे अर्थ से अर्थ का व्यञ्जना होने से यहाँ आर्थी व्यञ्जना है। शब्दो का पर्याय रख देने पर भी यहाँ व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति होगी ही।

इस प्रसङ्ग मे मम्मट का सिद्धान्त अस्पष्ट हो गया है। इस विवेचन के आधार पर अभिधामूला व्यञ्जना को केवल 'शाब्दी' नही कहा जा सकता। वह आर्थी भी हो सकती है।

वस्तुत उपर्युक्त दोनो उदाहरण ध्वनिकाव्य के है। मम्मट ने ध्वनि के अविवक्षितवाच्यध्वनि तथा विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि नामक जो दो भेद किये है वे लक्षणामूला एव अभिधामूला ध्वनि ही है। इनमे लक्षणामूला तो केवल शाब्दी है किन्तु अभिधामूलाध्वनि के सलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य नामक भेद के शब्दशक्तिमूलक, अर्थशक्तिमूलक तथा उभयशक्तिमूलक नामक अवान्तर भेदो[1] से सिद्ध होता है कि अभिधामूला ध्वनि शब्दगत एव अर्थगत दोनो ही हो सकती है।

ध्वन्यालोककार ने भी 'वणिअअ - - -' इत्यादि पद्य को पद से प्रकाशित होने वाले स्वत सम्भाविशरीरार्थशक्त्युद्भव नामक ध्वनि के एक भेद के उदाहरण के रूप मे प्रस्तुत किया है।[2]

ध्वनिकाव्य मे व्यङ्ग्य अर्थ की ही प्रधानता होती है। मम्मट ने अभिधामूला व्यञ्जना का 'वणिअअ - - -' इत्यादि जो उदाहरण दिया है उसे ही काव्यप्रकाश मे उत्तरालङ्कार के उदाहरणस्वरूप भी प्रस्तुत किया है।[3] यहाँ मम्मट का मत विसङ्गतिपूर्ण हो गया है। एक ही उदाहरण को ध्वनि काव्य तथा अलङ्कार दोनो का नही माना जा सकता। प्रस्तुत उदाहरण मे अलङ्कार मान लेने पर यद्यपि उसमे व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता तो हो सकती है किन्तु उसकी प्रधानता नही, क्योंकि व्यङ्ग्य की प्रधानता होने पर वहाँ ध्वनि काव्य हो जाएगा अलङ्कार नही । अलङ्कार मे चमत्कार का पर्यवसान वाच्यार्थ मे ही होता है।

जहाँ काव्य मे व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता तो होती है किन्तु चमत्कार का पर्यवसान वाच्यार्थ मे ही होता है, व्यङ्ग्य किसी न किसी रूप मे वाच्य का उपस्कारक होता है वाच्यादिशायी नही, वहाँ गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक काव्य माना जाता

---

[1] अनुस्वानाभसलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्थितिस्तु य
शब्दार्थोभयशक्त्युत्थस्त्रिधा स कथितो ध्वनि ॥ (का० प्र०, पृ० १६७) ।

[2] स्वत सम्भविशरीरार्थशक्त्युद्भवे प्रभेदे पदप्रकाशता यथा-
वणिअअ- - - - । (ध्व०, तृ० उ०, पृ० २६) ।

[3] प्रतिवचनोपलम्भादेव पूर्ववाक्य यत्र कल्प्यते तदेक तावदुत्तरम् । उदाहरणम् -
वणिअअ- - - । (का० प्र०, पृ० ५७२) ।

है। इसे मम्मट ने 'मध्यम काव्य' की सज्ञा दी है। 'काव्यप्रकाश' मे गुणीभूतव्यङ्ग्य के आठ भेद मानते हुए उसकी सोदाहरण व्याख्या की गई है[1] किन्तु 'शब्दव्यापारविचार' मे तो उमके दो उदाहरण दे दिये गये है।[2]

पद से प्रकाशित -

कता द्यूतच्छलाना जतुमयशरणोद्दीपन सोऽभिमानी

कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटु पाण्डवा यस्य दासा।

राजा दुशासनादेर्गुरुरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्र

क्वास्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत न रुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्व॥[3]

वाक्य से प्रकाशित

वाणीरकुडङ्गुड्डीणसउणिकोलाहल सुणन्तीए।

घरकम्मवावडाए बहुए सीअन्ति अङ्गाइ॥[4]

इन दोनो उदाहरणो मे व्यङ्ग्यार्थ की सत्ता तो हे किन्तु वह वाच्यातिशायी नही हे। वाच्यार्थ ही यहाँ चमत्कारपर्यवसायी है, अत गुणीभूतव्यङ्ग्य का 'असुन्दर' नामक भेद हे।

५. ३ मम्मट द्वारा व्यञ्जना विरोधी मतो का खण्डन

आनन्दवर्धन द्वारा प्रवर्तित ध्वनि-सिद्धान्त की सुदृढ स्थापना आचार्य मम्मट के ग्रन्थो मे ही मिलती हे। मम्मट के सिद्धान्तो मे व्यञ्जनावृत्ति का न केवल प्रतिष्ठापन हुआ है अपितु इसके विरोधी विचारधाराओ का सशक्त तर्को से खण्डन भी हुआ है।

---

[1] अगूढमपरस्याङ्ग वाच्यसिद्ध्यङ्गमस्फुटम्
सन्दिग्धतुल्यप्राधान्ये काक्वाक्षिप्तमसुन्दरम्
व्यङ्ग्यमेव गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याष्टौ भिदा स्मृता। (का० प्र०, पृ० २१६)।

[2] श० व्या० वि०, पृ० ३५।

[3] अत्रैते वराका दासभाव गता कि करिष्यन्ति अस्मदेकशरणा परिभविष्यन्ति इत्यादि द्यूतकाले भवद्भिश्चिन्तितमासीन्नास्माक विस्मृतम्। तत्र काचित् प्रतिक्रिया निर्व्यूढा न कि निर्व्यूढा इत्यादिक तमर्थमभिव्यज्य सर्वैरेव कर्ता द्यूतच्छलानामित्यादिभिर्वाच्य एवार्थे विश्रम्यते। (श० व्या० वि०, पृ० ३५-३६)।

[4] अत्र दत्तसङ्केत पुरुषो वानीरलतागृह प्रविष्ट इति व्यङ्ग्यमर्थमवगमय्य वाच्योऽर्थ स्वप्राधान्येनास्ति। (श० व्या० वि, पृ० ३६)।

'शब्दव्यापारविचार मे व्यञ्जना-विरोधी पक्षो की अत्यन्त सक्षेप मे ही अवतारणा कर उनका खण्डन मम्मट ने किया है। इसका कारण भी उन्होने दिया हे -

एतच्चान्यत्र विस्तरेण विचारितमिति सक्षेपेणेहोक्तमिति।

वस्तुत 'काव्यप्रकाश' मे विशद रूप से विचारित व्यञ्जना-विरोधी प्रसङ्ग का पुन उन्ही तर्को से 'शब्दव्यापारविचार' मे भी खण्डन करना पिष्टपेषण मात्र ही होता । 'शब्दव्यापारविचार' मे विरोधियो का खण्डन एव व्यञ्जना की स्थापना हेतु जो तर्क दिये गये ह उसे 'काव्यप्रकाश' का सक्षिप्त रूप कहा जा सकता ह अत 'काव्यप्रकाश' के व्यञ्जना-विरोधी प्रसङ्ग की पृष्ठभूमि मे ही उन्हे स्पष्ट किया जा सकता ह।

व्यञ्जना-विरोधियो के मत को पूर्वपक्ष के रूप मे रखते हुए मम्मट ने किसी भी आचाय का नाम नही उल्लिखित किया ह। इन्होने ध्वनि के विभिन्न भेदो मे पृथक्-पृथक् रूप से व्यञ्जना की अपरिहार्यता को दर्शाते हुए सिद्ध किया हे कि व्यञ्जना का कार्य अभिधा, लक्षणा या तात्पर्य से नही लिया जा सकता ।

रसादि ध्वनि की व्यङ्ग्यता सिद्ध ही है। रस भावादि को वाच्य नही माना जा सकता। विभाव अनुभाव इत्यादि ही रस के अभिव्यञ्जक होते है। रस के साक्षात् शब्द द्वारा अथवा शृङ्गार आदि शब्दो द्वारा प्रतीत होने पर ही रस को अभिधेय कहा जा सकता हैं किन्तु वस्तुस्थिति इसके विपरीत है। शृङ्गारादि शब्दो का ग्रहण न होने पर विभाव, अनुभावादि के ग्रहण से रस प्रतीति होती ही है। अत रस को वाच्य नही कहा जा सकता। मुख्यार्थबाधादि के अभाव मे यहाँ लक्षणा भी नही मानी जा सकती। अत यह मानना ही होगा कि रस सदा व्यङ्ग्य होता है।[१]

लक्षणामूलक ध्वनि के दोनो भेदो अर्थान्तर सक्रमित तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि मे जिस प्रयोजन की प्रतीति के लिए लक्षणा का आश्रय लिया जाता है उसकी प्रतीति व्यञ्जना के अतिरिक्त अन्य किसी व्यापार से नही हो सकती।[२]

५ ३. १ *अभिधा से व्यञ्जना का भेद*

अभिधामूलक सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि के शब्द शक्तिमूलक भेद मे अनेकार्थक शब्दो के प्रसङ्ग मे जब

---

[१] रसादिलक्षणस्त्वर्थ स्वप्नेऽपि न वाच्य। (का० प्र०, पृ० २३८) ।

[२] अर्थान्तरसक्रमितात्यन्ततिरस्कृतवाच्ययोर्वस्तुमात्ररूप व्यङ्ग्य विना लक्षणैव न भवतीति प्राक् प्रतिपादितम्। (का० प्र०, पृ० २४०) ।

अभिधा एकार्थ मे नियन्त्रित हो जाती ह तब जो दूसरा अर्थ प्रतीत होता ह, वह व्यङ्ग्य ही होता ह तथा उसका वाच्यार्थ के साथ प्रतीत होने वाला उपमानोपमेयभाव भी व्यञ्जनालभ्य ही होता है।

सलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य के अर्थशक्तिमूलक ध्वनि नामक भेद मे शब्द की अपेक्षा वाच्यार्थ प्रभावी रहता ह। वाच्यार्थ प्रतीति के पश्चात् ही व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत होता ह। इस प्रकार अर्थशक्तिमूलक ध्वनि मे पहले वाक्यार्थज्ञान की आवश्यकता होती ह।[1] वाक्यार्थबोध के लिए मीमासको मे दो विचारधाराएँ मिलती ह - अभिहितान्वयवाद तथा अन्विताभिधानवाद। इन दोनो ही सिद्धान्तो मे मम्मट ने व्यङ्ग्यार्थ के अवबोधन मे व्यञ्जनाव्यापार की अनिवार्यता को सिद्ध किया ह।

अभिहितान्वयवादी मीमासको के अनुसार व्यक्तिरूप विशेष मे सङ्केत मानने से आनन्त्य एव व्यभिचार दोष उपस्थित हो जाता ह अत जाति रूप सामान्य मे ही सङ्केतग्रह होता है। इन सामान्यरूप पदार्थों की प्रतीति कराकर अभिधा विरत हो जाती है। उसके पश्चात् आकाङ्क्षा, योग्यता, सन्निधि से उन सामान्य पदार्थों का परस्पर अन्वय होकर वाक्यार्थ की प्रतीति होती हे। यह वाक्यार्थबोध भी तात्पर्य नामक शक्ति से होता हे। इस प्रकार अभिहितान्वयवाद मे वाक्यार्थ की उपस्थिति मे भी अभिधा असमर्थ है तब उस वाक्यार्थ के भी अनन्तर प्रतीत होने वाले व्यङ्ग्यार्थ का बोध अभिधा से कैसे माना जा सकता है ?[2]

अन्विताभिधानवादी मानते हे कि विशिष्ट अर्थात् परस्परान्वित पदार्थ ही वाक्यार्थ के रूप मे उपस्थित होता है। पदार्थों की उपस्थिति के पश्चात् उसका अन्वय नही होता। इस प्रकार अन्विताभिधानवादी वाक्यार्थ बोध के लिए तात्पर्य नामक शक्ति को नही मानते।

सङ्केतग्रह के व्याकरणोपमान आदि उपायो मे व्यवहार एक प्रमुख साधन है। अन्विताभिधानवाद के अनुसार बालक को वृद्धव्यवहार से ही अर्थ-बोध होता है। वाक्य द्वारा ही व्यवहार होता है। कोई अज्ञ बालक माता-पिता आदि (प्रयोजकवृद्ध) के आदेशानुसार कार्य करने वाले अग्रज (प्रयोज्यवृद्ध) के व्यवहार को देखकर ही विविध शब्दो का अर्थ जानता है। मम्मट ने व्यवहार से होने वाले सङ्केतग्रह मे प्रत्यक्ष, अनुमान एव अर्थापत्ति प्रमाणो को सहायक माना है। जेसे कोई बालक प्रयोजक वृद्ध द्वारा उच्चरित 'गामानय' वाक्य का श्रावणप्रत्यक्ष कर प्रयोज्यवृद्ध की गवानयन क्रिया का चाक्षुष प्रत्यक्ष करता हे। इससे वह अनुमान करता है कि अमुक वाक्य का अमुक अर्थ है क्योंकि वाक्य सुनकर ही प्रयोज्यवृद्ध ने यह कार्य किया है। इसके पश्चात् 'अर्थापत्ति' प्रमाण से उसे यह ज्ञात होता है कि 'गामानय' इस वाक्य

---

[1] शब्दशक्तिमूले तु अभिधाया नियन्त्रणेनानभिधेयस्यार्थान्तरस्य तेन सहोपमादेरलङ्कारस्य च निर्विवाद व्यङ्ग्यत्वम्। (का० प्र०, पृ० २४०)।

[2] ----यत्रापदार्थोऽपि विशेषरूपो वाक्यार्थस्तत्राभिहितान्वयवादे का वार्ता व्यङ्ग्यस्याभिधेयतायाम्। (का० प्र०, पृ० २४१)।

का 'गवानयन' रूप क्रिया के साथ वाच्यवाचक भाव सम्बन्ध हे क्योंकि यदि ऐसा कोई सम्बन्ध न होता तो अर्थावबोध भी नही हो सकता था। इसके पश्चात बालक 'गा नय' 'अश्वमानय' इत्यादि वाक्यो को सुनकर तथा तदनुसार व्यवहार देखकर पृथक्-पृथक् पदो का अर्थ जानता हे। इससे यही सिद्ध होता ह कि व्यवहार वाक्य द्वारा ही होता हे पदो द्वारा नही।

अन्विताभिधानवादियो के सङ्केतग्रह की इस प्रक्रिया मे बालक को अश्वमानय, गामानय आदि वाक्यो मे आनय' पद से जिस व्यापार का बोध होता ह वह सामान्य रूप वाला ही होता ह। किन्तु 'निर्विशेष न सामान्यम्' इस नियम के अनुसार वह सामान्य होते हुए भी किसी विशिष्ट वाक्य मे प्रयुक्त होने पर किसी विशिष्ट कम से युक्त होकर सामान्यावच्छादित विशेष रूप वाला हो जाता ह। ऐसी दशा मे इनके अनुसार सामान्यविशेष रूप पदाथ ही सङ्केत का विषय होता हे, वाक्यान्तर्गत अतिविशेष रूप मे प्रयुक्त 'गो' 'अश्व' आदि असङ्केतित ही रहते ह अत वे अभिधा से बोधित नही हो सकते। इस प्रकार अन्विताभिधानवाद मे अभिधा की सीमा सामान्यावच्छादित विशेष तक ही रहती है। जब अभिधा से विशिष्टवाक्य मे प्रयुक्त अतिविशेष रूप अर्थ का ही बोध नही सम्भव है तब उसके भी बाद प्रतीत होने वाले व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति अभिधा से कैसे हो सकती हे ?[1]

कतिपय मीमासक व्यङ्ग्यार्थबोध मे **निमित्तनैमित्तिक भाव** की कल्पना कर शब्द को निमित्त तथा व्यङ्ग्यार्थ को उसका नेमित्तिक मानते है। उनके अनुसार व्यङ्ग्यार्थ का शब्द के अतिरिक्त और कोई निमित्त उपलब्ध नही होता। शब्द तथा व्यङ्ग्यार्थ का निमित्तनैमित्तिकभाव विना किसी शक्ति के नही हो सकता और यह शक्ति अभिधा ही है अत व्यङ्ग्यार्थबोध अभिधाशक्ति से ही हो जाता है उसके लिए दूसरी शक्ति को मानने की आवश्यकता ही क्या है?

मम्मट ने इसका खण्डन करते हुए लिखा है कि निमित्त दो प्रकार का होता है - कारक तथा ज्ञापक निमित्त। शब्द व्यङ्ग्यार्थ को उत्पन्न नही करता अत वह उसका कारक निमित्त नही हो सकता । शब्द अर्थ का बोधक होता है उत्पादक नही । शब्द व्यङ्ग्य अर्थ का ज्ञापक निमित्त भी नही हो सकता क्योंकि ज्ञात विषय का ही ज्ञापक निमित्त होता है। शब्द-श्रवण के पूर्व तो व्यङ्ग्यार्थ का ज्ञान रहता नही। शब्द की ज्ञातता सङ्केतग्रह के पश्चात् ही होती है।

---

[1] (क) तेषामपि मते सामान्यविशेषरूप पदार्थ सङ्केतविषय इत्यतिविशेषभूतो वाक्यार्थान्तर्गतोऽसङ्केतितत्वादवाच्य एव यत्र पदार्थ प्रतिपद्यते तत्र दूरेऽर्थान्तरभूतस्य निश्शेषच्युतेत्यादौ विध्यादेश्चर्चा। (का० प्र०, प० उ०, पृ० २४५) ।
(ख) अनन्वित पदार्थोऽभिहितान्वये अन्वितमात्र त्वन्विताभिधाने तत्रैव सङ्केतोपपत्ते अन्वितविशेषस्तूभयमतेऽप्यवाच्य एव। एव च वाच्यत्वे का वार्त्ता वाच्यविपरीतात्मनो व्यङ्ग्यस्य । (श० व्या० वि०, पृ० ३७) ।

मीमासको के अनुसार सङ्केतग्रह अन्वितसामान्य मे ही होता है अत उसके बाद प्रतीत होने वाले व्यङ्ग्याथ के साथ निमित्त-नैमित्तिक भाव नही उपपन्न हो सकता।[1]

भरतमुनि के रस-सूत्र के प्रसिद्ध व्याख्याकार भट्टलोल्लट कुमारिलभट्ट मतानुयायी मीमासक थे। इन्होने भी व्यञ्जनावृत्ति को नही माना । ये दीर्घतर-अभिधावादी कहे जाते है।[2] इसका आशय ह कि जेमे एक ही बार छोडे गये बाण से पहले शत्रु का कवच भेदन होता हे उसके पश्चात वह बाण उसके वक्षस्थल मे प्रविष्ट होता हुआ प्राणो का हरण कर लेता है। उसी प्रकार एक ही बार उच्चरित शब्द एक ही अभिधा शक्ति से सभी अर्थों का बोध करा देता हे। एक अर्थ की प्रतीति के अनन्तर शब्दशक्ति का तब तक विराम नही होता जब तक वह विवक्षित अर्थ की प्रतीति नही करा लेता। मीमासको की एक उक्ति है- 'यत्पर शब्द स शब्दार्थ' । दीर्घदीर्घतर अभिधावादियो के अनुसार इसका अर्थ यह हे कि शब्द का वही अर्थ होता हे जिसमे वक्ता का तात्पर्य हो।[3]

मम्मट ने इस मत के खण्डन के लिए मीमासको के सिद्धान्त का ही आश्रय लिया हे इनके अनुसार दीर्घदीर्घतर व्यापार को मानने वाले मीमासक 'यत्पर - - -' इत्यादि उक्ति का यथोचित अर्थ नही समझते हे।[4] मीमासको का यह मत है कि जहाँ सिद्ध (कारक या भूत) और साध्य (क्रिया या भव्य) एक साथ प्रयुक्त हो वहाँ सिद्ध पदार्थ साध्य अर्थात् क्रिया के लिए माना जाता हे। इसका तात्पर्य यह है कि विधि वाक्यो मे जितना अश पहले से अप्राप्त रहता हे उतना ही अश विधेय होता है अर्थात् उस वाक्य का उसी मे तात्पय रहता हे। उदाहरण स्वरूप श्येनयाग ज्योतिष्टोम याग का विकृति याग है जिसमे 'लोहितोष्णीषा ऋत्विज प्रचरन्ति' यह विधि वाक्य मिलता है। इस वाक्य मे लोहितोष्णीषत्व ही विधेय है क्योंकि प्रकृतियाग ज्योतिष्टोम मे 'सोष्णीषा विनीतवसना ऋत्विज प्रचरन्ति' वाक्य द्वारा उष्णीषत्व तथा ऋत्विक्प्रचरण का विधान पहले ही हो चुका है। इसी प्रकार 'दध्ना जुहोति' वाक्य मे दधि मात्र का विधान है क्योंकि हवन-क्रिया 'अग्निहोत्र जुहोति' इस वाक्य मे विहित होने से पूर्व प्राप्त है। कभी-कभी एक

---

[1] - - - शब्दस्य प्रकाशकत्वान्न कारकत्व ज्ञापकत्व तु अज्ञातस्य कथ ज्ञातत्व च सङ्केतेनैव स चान्वितमात्रे एव च निमित्तस्य नियतनिमित्तत्व यावन्न निश्चित तावन्नैमित्तिकस्य प्रतीतिरेव कथमिति 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते' इत्यविचारिताभिधानम्। (का० प्र०, प्र० उ०, पृ० २४७) ।

[2] ये त्वभिदधति 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरो व्यापार' इति 'यत्पर शब्द स शब्दार्थ' इति च विधिरेवात्र वाच्य इति - - - । (का० प्र०, पृ० २४८) ।

[3] 'यत्पर शब्द स शब्दार्थ' इति व्यङ्ग्याभिमतोऽपि तात्पर्यात् कथ न वाच्य । (श० व्या० वि०, पृ० ३७) ।

[4] - - - तेऽप्यतात्पर्यज्ञास्तात्पर्यवाचोयुक्तेर्देवानांप्रिया । (का० प्र०, पृ० २४८) ।

वाक्य के सभी अर्थ पहले से अप्राप्त होने के कारण विधेय होते है। जसे 'रक्त पट वय' इस लाकिक वाक्य को किसी जुलाहे से पहली बार ही कहा जाये तो इसमे रक्तत्व, पटत्व तथा वयनव्यापार तीनो ही विधेय होगे।[1]

इस प्रकार 'यत्पर शब्द स शब्दार्थ' इस उक्ति का मीमासा-शास्त्र के अनुसार यही निर्गलितार्थ ह कि वाक्य के विधेय अश मे ही उसका तात्पर्य होता ह।[2] आर वह वाक्योपात्त मे शब्द मे ही होता ह। अर्थात जिस अर्थ मे तात्पर्य होता है उसका वाचक शब्द वाक्य मे अवश्य उपात्त होता ह। व्यङ्ग्यार्थ का बोधक कोई भी शब्द वाक्य मे गृहीत नही होता अत उमे तात्पर्यार्थ नही माना जा सकता यदि वाचक शब्द का ग्रहण किये विना किसी प्रकार से प्रतीत होने वाले अर्थ मात्र मे तात्पर्य मान लिया जाये तब 'पूर्वो धावति' कहने पर 'अपर' इस अर्थ की भी प्रतीति होने लगेगी। अर्थात अनभिप्रेत अर्थ मे भी तात्पर्य होने लगेगा। अत व्यङ्ग्यार्थ को तात्पर्य का विषय मानकर उसे वाच्यार्थ मान लेना युक्तिसङ्गत नही हे।

दीर्घदीर्घतरअभिधावादियो का खण्डन करते हुए लोचनकार एक प्रश्न उठाते हे कि यदि शब्द का ही दीर्घदीर्घतर व्यापार होता है तो सब व्यापारो को हम एक ही व्यापार कैसे मान सकते हे ? क्योंकि समस्त व्यापारो मे उनके विषय बदल जाते है। विषय के साथ-साथ उनके सहकारी भी भिन्न-भिन्न ही होते ह अर्थात् अभिधा का सहकारी सङ्केतग्रह होता हे, लक्षणा का मुख्यार्थबाध तथा व्यञ्जना का वक्तृवेशिष्ट आदि । इस प्रकार उसमे भी विभिन्न व्यापारो को असजातीय ही मानना होगा और असजातीयता स्वीकार कर लेने पर शब्द की पृथक्-पृथक् वृत्तियाँ सिद्ध हो जाती है।[3]

---

[1] (क) 'भूतभव्यसमुच्चारणे भूत भव्यायोपदिश्यते' इति कारकपदार्था क्रियापदार्थेनान्वीयमाना प्रधानक्रियानिर्वर्त्तकस्वक्रियाभिसम्बन्धात् साध्यायमानता प्राप्नुवन्ति। ततश्चादग्धदहनन्यायेन यावदप्राप्त तावद्विधीयते। यथा ऋत्विक्प्रचरणे प्रमाणान्तरात्सिद्धेलोहितोष्णीषा ऋत्विज प्रचरन्ती' यत्र लोहितोष्णीषत्वमात्र विधेय हवनस्यान्यत सिद्धे 'दध्ना जुहोती' त्यादौ दध्यादे करणत्वमात्र विधेयम् । क्वचिदुभयविधि क्वचित् त्रिविधिरपि यथा रक्त पट वयेत्यादौ एकविधिर्द्विविधिस्त्रिविर्धिर्वा। (का० प्र०, प्र० उ०, पृ० २४८-२४९) ।

(ख) इह सर्वाण्येव कारकाणि कारकत्वात् सव्यापाराणीति साध्यायमानानि अतो 'भूतभव्यसमुच्चारणे भूत भव्यायोपदिश्यत' इत्यदग्धदहनन्यायेन यावदविहित तावद् विधीयते इति क्वचित् कारकपदार्थोऽपि विषयो भवति। यथा दध्ना जुहोति पयसा जुहोतीति। (श० व्या० वि०, पृ० ३७) ।

[2] ततश्च यदेव विधेय तत्रैव तात्पर्यमित्युपात्तस्यैव शब्दस्यार्थे तात्पर्यन्न तु प्रतीतमात्रे । एव हि पूर्वो धावतीत्यादावपराद्यर्थेऽपि क्वचित्तात्पर्यं स्यात्। (का० प्र०, पृ० २४९) ।

[3] योऽप्यन्विताभिधानवादी 'यत्पर शब्द स शब्दार्थ' इति हृदये गृहीत्वा शरवदभिधाव्यापारमेव दीर्घदीर्घमिच्छति तस्य यदि दीर्घो व्यापारस्तदेकोऽसाविति कुत ? भिन्नविषयत्वात्। अथानेकोऽसौ तद्विषयसहकारिभेदादसजातीय एव युक्त । सजातीये च कार्ये विरम्यव्यापार शब्दकर्मबुद्ध्यादीना पदार्थविद्भि निषिद्ध । असजातीये चास्मन्नय एव। (ध्व० लो०, प्र० उ०, पृ० ६४) ।

मीमासको की ओर से मम्मट ने पुन एक शङ्का उठाई ह कि 'विष भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्था ' इस वाक्य का तात्पर्य हे 'एतदगृहे न भोक्तव्यम्' किन्तु इस अथ का वाचक कोई भी शब्द वाक्य मे नही ह। अत उपात्त शब्द के ही अर्थ मे तात्पर्य नही होता। मम्मट ने इसका उत्तर इस प्रकार दिया है कि 'विष भक्षय- - -' वाक्य का तात्पर्य 'मा चास्य गृहे भुडक्था ' इस उपात्त शब्दो के अर्थ मे ही है। किसी मित्र का वाक्य होने से पूरे वाक्य का यही अर्थ निकलता हं कि 'इसके घर भोजन करना विष भक्षण से भी अधिक दोषयुक्त ह अत 'इसके घर भोजन नही करना चाहिए' यह अर्थ उपात्त शब्दो से हा निकलता ह।

उपर्युक्त दोनो वाक्यो को भिन्न-भिन्न वाक्य भी नही मानना चाहिए क्योकि दोनो वाक्यो मे परस्पर अङ्गाङ्गिभाव रूप अन्वय छिपा ह जो कि 'च' इस समुच्चय बोधक पद द्वारा स्पष्ट प्रतीत हो रहा हे।[1]

दीर्घदीर्घतर-अभिधावादियो के खण्डन मे मम्मट ने एक यह भी तर्क दिया ह कि यदि शब्द के श्रवणान्तर प्रतीत होने वाले सभी अर्थो की प्रतीति मे अभिधा व्यापार ही माना जाये तब 'ब्राह्मण पुत्रस्ते जात कन्या ते गर्भिणी, इत्यादि वाक्यो से उत्पन्न हर्ष एव शोक को भी वाच्यार्थ क्यो नही मान लिया जाता ? व्यञ्जनावादी यहाँ हर्ष, शोकादि की प्रतीति व्यञ्जना से मानेगे। मुकुलभट्ट ने इसकी प्रतीति आक्षेप से दर्शाया हे।[2]

इसके अतिरिक्त यदि दीर्घदीर्घतरअभिधा से ही सभी अर्थो का बोध हो सके तब लक्षणा को भी मानना निरर्थक हे। मीमासको ने व्यञ्जना को न मानते हुए भी लक्षणा तो माना ही है।[3]

मीमासा-दर्शन मे श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण स्थान और समाख्या इन छ प्रमाणो के एक साथ उपस्थित होने तथा उनमे विरोध का अवसर आने पर पूर्व-पूर्व प्रमाण की अपेक्षा पर प्रमाण दुर्बल माने जाते है। सभी अर्थो को अभिधेय मानने पर उन्हे समकक्ष मानना पडेगा ओर बलाबल का निर्धारण सम्भव नही हो सकेगा। अत सभी अर्थो को अभिधेय नही माना जा सकता।[4]

मीमासा-दर्शन को मान्य उत्पत्ति, विनियोग, अधिकार तथा प्रयोग, इन चार प्रकार की विधियो मे अङ्ग एव अङ्गी के सम्बन्ध की बोधक विधि को ही विनियोग विधि कहते है। श्रुति इत्यादि इसी विनियोग विधि के सहायक छ

---

[1] यत्तु विष भक्षय मा चास्य गृहे भुङ्क्था इत्यत्र 'एतद्गृहे न भोक्तव्यमित्यत्र तात्पर्यमिति स एव वाक्यार्थ' इति । (का० प्र०, पृ० २५०) ।

[2] यदि च शब्दश्रुतेरनन्तर यावानर्थो लभ्यते तावति शब्दस्याभिधैव व्यापार तत कथ 'ब्राह्मण पुत्रस्ते जात, ब्राह्मण कन्या ते गर्भिणी' त्यादौ हर्षशोकादीनामपि न वाच्यत्वम् ? (का० प्र०, पृ० २५१)।

[3] कस्माच्च लक्षणा लक्षणीयेऽप्यर्थे दीर्घदीर्घतराभिधाव्यापारेणैव प्रतीतिसिद्धे । (का० प्र०, पृ० २५१-२५२)।

[4] किमिति च श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-सामाख्याना पूर्वपूर्वबलीयस्त्वम् ? इत्यन्विताभिधानवादेऽपि विधेरपि सिद्ध व्यङ्ग्यत्वम्। (का० प्र०, पृ० २५२)।

प्रमाण है। इस प्रसङ्ग मे यह जेमिनि सूत्र है - 'श्रुतिलिङ्गवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्याना समवाये पारदार्बल्यम अर्थविप्रकर्षात्।' (जे० सू० ३ ३ १४)। इसका तात्पर्य यह ह कि इन श्रुति आदि के एक माथ प्राप्त होने पर पूर्व प्रमाण परवर्ती प्रमाण की अपेक्षा प्रबल माना जाएगा। उदाहरणाथ - अग्निहोत्र प्रकरण मे एक ऋचा है- 'कदाचन स्तरीरसी नेन्द्र सश्चसि दाशुषे' यहाँ यह सन्देह होता है कि इसका विनियोग इन्द्र के उपस्थापन मे हो अथवा गार्हपत्याग्नि मे ? 'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इस श्रुति प्रमाण से उपर्युक्त ऋचा का विनियोग गार्हपत्याग्नि के उपस्थापन मे प्राप्त होता ह, किन्तु लिङ्ग प्रमाण के अनुसार इसका विनियोग इन्द्रोपस्थापन मे होना चाहिए। 'गार्हपत्य' पद का लक्षणा से 'गार्हपत्यसमीपे' यह अर्थ होगा। इस प्रकार से दोनो श्रुतियो मे विरोध उपस्थित होने पर श्रुति प्रमाण से लिङ्ग प्रमाण परवर्ती होने के कारण बाधित हो जाता है तथा गार्हपत्याग्नि का ही उपस्थापन होता है।[1]

व्यङ्ग्यार्थ को तात्पर्यविषयीभूत मानकर उसे वाच्यार्थ सिद्ध करने वाले मीमासको के खण्डन मे मम्मट ने एक यह भी तर्क उपस्थित किया कि असुन्दर नामक गुणीभूतव्यङ्ग्य के भेद मे वाच्यार्थ व्यङ्ग्यार्थ की अपेक्षा अधिक चमत्कारयुक्त होता। वहाँ व्यङ्ग्यार्थ की उपस्थिति तो रहती हे किन्तु वाच्यार्थ मे ही चमत्कार की चरम विश्रान्ति होती है। ऐसे स्थलो मे व्यङ्ग्यार्थ को तात्पर्यविषयीभूत मानकर अभिधेय नही कहा जा सकता अत अभिधा से भिन्न व्यञ्जना -शक्ति को मानना ही होगा।[2] उपर्युक्त सभी तर्को मे यह तर्क सर्वाधिक सशक्त है।

मम्मट ने साहित्यशास्त्र मे भी व्यञ्जना की अनिवार्यता को सिद्ध किया है। काव्य मे शब्दो के परस्परपरिवर्तन से कभी-कभी दोष आ जाता है अत ऐसे शब्दो के प्रयोग त्याज्य होते है। जैसे- 'कुरु रुचिम्' इन दोनो पदो को परस्पर परिवर्तित कर देने से जिस असभ्यार्थ की प्रतीति होती हे वह अभिधेय नही है। यदि अभिधा के अतिरिक्त ओर कोई व्यापार न होता तब इस प्रकार का अर्थ कभी भी प्रतीत नही होता तथा ऐसे प्रयोग काव्य मे वर्जित न होते।[3]

साहित्यशास्त्र मे नित्य एव अनित्य दो प्रकार के दोष माने गये है। दोष रस के ही अपकर्षक होते है और रस सदा ही व्यङ्ग्य होता है। असाधुत्वादि दोष प्रत्येक रस के अपकर्षक होने के कारण नित्य दोष कहे जाते है तथा 'श्रुति कटुत्वादि' दोष शृङ्गार-करुण आदि कोमल रसो मे तो दोष माने जाते है किन्तु रौद्र, भयानक आदि रसो मे नही, अत इन्हे अनित्य दोष कहा जाता है। दोषो के इस नित्यानित्य-विभाग को भी मम्मट व्यञ्जना सिद्धि मे सहायक

---

[1] का० प्र०, बा० बो०, पृ० २३४ ।

[2] कि च वाणीरकुडङ्गित्यादौ प्रतीयमानमर्थमभिव्यज्य वाच्य स्वरूपे एव यत्र विश्राम्यति तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्येऽतात्पर्यभूतोऽप्यर्थ स्वशब्दानभिधेय प्रतीतिपथमवतरन् कस्य व्यापारस्य विषयतामवलम्बतामिति। (का० प्र०, पृ० २६२-२६३)।

मानते है। इनके अनुसार यदि वाच्यवाचक भाव के अतिरिक्त व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव न माना जाए तो दोषो का यह नित्य एव अनित्य का विभाग उपपन्न नही हो सकता।[2] कष्टत्वादि दोष नित्य ही दोष अथवा नित्य ही अदोष होगे। व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव को मान लेने पर व्यञ्जना से द्योतित भिन्न-भिन्न रसो के अनुकूल या प्रतिकूल होने से दोषो को प्रसङ्गवश नित्य अथवा अनित्य कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त व्यञ्जनावृत्ति को न मानने पर वाचक रूप से सभी शब्दो का समान स्थान होने से किसी विशेष पद के प्रयोग से काव्य मे विलक्षणता नही उत्पन्न हो सकती। मम्मट ने कुमारसभव के एक शलेक का अश उद्धृत किया है -

द्वय गत सम्प्रति शोचनीयता समागमप्रार्थनया कपालिन। (कु० स०, ७८/५)

इस श्लोक मे शिव के अनेक पर्यायवाची पदो के होते हुए भी 'कपाली' पद से ही काव्य मे चमत्कार उत्पन्न हो रहा है। इसी पद से उक्त प्रसङ्ग के अनुकूल जुगुप्सा भाव की व्यञ्जना हो रही है। अभिधेयता की दृष्टि से तो 'पिनाकी' 'कपाली' दोनो ही शब्द समान है।

वाच्य अर्थ से व्यङ्ग्यार्थ की विलक्षणता सिद्ध करते हुए मम्मट यह तर्क भी देते है कि वाच्यार्थ तो सभी ज्ञाताओ के प्रति एकरूप होता है। अर्थात् उसका स्वरूप निश्चित होता है। किन्तु व्यङ्ग्यार्थ तत् तत् प्रकरण के वक्ताबोद्धव्यादि की सहायता से नानाविध हो जाता है। जैसे-'गतोऽस्तमर्क' इत्यादि वाक्य का वाच्यार्थ हर दशा मे एक ही होगा किन्तु इसके व्यङ्ग्यार्थ अनेक हो सकते है।[3]

वाच्य से व्यङ्ग्य का भेद निम्नलिखित कारणो से भी सिद्ध किया जा सकता है -

१- वाच्य से व्यङ्ग्य का **स्वरूप** भिन्न होता है। जैसे कही वाच्यार्थ निषेध रूप होता है, किन्तु व्यङ्ग्यार्थ विधि रूप। कही वाच्यार्थ सशय रूप होता है तो व्यङ्ग्यार्थ निश्चय रूप। इसी प्रकार कभी कभी वाच्य के निन्दा रूप होने पर व्यङ्ग्य का स्वरूप स्तुतिरूप होता है जैसे व्याजस्तुति अलङ्कार मे।

---

[1] किञ्च कुरु रुचिम् इति पदयोर्वैपरीत्ये काव्यान्तर्वर्तिनि कथ दुष्टत्व न ह्यत्रासभ्योऽर्थ पदार्थान्तरैरन्वित इत्यनभिधेय एवेति एवमादि, अपरित्याज्य स्यात्। (का० प्र०, पृ० २५६)।

[2] यदि च वाच्यवाचकत्वव्यतिरेकेण व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो नाभ्युपेयते तदाऽसाधुत्वादीना नित्यदोषत्व कष्टत्वादीनामनित्यदोषत्वमिति विभागकरणमनुपपन्न स्यात्। (का० प्र०, पृ० २५६)।

[3] अपि च वाच्योऽर्थ सर्वान् प्रतिपत्तृन् प्रति एकरूप एवेति नियतोऽसौ। न हि 'गतोऽस्तमर्क' इत्यादौ वाच्योऽर्थ क्वचिदन्यथा भवति। प्रतीयमानस्तु तत्तत्प्रकरणवक्तृप्रतिपत्त्रादिविशेषसहायतया नानात्व भजते। (का० प्र०, पृ० २५८)।

२- **काल** की दृष्टि से भी वाच्य व्यङ्ग्य मे भेद होता क्योंकि वाच्यार्थ पहले प्रतीत होता ह और व्यङ्ग्यार्थ बाद मे।

३- वाच्यार्थ केवल शब्दाश्रित होता ह ओर व्यङ्ग्यार्थ शब्द, उसके एकदेश, अर्थ, वर्ण, सघटना आदि के आश्रित होता है, अत दोनो के **आश्रय** भी भिन्न-भिन्न होते ह।

४- वाच्य एव व्यङ्ग्य मे **निमित्त** का भी भेद होता ह क्योंकि वाच्यार्थ ज्ञान शब्दानुशासन से होता ह तथा व्यङ्ग्यार्थ -प्रतीति प्रकरणादि की सहायता तथा प्रज्ञानेर्मल्यादि से होती ह।

५- वाच्य तथा व्यङ्ग्य अर्थो का **कार्य** भी भिन्न भिन्न होता हे क्योकि वाच्यार्थ प्रतीतिमात्र का जनक होता है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ सहृदय के हृदय मे चमत्कारोत्पादन भी करता हे।

६- वाच्याथ के ज्ञाता को बोद्धा तथा व्यङ्ग्यार्थ के प्रतिपत्ता को विदग्ध कहा जाता हे। ये भिन्न **सज्ञाएँ** भी वाच्य व व्यङ्ग्य-भेद को सिद्ध करती हे।

७- वाच्यार्थ एव व्यङ्ग्यार्थ मे **सख्या** का भी भेद होता है। जैसे 'गतोऽस्तमर्क' मे वाच्यार्थ तो एक है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ अनेक।

८- कभी-कभी व्यङ्ग्य का **विषय** वाच्य के विषय से सर्वथा भिन्न होता है। जैसे -

कस्स वा ण होइ रोसो दट्ठूण पिआइ सव्वण अहर ।

सभमरपडमग्घाइणि वरिअवामे सहसु एण्हि॥[1]

इस उदाहरण मे वाच्य का विषय नायिका है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ के पति, उपपति, सखी इत्यादि अनेक विषय हो सकते है।

इस प्रकार वाच्यार्थ से व्यङ्ग्यार्थ की भिन्नता को स्वीकार करना ही होगा क्योंकि यदि इनमे कोई भेद न माना जाये तो ससार मे किसी भी वस्तु का दूसरी वस्तु से कोई भेद नही माना जा सकता। नील एव पीत मे भी एक दूसरे से भिन्नता नही रहेगी। दो वस्तुओ मे विरुद्ध धर्मो की प्रतीति तथा उनके कारणो मे भेद ही उन दोनों की भिन्नता का हेतु है।[2]

---

[1] का० प्र०, पृ० २५८-२६० ।

[2] - - -तत्क्वचिदपि नीलपीतादौ भेदो न स्यात्। उक्त हि- 'अयमेव हि भेदो भेदहेतुर्वा यद्विरुद्धधर्माध्यास कारणभेदश्च'। (का० प्र०, पृ० २६१)।

वाचको को सङ्केतित अर्थ की अपेक्षा होती हे किन्तु व्यञ्जको को उस अर्थ की अपेक्षा नही होती इसलिए वाचकता को ही व्यञ्जकता नही कहा जा सकता।

५ ३. २ लक्षणा से व्यञ्जना का भेद

जिस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ अभिधा से बोधित नही हो सकता उसी प्रकार उसे लक्षणा से भी बोधगम्य नही माना जा सकता। किन्तु लक्षणा मे ही व्यञ्जना का अन्तर्भाव मानने वाले लक्षणावादियो का यह तर्क हो सकता हे कि सख्या, प्रतीति, कालादि की दृष्टि से व्यञ्जना अभिधा से तो भिन्न हे किन्तु व्यञ्जकता मे पायी जाने वाले ये सभी हेतु लक्षणा मे भी उपलब्ध ह, अत व्यञ्जना को लक्षणा से भिन्न नही माना जा सकता।

व्यङ्ग्यार्थ की ही भॉति लक्षणीय अर्थ भी अनेक प्रकार का हो सकता हे। जेसे - 'रामोऽस्मि सर्व सहे,' 'रामेण प्रियजीवितेन तु कृत प्रेम्ण प्रिये नोचितम्', 'रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणै प्राप्त प्रसिद्धि पराम' इत्यादि उदाहरणो मे 'राम' शब्द का वाच्यार्थ तो एक ही है - दशरथ-पुत्र राम। किन्तु इनके लक्ष्यार्थ भिन्न-भिन्न हे। व्यङ्ग्यार्थ के समान लक्ष्यार्थ मे भी इस प्रकार की नानारूपता रहती ही हे।[१]

पूर्वपक्षी के इस तर्क के उत्तर मे मम्मट कहते है कि यद्यपि लक्ष्यार्थ मे भी अनेकरूपता रहती हे किन्तु वह भी वाच्यार्थ की भॉति प्राय नियतस्वरूप वाला ही होता है। उसकी यह नियतता इसलिए है कि मुख्यार्थ से असम्बद्ध अर्थ लक्ष्यार्थ नही हो सकता। किन्तु व्यङ्ग्यार्थ प्रकरणवशात् कही नियत सम्बन्ध वाला होता है, कही अनियत तो कही परम्परित सम्बन्ध वाला होता हे।[२]

लक्ष्यार्थ की प्रतीति मे मुख्यार्थबाध होना आवश्यक है किन्तु व्यङ्ग्यार्थ के लिए मुख्यार्थबाध की कोई आवश्यकता नही है। जैसे 'अत्ता एत्थ - - -' इत्यादि उदाहरण मे मुख्यार्थ के बाद सीधे व्यङ्ग्यार्थ का बोध होता है। इस

---

[१] ननु 'रामोऽस्मि सर्व सहे' इति 'रामेण प्रियजीवितेन तु कृत प्रेम्ण प्रिये नोचितम्' इति 'रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणै प्राप्त प्रसिद्धि पराम्' इत्यादौ लक्षणीयोऽप्यर्थो नानात्व भजते विशेषव्यपदेशहेतुश्च भवति तदवगमश्च शब्दार्थायत्त प्रकरणादिसव्यपेक्षश्चेति कोऽय नूतन प्रतीयमानो नाम ? (का० प्र०, पृ० २६४)।

[२] लक्षणीयस्यार्थस्य नानात्वेऽपि अनेकार्थशब्दाभिधेयवन्नियतत्वमेव न खलु मुख्येनार्थेनाऽनियतसम्बन्धो लक्षयितु शक्यते। प्रतीयमानस्तु प्रकरणादिविषयवशेन नियतसम्बन्ध अनियतसम्बन्ध सम्बद्धसम्बन्धश्च द्योत्यते। (का० प्र०, पृ० २६४-२६५)।

प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि मे लक्षणा के न होने पर भी अभिधा के पश्चात् व्यञ्जना होती ही हे। उपर्युक्त उदाहरण मे अभिधेयार्थ के बाद प्रतीत होने वाले विधि रूप अर्थ की प्रतीति मे व्यञ्जना को मानना ही होगा।[1]

लक्षणा मे भी प्रयोजन की प्रतीति हेतु व्यञ्जना का अनिवार्यरूप से आश्रय लेना ही पडता हे, इस दृष्टि से भी लक्षणा से व्यञ्जना की पृथकता सिद्ध होती ह।[2]

लक्षणा भी यद्यपि व्यञ्जना की ही भॉति शब्द एव अर्थ दोनो का, आश्रय लेती हे किन्तु लक्षणा 'अभिधा-पुच्छभूता' होती हे क्योंकि जिस प्रकार अभिधा सङ्केतग्रह की अपेक्षा रखती ह उसी प्रकार लक्षणा भी मुख्यार्थबाधादि हेतुओ के अधीन है। यह भी एक प्रकार के सङ्केत के समान ही ह।

व्यञ्जना की प्रवृत्ति लक्षणा के बाद ही होती ह अत व्यञ्जना-व्यापार को लक्षणात्मक नही कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त व्यञ्जना सदा लक्षणा से अनुगत नही होती क्योकि अनेकार्थक शब्दो के स्थल मे वह केवल अभिधा के बाद ही होती है। कही-कही व्यञ्जना ऐसे स्थलो पर भी होती है जहॉं अभिधा एव लक्षणा का प्रसङ्ग नही होता। जैसे निरर्थक वर्णो, नेत्र कटाक्षादि के द्वारा होने वाली व्यञ्जना।[3] इस प्रकार मम्मट ने विभिन्न तर्कों से यह सिद्ध किया कि अभिधा लक्षणा तथा तात्पर्य से भिन्न व्यञ्जना शक्ति को अस्वीकार नही किया जा सकता।

मम्मट से पूर्व आचार्य आनन्दवर्धन ने भी भॉति-भॉति के तर्को से व्यञ्जना की लक्षणा से पृथकता सिद्ध की।[4] इस विषय मे मम्मट का मत पूर्णत आनन्दवर्धन के मत पर ही आधारित है।

५ ३. ३ *अखण्डार्थवादियो का खण्डन*

ब्रह्म को ही परम् तत्त्व मानने वाले वेदान्तियो के अनुसार वाक्य अखण्ड होता है। सम्पूर्ण वाक्य ही वाचक

---

[1] न च अत्ता एत्थ ---- इत्यादौ विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनौ मुख्यार्थबाध। तत्कथमत्र लक्षणा? (का० प्र०, पृ० २६५)।

[2] लक्षणायामपि व्यञ्जनमवश्यमाश्रयितव्यमिति प्रतिपादितम्। (का० प्र०, पृ० २६५)।

[3] न च लक्षणात्मकमेव ध्वनन तदनुगमेन तस्य दर्शनात्। न च तदनुगतमेव अभिधालम्बनेनापि तस्य भावात्। न चोभयानुसार्येव अवाचकवर्णानुसारेणापि तस्य दृष्टे। न च शब्दानुसार्येव अशब्दात्मकनेत्रत्रिभागावलोकनादिगतत्वेनापि तस्य प्रसिद्धे। (का० प्र०, पृ० २६५-२६६)।

[4] (क) रूपभेदस्तावदय-यदमुख्यतया व्यापारो गुणवृत्ति‌प्रसिद्धा। व्यञ्जकत्व तु मुख्यतयैव शब्दस्य व्यापार ---अय चान्य स्वरूपभेद यद्गुणवृत्तिरमुख्यत्वेन व्यवस्थित वाचकत्वमेवोच्यते। व्यञ्जकत्व तु वाचकत्वादत्यन्त विभिन्नमेव। (ध्व०, तृ० उ०, पृ० ३१६-३१७)।

(ख) विषयभेदोऽपि गुणवृत्तिव्यञ्जकत्वयो स्पष्ट एव। यतो व्यञ्जकत्वस्य रसादयोऽलङ्कारविशेषा व्यङ्ग्यरूपावच्छिन्न वस्तु चेति त्रय विषय। (ध्व०, तृ० उ०, पृ० ३२१)।

होता है तथा उसका वाक्यार्थ ही वाच्य कहलाता है। वेदान्तियो को 'सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म' 'एकमेवाद्वितीय ब्रह्म', 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्य अखण्ड रूप से ही अखण्ड ब्रह्म का बोध कराते है। इस अखण्डबुद्धि के उत्पन्न होने पर वाक्य मे पृथक्-पृथक् पद एव उसके अर्थ का कोई महत्त्व नही होता। अर्थात वाक्य मे इनका कोई स्वतन्त्र स्थान नही होता। पद-पदार्थादि की कल्पना मिथ्या है वह अविद्या के कारण ही प्रतीत होते है। अखण्डवाक्य ही पारमार्थिक सत्य है।

अखण्ड-वाक्यार्थवाद के इस सिद्धान्त के अनुसार अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना आदि की भी कोई सत्ता नही मानी जा सकती। किन्तु मम्मट के अनुसार वेदान्तियो की यह अखण्ड बुद्धि व्यवहार के स्तर पर नही हो सकती। अविद्या दशा मे आकर पद पदार्थ की कल्पना करनी ही पडती है। इस प्रकार जहाँ पद-पदार्थ का प्रसङ्ग आएगा वहाँ 'निःशेषच्युत- - - ' इत्यादि उदाहरण मे विधि रूप प्रतीयमानार्थ के बोध मे अभिधा, लक्षणा के अक्षम रहते हुए व्यञ्जनावृत्ति की सत्ता को भी अवश्य स्वीकार करना होगा।[1] आचार्य भतृहरि ने भी वाक्य तथा वाक्यार्थ की आखण्डता का प्रतिपादन किया है। यद्यपि वर्ण स्फोट तथा वाक्यस्फोट के रूप मे वर्ण तथा पद भी अर्थवान् माने जाते है। किन्तु वाक्य स्फोट मे ही अर्थों के प्रतिपादन का सामर्थ्य होता है। वाक्यार्थ ही अखण्ड इकाई है। जेसे 'ब्राह्मणकम्बल' कहने पर ब्राह्मणसम्बन्धी कम्बल की प्रतीति होती हे, ब्राह्मणरूप अर्थ की नही । उससे सम्बन्धित विशिष्टकम्बल की अखण्डरूप से प्रतीति होती है। इसी प्रकार 'देवदत्तो गच्छति' वाक्य मे देवदत्तसम्बन्धी गमन की अखण्डप्रतीति होती है। खण्डभूत देवदत्त आदि वाक्य मे अनर्थक होते है । इसी प्रकार वाक्यार्थ भी अखण्ड ही होता है।

'ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति कश्चिद् ब्राह्मणकम्बले।

देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युरनर्थका ।' (वा० प०, २/१४)

वाक्यार्थ की इस अखण्डता का प्रतिपादन करते हुए भी भर्तृहरि ने लोकव्यवहार के निर्वाह के लिए वाक्य का वर्णो एव पदो मे विभाजन स्वीकार किया है -

अविभक्तेऽपि वाक्यार्थे शक्तिभेदादपोद्धृते।

वाक्यान्तरविभागेन यथोक्त न विरुध्यते॥ (वा० प०, २/८८)

---

[1] 'अखण्डबुद्धिनिर्ग्राह्यो वाक्यार्थ एव वाच्य वाक्यमेव च वाचकम्' इति येऽप्याहु तैरप्यविद्यापदपतितै पदपदार्थकल्पना कर्त्तव्यैवेति तत्पक्षेऽप्यवश्यमुक्तोदाहरणादौ विध्यादिर्व्यङ्ग्य एव। (का० प्र०, पृ० २६७)।

'काव्यप्रकाश' की प्रदीप, सारबोधिनी, बालबोधिनी इत्यादि टीकाओ मे मम्मटकृत अखण्डवाक्यार्थवाद की आलोचना को वेदान्तियो का खण्डन माना गया है, तो 'प्रभा' आदि टीकाओ मे इसे शब्दब्रह्मवादी वैयाकरणो की आलोचना मानी गई हे।

वस्तुत मम्मट की यह आलोचना सामान्य रूप से अखण्डवाक्यार्थवाद की हे। चूंकि इस सिद्धान्त को वेदान्तियो के साथ-साथ वयाकरणो ने भी माना ह अत इसे दोनो का खण्डन मानने मे कोइ विरोध नही ह।

५. ३. ४ *अनुमितिवाद का खण्डन*

अभिधावादी मीमासको, लक्षणावादियो तथा वेयाकरणो के मत से सम्भावित व्यञ्जना-विरोधी युक्तियो का खण्डन कर मम्मट ने अन्त मे अनुमितिवादी उस मान्यता का खण्डन किया ह जिसमे शब्द की व्यञ्जकता को लिङ्गतारूप मान कर व्यङ्ग्यार्थ प्रतीति को अनुमेय सिद्ध किया गया ह।

कुछ टीकाकार मम्मट के इस खण्डन को नैयायिक महिमभट्ट के मत का खण्डन मानते है।[1] महिमभट्ट आनन्दवर्धन के परवर्ती आचार्य थे। आनन्दवर्धन ने भी अपने ग्रन्थ मे व्यङ्ग्यार्थ को अनुमानगम्य मानने का खण्डन किया है।[2] इससे सिद्ध है कि महिमभट्ट के पूर्व भी व्यङ्ग्यार्थ को अनुमानगम्य मानने के मत की उद्भावना हो चुकी थी। मम्मट के खण्डन की तो यह शैली ही रही है कि इन्होने किसी भी आचार्य अथवा परम्परा का विशेष रूप से उल्लेख नही किया है। इसी कारण सम्भवत महिमभट्ट के ही विचारो का खण्डन करते हुए भी मम्मट ने अनुमितिवाद के प्रसङ्ग मे इनका उल्लेख नही किया है। चूँकि 'अनुमानवाद' महिमभट्ट के नाम से ही जाना जाता हे, अत मम्मटकृत खण्डन इन्ही का माना जा सकता है।

महिमभट्ट ने 'वाच्यो हि अर्थो न तथा स्वदते यथा स एव प्रतीयमान' कहकर प्रतीयमान अर्थ की सत्ता को तो स्वीकृति दी है किन्तु उसे ये व्यञ्जना नामक शब्दशक्तिविशेष से बोधित न मानकर अनुमान प्रमाण का विषय

---

[1] 'अनुमानाद्व्यङ्ग्यप्रतीति' इति न्यायाचार्यव्यक्तिविवेकग्रन्थकृन्महिमभट्टमत निराकर्तुमाशङ्कते नन्वित्यादिना 'विरुद्धोपलब्धि' इत्यन्तेन। (का० प्र०, बा० बो० पृ० २५२)।

[2] (क) ब्रूयात्-अस्त्यतिसन्धानावसर व्यञ्जकत्व शब्दाना गमकत्व तच्च लिङ्गत्वमतश्च व्यङ्ग्यप्रतीतिर्लिङ्गिप्रतीतिरेवेति लिङ्गिलिङ्गभाव एव- – । (ध्व०, तृ० उ०, पृ० ३६०)।

(ख) तस्माल्लिङ्गिप्रतीतिरेव सर्वत्र व्यङ्ग्यप्रतीतिरिति न शक्यते वक्तुम्। (ध्व०, तृ० उ०, पृ० ३६६)।

मानते है।[१] इन्होने अभिधा को ही एकमात्र शब्द की शक्ति मानी हे।[२] वाच्यार्थ के अतिरिक्त प्रतीत होने वाला सभी अर्थ अनुमेय होता हे।

अनुमान वह प्रमाण है जिसमे किसी प्रत्यक्ष ज्ञान के द्वारा अप्रत्यक्ष वस्तु का ज्ञान होता है।[३] अनुमान की प्रक्रिया मे व्याप्ति एव पक्षधर्मता दो मुख्य अश होते है। जिस प्रत्यक्ष वस्तु द्वारा अनुमान कराया जाता हे वह हेतु अथवा लिङ्ग कहलाता ह[४] तथा जिसका अनुमान होता हे वह साध्य हे। इसी हेतु तथा साध्य के नियत साहचर्य को व्याप्ति कहते है।[५] जहाँ-जहाँ धुँआ होता हे वहाँ-वहाँ अग्नि होती यही नियत साहचर्य है। व्याप्ति-ज्ञान के विना अनुमान नही हो सकता। अनुमान का दूसरा मुख्य अश हे पक्षधर्मता। सन्दिग्धसाध्यवान् पक्ष कहलाता हे ओर पक्ष मे हेतु की उपस्थिति को ही पक्षधर्मता कहते हे।

मम्मट ने अनुमानवादियो के खण्डन की प्रक्रिया मे सर्वप्रथम उनका पक्ष रखा है- वाच्य से असम्बद्ध अर्थ की प्रतीति नही हो सकती क्योंकि ऐसा होने पर किसी शब्द से किसी अर्थ की प्रतीति होने लगेगी अत यह मानना ही होगा कि व्यङ्ग्यार्थ वाच्यार्थ से सम्बद्ध ही होता है। इस प्रकार व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव भी व्याप्ति पर ही आधारित होता है। व्याप्तियुक्त होने तथा नियतधर्मी मे रहने से व्यञ्जना का अनुमान मे ही अन्तर्भाव हो जाता है।[६] जैसे -

भम धम्मिअ वीसद्धो सो सणुओ अज्ज मारिओ तेण

गोलाणईकच्छकुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण॥

इस उदाहरण मे वाच्यार्थ विधि रूप है किन्तु निषेध रूप अर्थ प्रतीयमान हे। प्रकट मे तो नायिका धार्मिक से कुत्ते के मारे जाने की घटना बताकर निःशङ्क भ्रमण के लिए कह रही है, यही विधिरूप अर्थ वाच्यार्थ है, किन्तु वस्तुत वह कुत्ते से भयभीत होने वाले धार्मिक को गोदावरी तट पर सिह की उपस्थिति की सूचना देकर भ्रमण का निषेध कर रही है। यही अर्थ प्रतीयमान है।

---

[१] अनुमानेऽन्तर्भाव सर्वस्यैव ध्वने प्रकाशयितुम्
व्यक्तिविवेक कुरुते प्रणम्य महिमा परा वाचम् । (व्य० वि०, १/१, पृ० १) ।

[२] नापि शब्दस्याभिधाव्यतिरेकेण व्यञ्जकत्व व्यापारान्तरमुपपद्यते- - -। (व्य० वि०, पृ० १२७) ।

[३] लिङ्गपरामर्शोऽनुमानम्। (त० भा०, पृ० ७८) ।

[४] व्याप्तिबलेनार्थगमक लिङ्गम्। (त० भा०, पृ० ७६) ।

[५] यत्र धूमस्तत्राग्निरिति साहचर्यनियमो व्याप्ति। (त० भा०, पृ० ७६) ।

[६] ननु वाच्यादसम्बद्ध तावन्न प्रतीयते यत कुतश्चिद् यस्य कस्यचिदर्थस्य प्रतीते प्रसङ्गाद्। - - - व्याप्तत्वेन नियतधर्मिनिष्ठत्वेन च त्रिरूपाल्लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानमनुमान यत् तद्रूप पर्यवस्यति। (का० प्र०, पृ० २६८-२६६) ।

महिमभट्ट ने 'व्यक्तिविवेक' मे ध्वनि के अनेक उदाहरणो की समीक्षा करते हुए उनमे प्रतीयमान अर्थ को अनुमेय सिद्ध किया है। उपर्युक्त उदाहरण को सर्वप्रथम उद्धृत किया गया है।[1]

अनुमानवादी के अनुसार इस पद्य मे विधिरूप वाच्य तथा निषेध रूप प्रतीयमान अर्थो मे धूम ओर अग्नि के समान ही साध्य-साधन भाव है।[2] इस अनुमान मे 'गोदावरी का तट सिह की उपस्थिति के कारण धार्मिक के भ्रमण के योग्य नही है' यह साध्य ह तथा सिह की उपस्थिति उसका हेतु है। जो जो स्थान भीरुओ के भ्रमण के योग्य होता है वह-वह भयकारण के अभाव के ज्ञानपूर्वक होता है, उदाहरण-स्वरूप घर, जहॉ भय का कारण न रहने से भ्रमण होता है। इस व्याप्ति से तट पर सिह की उपलब्धि के ज्ञान द्वारा भ्रमण के अभाव का ज्ञान होता है। इसलिए व्यतिरेकी अनुमान से निषेध रूप अर्थ की प्रतीति हो जाने से उसके लिए व्यञ्जना मानने की आवश्यकता नही ह।

मम्मट ने इस प्रकार के अनुमान मे हेत्वाभास दर्शाते हुए इसे दोषपूर्ण माना है। 'सिह की उपस्थिति रूप हेतु मे 'अनेकान्तिक' 'विरुद्ध' एव 'असिद्ध' नामक हेत्वाभास ह।

जहॉ-जहॉ भीरु -भ्रमण होता है वहॉ-वहॉ भय के कारण का अभाव होता ही हे ऐसी कोई व्याप्ति नही है। कई स्थानो पर भय-जनक कारणो के उपस्थित रहते हुए भी भीरु व्यक्ति गुरु या स्वामी की आज्ञा अथवा प्रियानुराग के कारण भ्रमण करता ही है। इस प्रकार यहॉ हेतु के 'विपक्ष' मे भी पाये जाने के कारण अनैकान्तिक हेत्वाभास हे।[3]

कुछ व्यक्ति ऐसे भी होते है जो कुत्ते से डरते है किन्तु सिह से नही अत यह 'विरुद्ध' हेतु भी है।[4]

इसके अतिरिक्त गोदावरी के तट पर सिह की उपस्थिति का कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नही है। नायिका के वचन से ही सिहोपस्थिति की सूचना मिल रही है वचन का अर्थ के साथ कोई प्रतिबन्ध निश्चित न होने से उसकी प्रामाणिकता नही होती। इस प्रकार पक्ष मे हेतु की उपस्थिति ही सदिग्ध होने से यहॉ 'असिद्ध' हेत्वाभास भी हे।[5]

---

[1] तदेव ध्वनिलक्षणस्य तद्भेदाना चानुमानेऽन्तर्भावमुपपाद्य सम्प्रति तदुदाहरणाना यथायोग क्रमेणासावुपदर्श्यते। तत्र वस्तुमात्रस्य तावत् -
भम धम्मिअ - - - - (व्य० वि०, तृ० वि०, पृ० ३६६)।

[2] अत्र हि द्वावर्थौ वाच्यप्रतीयमानौ विधिनिषेधात्मकौ क्रमेण प्रतीतिपथमवतरत तयोर्धूमाग्न्योरिव साध्यसाधनभावेनावस्थानात्। - (व्य० वि०, तृ० वि०, पृ० ४००)।

[3] (क) अत्रोच्यते भीरुरपि गुरो प्रभोर्वा निदेशेन प्रियानुरागेण अन्येन चैवभूतेन हेतुना सत्यपि भयकारणे भ्रमतीत्यनैकान्तिको हेतु। (का० प्र०, पृ० २७१)।
(ख) सव्यभिचारोऽनैकान्तिक। - - - -तत्र पक्षसपक्षविपक्षवृत्ति साधारण। (त० भा०, पृ० ११५)।

[4] (क) शुनो बिभ्यदपि वीरत्वेन सिहान्न बिभेतीति विरुद्धोऽपि। (का० प्र०, पृ० २७१)।
(ख) साध्यविपर्ययव्याप्तो हेतुर्विरुद्ध। (त० भा०, पृ० ११५)।

दोषयुक्त हेतु द्वारा 'भम धम्मिअ- – ' इत्यादि उदाहरण मे निषेध रूप अर्थ को अनुमान द्वारा नही सिद्ध किया जा सकता। इसी प्रकार ध्वनि के अन्य उदाहरण भी हे जिनमे प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति को अनुमेय नही कहा जा सकता।

'निःशेषच्युतचन्दन - – - ' इत्यादि उदाहरण मे भी चन्दन-च्यवन आदि कारणो को उपभोग का अनुमापक नही सिद्ध किया जा सकता क्योकि चन्दनच्यवनादि स्नान के कारण भी हो सकता हं इसे अनुमान का हेतु मानने पर अनेकान्तिक' हेत्वाभास हो जाएगा।[२]

व्यञ्जनावादियो के अनुसार उपर्युक्त उदाहरण मे विधि रूप अर्थ की प्रतीति 'अधम' पद की सहायता द्वारा होती हे। इस पद को अनुमिति का सहायक नही माना जा सकता क्योंकि इसका ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाण से नही हुआ हे। कोपाकुलिता नायिका के कथन मे कोई प्रमाण नही हे। यहाँ हेतु असिद्ध भी है। सम्भावना मात्र से व्यङ्ग्य प्रतीति तो हो सकती हे किन्तु अनुमान नही किया जा सकता।[३]

'शब्दव्यापारविचार' मे मम्मट ने अनुमानवादियो का अतिसंक्षिप्त, किन्तु सारगर्भित खण्डन किया है-

व्यङ्ग्यार्थ को अनुमेय नही कहा जा सकता क्योंकि वाच्य एव व्यङ्ग्य अर्थ के मध्य व्याप्ति-ग्रहण का कोई प्रमाण नही होता। जिन प्रकरणादि सामग्री से व्यङ्ग्य प्रतीति होती है उसे किसी प्रमाण से नही जाना जा सकता। ऐसा होना व्यङ्ग्य मानने वालो के लिए कोई दोष नही है। इसका तात्पर्य यही है कि व्यञ्जना शब्द की शक्ति है इसे अनुमान मे अन्तर्भावित नही किया जा सकता। जहाँ अनुमान एव प्रत्यक्ष कार्य नही करता वही शब्द की उपयोगिता होती है।[१]

इस प्रकार मम्मट ने व्यञ्जना-विरोधी जितने भी पक्ष सम्भव हो सकते थे, सबका सूक्ष्मता से विश्लेषण कर उनका खण्डन किया और शब्द की एक शक्ति के रूप मे व्यञ्जनावृत्ति की सुदृढ स्थापना की। विश्वनाथ, हेमचन्द्र, पण्डितराज जगन्नाथ आदि ऐसे परवर्ती आचार्यों ने भी इनके विचारो से प्रभावित होते हुए व्यञ्जना को ही काव्य की

---

[१] (क) गोदावरीतीरे सिहसद्भाव प्रत्यक्षादनुमानाद्वा न निश्चित अपितु वचनात् न च वचनस्य प्रामाण्यमस्ति अर्थेनाप्रतिबन्धादित्यसिद्धश्च। तत्कथमेवंविधाद्धेतो साध्यसिद्धि । - (का० प्र०, पृ० २७१) ।
(ख) तत्र लिङ्गत्वेनानिश्चितो हेतुरसिद्ध । (त० भा०, पृ० १११) ।

[२] तथा निःशेषच्युतेत्यादौ गमकतया यानि चन्दनच्यवनादीन्युपात्तानि तानि कारणान्तरतोऽपि भवन्ति अतश्चात्रैव स्नानकार्यत्वेनोक्तानीति नोपभोगे एव प्रतिबद्धानीत्यनैकान्तिकानि । (का० प्र०, पृ० २७२)।

[३] व्यक्तिवादिना चाधमपदसहायानामेषा व्यञ्जकत्वमुक्तम्। न चात्राधमत्व प्रमाणप्रतिपन्नमिति कथमनुमानम्। एवंविधादर्थादेवंविधोऽर्थ उपपत्त्यनपेक्षत्वेऽपि प्रकाशते इति व्यक्तिवादिन पुनस्तद् अदूषणम्। (का० प्र०, पृ० २७२) ।

उत्कृष्टता का कारण माना। विश्वनाथ ने रस को ही काव्य की आत्मा कहा है। रस की व्यङ्ग्यता का तो कथमपि निषेध नही किया जा सकता। मम्मट ने व्यङ्ग्य की प्रधानता, अप्रधानता को आधार बनाकर काव्य के उत्तम, मध्यम एव अधम भेद किये है। विश्वनाथ ने ध्वनि तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य के नाम से काव्य की दो श्रेणियाँ मानी है। पण्डितराजजगन्नाथ ने काव्य की चार कोटियाँ मानी जिनमे उत्कृष्ट व्यङ्ग्यार्थ युक्त ध्वनि नामक काव्य उत्तमोत्तम काव्य कहलाता हे। गुणीभूतव्यङ्ग्य को इन्होने उत्तमकोटि का काव्य कहा हे तथा मम्मट के अधम काव्य के शब्दचित्र एव अर्थचित्र नामक भेद को पण्डितराज ने क्रमश मध्यम एव अधम काव्य कहा है।

[1] न तु व्यङ्ग्यमनुमेयमिति शक्य वक्तु न हि वाच्यव्यङ्ग्ययो प्रतिबन्धग्रहे किञ्चित् प्रमाण क्रमते। प्रकरणादिसामग्रीमन्तरेण हि न व्यङ्ग्यम्। न च सा प्रमाणगोचरा। (श० व्या० वि०, पृ० ३८)।

उपसंहार

मुकुलभट्ट की 'अभिधवृत्तिमातृका' एव आचार्य मम्मट के 'शब्दव्यापारविचार' की तुलनात्मक समीक्षा के अनन्तर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'अभिधावृत्तिमातृका' शब्दशक्तिविषयक एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इसमे मीमासा, व्याकरण आदि शास्त्रो से सम्बन्धित विचारो का समावेश होते हुए भी मुकुलभट्ट ने सबसे पृथक् अपना अलग ही मत स्थापित किया है। 'शब्दव्यापारविचार' को 'अभिधावृत्तिमातृका' की प्रतिक्रिया मे बना हुआ आलोचनात्मक ग्रन्थ कहा जा सकता है। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ मे ही मम्मट ने इसका उद्देश्य स्पष्ट किया है-

'शब्दस्य चार्थप्रतिपत्तिलक्षणकार्यान्यथानुपपत्त्या कारकत्वात् कल्प्यमानो व्यापारोऽभिधादिशब्दप्रतिपाद्यो नानाप्रकार इति तत्परीक्षार्थं शब्दव्यापारविचारात्मक प्रकरणमिदमारभ्यते।'

इस प्रकार मम्मट ने मुकुलभट्ट का नाम न लेते हुए भी इनका सङ्केत कर दिया है क्योंकि इनसे पूर्व मुकुलभट्ट ने ही सशक्त रूप से अभिधा की नानाप्रकारता को सिद्ध किया है।

मुख्य रूप से तो मम्मट ने मुकुलभट्ट का खण्डन ही किया है किन्तु इस प्रक्रिया मे ये मुकुलभट्ट के कई सिद्धान्तो को अपनाते भी गये है, कही शब्दत तो कही तात्पर्यरूपेण। इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि जहाँ मम्मट एव मुकुलभट्ट के विचारो मे कही वैषम्य है तो कही-कही दोनो मे साम्य भी पाया जाता है। कही-कही तो दोनो ही ग्रन्थो मे एक-सी पक्तियाँ भी मिलती है।

आचार्य मुकुलभट्ट तथा मम्मट दोनो ने ही निश्चयात्मक ज्ञान पर बल देते हुए ग्रन्थ का प्रारम्भ किया है। पदार्थों के निश्चय से ही ससार का व्यवहार सम्पन्न होता है।[1] निश्चय का विषय अर्थ होता है जिसमे शब्द का भी

[1] (क) इह खलु भोगापवर्गसाधनभूताना तद्विपर्ययपरिवर्जनप्रयोजनाना च पदार्थाना निश्चयमन्तरेण व्यवहारोपारोहिता नोपपद्यते। (आ० वृ० मा०, पृ० १)।
(ख) इह हेयोपादेयाना हानोपादाने प्रमाणादेव। तच्च निश्चयात्मतया प्रामाण्य भजते। - (श० व्या० वि०, पृ० १)।

सहभाव रहता है।[१] शब्द द्वारा अर्थप्रतीति के लिए उसमे किसी न किसी व्यापार की कल्पना आवश्यक हे। मुकुलभट्ट ने शब्द का एक ही व्यापार माना है किन्तु मम्मट ने तीन व्यापार माने हे अभिधा, लक्षणा एव व्यञ्जना। इनमे अभिधा वाचक मे तथा लक्षणा वाच्य मे रहने वाला व्यापार हे।[२] इन दोनो से भिन्न एक अन्य व्यापार भी शब्द मे पाया जाता हे जिसे ध्वनन, अवगमन, प्रकाशन, द्योतनादि शब्दो से कहा जाता ह।[३]

मुकुलभट्ट की अभिधा मुख्य एव लाक्षणिक दो प्रकार की ह। इनमे मुख्य अभिधाव्यापार के जाति, गुण, क्रिया ओर यदृच्छा ये चार भेद होते हे। शब्दो की प्रवृत्ति उपाधिमूलक होने से ही इनमे यह भेद होता हे। आचार्य मम्मट ने भी शब्दो की उपाधियो मे ही सङ्केत माना है जो कि जाति, गुण इत्यादि चार प्रकार की ही हे। इस प्रसङ्ग मे दोनो ही ग्रन्थो मे प्रमाण के रूप मे महाभाष्य को उद्धृत किया गया हे।[४]

उपाधिचतुष्टय का वर्णन करने के अनन्तर मुकुलभट्ट एव मम्मट दोनो ने ही जातिवादियो के मत को पूर्व पक्ष के रूप मे रखते हुए समान तर्को से यह मत प्रस्तुत किया है कि गुण, क्रिया तथा यदृच्छा शब्दो मे अनुभूत होने वाली भिन्नता के आधार पर उनमे भी जाति मानते हुए गुण, क्रिया एव यदृच्छा शब्दो को जाति नही कहना चाहिए।[५] गुण आदि मे भिन्नता का कारण आश्रय-भेद ही है। अर्थात् गुण, क्रिया, यदृच्छा शब्दो मे जाति मानने की आवश्यकता नही है क्योकि विभिन्न प्रकार की शुक्लवस्तुओ मे अनुभूत होने वाली भिन्न-भिन्न शुक्लता वस्तुत भिन्न नही है। यह भेद तो शुक्ल गुण के आधार की भिन्नता के कारण है। व्यक्तियो की अनेकता का जहॉ प्रसङ्ग आएगा वहॉ जाति होगी।

मुकुलभट्ट ने जिस प्रकार 'लक्षणा षट्प्रकारैषा' कहते हुए छ प्रकार की लक्षणा का समर्थन किया है उसी प्रकार मम्मट ने भी 'लक्षणा तेन षड्विधा' कहते हुए छ प्रकार की लक्षणाएँ मानी है। यद्यपि इन भेदो के विषय मे, तथा इसके कतिपय उदाहरणो मे दोनो मे मतभेद रहा है, किन्तु 'गङ्गाया घोष' 'आयुर्घृतम्' 'गौर्वाहीक' आदि लक्षणा के उदाहरण दोनो ग्रन्थो मे समान रूप से ही मिलते है।

---

[१] (क) निश्चयश्च शब्दसभेदेनार्थं गोचरीकरोति। (अ० वृ० मा०, पृ० १)।
(ख) निश्चयश्च शब्दसाहित्येनार्थं विषयीकरोति। (श० व्या० वि०, पृ० १)।

[२] एव वाच्यवाचकार्थनिष्ठौ व्यापारावभिधालक्षणे। (श० व्या० वि०, पृ० ७)।

[३] - – स च ध्वननावगमनप्रकाशनद्योतनादिशब्दव्यवहार्य। (श० व्या० वि०, पृ० १८)।

[४] (क) चतुष्टयी हि शब्दाना प्रवृत्तिर्भगवता महाभाष्यकारेणोपवर्णिता। (अ० वृ० मा०, पृ० ४-५)।
(ख) गौ शुक्लश्चलो डित्थ इत्यादौ चतुष्टयी शब्दाना प्रवृत्तिर्भाष्ये कथिता। (श० व्या० वि०, पृ० ४)।

[५] (क) - – गुणक्रियायदृच्छानामिति नैतासा भिन्नेष्वभिन्नाभिधानप्रत्ययहेतु जातिर्घटत इति चत्वार्येव शब्दप्रवृत्तिनिमित्तानि। (श० व्या० वि०, पृ० ५)।
(ख) अत्राभिधीयते-गुणक्रियाशब्दसंज्ञिव्यक्तीनामेव तत्तदुपाधिनिबन्धनभेदजुषामेकाकारतावगतिनिबन्धनत्वम्। (अ० वृ० मा० पृ० १०)।

कुमारिलभट्ट की कारिका उद्धृत करते हुए मुकुलभट्ट ने तीन प्रकार की लक्षणाओ की चर्चा की है- निरूढा, वृद्धव्यवहार के आधार पर होने वाली लक्षणा तथा ऐसी लक्षणाएँ जो अर्थज्ञान की शक्ति से रहित होने के कारण त्याज्य होती है। इसी के समान मम्मट ने भी निरूढा, कार्या तथा उसके विपरीत अर्थात् अकार्या लक्षणाओ की विवेचना की है।

अभिहितान्वयवाद, अन्विताभिधानवाद, दोनो का समुच्चय तथा अखण्डार्थवाद की विवेचना करते हुए मुकुलभट्ट ने इन चारो वादो मे लक्षणा की स्थिति पर विचार किया है। इसके अनुसार अभिहितान्वयवाद मे लक्षणा अभिधा के पश्चात् होती हे, अन्विताभिधानवाद मे अभिधा के पूर्व तथा दोनो के समुच्चय मे अर्थात् जहाँ पद की अपेक्षा से अभिहितान्वयवाद होता है तथा वाक्य की अपेक्षा से अन्विताभिधानवाद वहाँ लक्षणा अभिधा के पश्चात् एव पूर्व दोनो ही होती ह। अखण्डार्थवाद मे जहाँ वाक्य तथा वाक्यार्थ दोनो ही अखण्ड होते हे वहाँ न तो अभिहितान्वयवाद होता हे और न ही अन्विताभिधानवाद। वहाँ भिन्न-भिन्न पदार्थो का अस्तित्व न होने से उनकी अभिधेयता सिद्ध नही होती फलत उस पर आश्रित लक्षणा भी नही होती। मम्मट ने भी उपर्युक्त चारो वादो के अन्तर्गत लक्षणा की वही स्थिति मानी है जो मुकुलभट्ट ने। यहाँ दोनो मे भाषागत समानता भी है।[१]

लक्षणा के मुख्यार्थबाधादि त्रिविध कारणो मे लक्ष्यार्थ के मुख्यार्थ से सम्बन्ध रूप हेतु के विषय मे मम्मट ने सादृश्य एव सादृश्येतर कार्य-कारण आदि सम्बन्धो पर विचार किया है, किन्तु 'शब्दव्यापारविचार' मे इसके लिए मुकुलभट्ट के समान भर्तृमित्र की कारिका भी उद्धृत की है।[२]

सम्बन्धो पर विचार अपेक्षित प्रसङ्ग मे करने के पश्चात् भी मम्मट ने पुन जो इस प्रसङ्ग को उठाया है इसका उद्देश्य कदाचित् मुकुलभट्ट की मान्यता को स्वीकृति प्रदान करना ही है। क्योंकि कुछ परिवर्तनो को छोडकर यह प्रसङ्ग 'अभिधावृत्तिमातृका' के अनुरूप ही है। पाँचो सम्बन्धो मे अभिधेय से सम्बन्ध मे मुकुलभट्ट ने उदाहरण दिया है 'गङ्गाया घोष ' मम्मट ने उसके स्थान पर 'द्विरेफ' उदाहरण प्रस्तुत किया है।

समवाय सम्बन्ध का अर्थ मुकुलभट्ट ने साहचर्य सम्बन्ध माना है और उसका उदाहरण दिया है 'छत्रिणो यान्ति' । 'शब्दव्यापारविचार' मे इस सम्बन्ध को 'सादृश्य' एव 'सम्बन्ध' से भिन्न बताया गया है। उसी के साथ सामीप्य तथा साहचर्य सम्बन्ध के उदाहरण दिये है- 'गङ्गाया घोष ' तथा 'छत्रिणो यान्ति' इससे प्रतीत होता है कि समवाय के

---

[१] (क) - - पदापेक्षयाभिहितान्वय वाक्यापेक्षया तु अन्विताभिधानम्। (अ० वृ० मा०, पृ० ४४) ।
(ख) पदापेक्षयाभिहितान्वय वाक्यापेक्षया त्वन्विताभिधानमिति- - । (श० व्या० वि०, पृ० २६) ।

[२] यश्चसम्बन्धो लक्षणाया निमित्त त पञ्चविधमाहु ।
यथोक्तम् - अभिधेयेन सम्बन्धात् सादृश्यात् समवायत
वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता। (श० व्या० वि०, पृ० ३०) ।

अन्तर्गत सामीप्य एव साहचर्य सम्बन्ध आते है। वैपरीत्य लक्षणा के जो उदाहरण इन आचार्यो ने दिये है उनका भाव एक ही है तथा क्रियायोग लक्षणा का समान उदाहरण ही दिया है-'महति समरे शत्रुघ्नस्त्वम्'।

मुकुलभट्ट एव आचार्य मम्मट के विचारो मे विषमता भी है। इसका मुख्य कारण व्यञ्जनाव्यापार ही है। मुकुलभट्ट ने व्यञ्जना को नही माना है। जिस अर्थ को ध्वनिवादियो ने व्यङ्ग्यार्थ कहा है तथा जिसकी प्रतीति मे व्यञ्जना नामक एक पृथक वृत्ति की स्थापना की उस अर्थ की प्रतीति भी इन्होने लाक्षणिक अर्थ की अभिधा से ही मानी है। ये ध्वनि का अन्तर्भाव लक्षणा मे ही मानते है। लक्षणा एव उसके भेदो का निरूपण तो इन्होने किया है किन्तु उसे भी अभिधा का ही एक अङ्ग मानते हुए। मम्मट व्यञ्जनावादी आचार्य थे फलत जिन्होने व्यञ्जना नही मानी उसका इन्होने विरोध किया तथा विभिन्न तर्को से व्यञ्जना की अपरिहार्यता को सिद्ध किया।

वक्ता आदि की सापेक्षता से होने वाली लक्षणा के मुकुलभट्ट ने तीन उदाहरण दिये है जिनमे मम्मट के अनुसार लक्षणा हो ही नही सकती। मुकुलभट्ट प्रदत्त तीनो उदाहरणो मे मम्मट ने वस्तु, अलङ्कार एव रस की व्यङ्ग्यता सिद्ध की है। मुकुलभट्ट ने ध्वनि को लक्षणा मे ही अन्तर्भूत माना है जबकि मम्मट ने लक्षणा से व्यञ्जना का पार्थक्य सिद्ध करते हुए प्रयोजनवती लक्षणा मे भी उसकी आवश्यकता दर्शायी है। 'ब्राह्मण पुत्रस्ते जात', 'कन्या ते गर्भिणी' इत्यादि वाक्यो से जिस हर्ष एव शोक की प्रतीति होती है उसे मुकुलभट्ट ने आक्षेप-लभ्य माना है। यह आक्षेप इनके अनुसार लक्षणा ही है। व्यञ्जनावादियो को इस अर्थ की प्रतीति व्यञ्जना से ही होगी।

इस प्रकार दोनो आचार्यो मे मतवैभिन्य का मुख्य कारण व्यञ्जना की सत्ता ही है, किन्तु अन्य विषयो मे भी इनमे विरोध रहा है।

मुकुलभट्ट ने उपादान लक्षणा के दो उदाहरण दिये है 'गौरनुबन्ध्य' तथा 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' । इनमे प्रथम उदाहरण मे व्यक्तिरूप अर्थ तथा द्वितीय मे रात्रिभोजन का आक्षेप होने से उपादान लक्षणा है।

मम्मट ने इस दोनो ही उदाहरणो का खण्डन किया है। 'गौरनुबन्ध्य' मे रूढि अथवा प्रयोजन रूप हेतु न होने से इसे लक्षणा का उदाहरण नही मानना चाहिए। जाति से व्यक्ति का जो आक्षेप होता है वह इसलिए क्योंकि जाति एव व्यक्ति मे अविनाभाव सम्बन्ध है। जाति कहते ही व्यक्ति का तत्काल बोध हो जाता है क्योंकि जाति व्यक्ति के विना नही रह सकती। किन्तु मुकुलभट्ट पर यहाँ मीमासको का प्रभाव है। जाति को मुख्यार्थ मानते हुए इन्होने शब्द का पर्यवसान उसी मे मान लिया है। इसके लिए मीमासको का सिद्धान्त भी प्रमाण रूप से प्रस्तुत किया है - विशेष्य नाभिधागच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे।'

'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' मे मुकुलभट्ट ने अनिवार्य रूप से उपादान लक्षणा माना है। अर्थात् वहाँ श्रुतार्थापत्ति माने या अर्थापत्ति लक्षणा होगी ही, किन्तु मम्मट इस स्थल मे मीमासको को मान्य अर्थापत्ति प्रमाण ही मानते है।

मुकुलभट्ट के अन्य जिस मत का मम्मट ने खण्डन किया है वह है इनका 'ताटस्थ्य-सिद्धान्त'। मुकुलभट्ट ने शुद्धा तथा उपचारमिश्रा रूप से लक्षणा के दो भेद किये हैं। शुद्धा लक्षणा मे लक्ष्य का लक्षक से भेद रहता है[1] ओर उपचार मे एक वस्तु पर दूसरी वस्तु का आरोप रहता हे। इसके भी शुद्ध एव गौण दो भेद होते है जिनमे सादृश्य के आधार पर होने वाला गौणोपचार है तथा सादृश्य-भिन्न उपचार शुद्ध हे। मम्मट- 'उपाचार' का अर्थ सादृश्य मानते है इनके अनुसार शुद्धा लक्षणा मे उपचार का मिश्रण नही रहता हे। इसमे भेद रूप ताटस्थ्य भी नही मानना चाहिए क्योकि ऐसा करने पर 'गङ्गा तटे घोष' इस प्रयोग से 'गङ्गाया घोष' इस लाक्षणिक प्रयोग का वैशिष्ट्य ही समाप्त हो जाएगा।[2]

मुकुलभट्ट एव मम्मट दोनो ने ही गौणी सारोपा लक्षणा का उदाहरण दिया है 'गौर्वाहीक'। इसमे मुकुलभट्ट ने गोगत जाड्यमान्द्यादि गुणो के सदृश वाहीकगत गुणो के सम्बन्ध के आधार पर वाहीक मे लक्षणा मानी है, किन्तु मम्मट का मत इनसे भिन्न है। इस सन्दर्भ मे इन्होने तीन मत प्रस्तुत किये है जिनमे प्रथम के अनुसार गो शब्द की लक्षणा परार्थ मे रहने वाले गुणो मे रहती है। द्वितीय के अनुसार परार्थगत अर्थात् वाहीकगत गुण ही लक्ष्य होते है तथा तृतीय मत के अनुसार गो एव वाहीक दोनो मे रहने वाले साधारणगुणो के आश्रयभूत वाहीक मे लक्षणा होती है। इनमे कौन-सा मत मम्मट को अभिप्रेत था इसका सङ्केत इन्होने काव्यप्रकाश मे तो नही किन्तु 'शब्दव्यापारविचार' मे अवश्य किया है। इनके अनुसार जिन्होने वाहीकगत गुणो को गोगत जाड्यमान्द्यादि के सदृश कहा है उन्होने दोनो गुणो मे भिन्नता मान ली है। गुणो मे भिन्नता मानने पर उनमे जाति माननी पडेगी जिससे शब्दो की चतुष्टयीप्रवृत्ति समाप्त हो जाएगी। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि मम्मट तृतीय मत के ही पक्षधर थे।

उपर्युक्त विषमताओ के अतिरिक्त दोनो मे परमाणुत्वादि को गुण अथवा जाति मानने के विषय मे भी मतभेद मिलता है। परमाणु या परिमाडल्य परिमाण न्याय- वैशेषिक के रूप, रस आदि २४ गुणो मे से एक है। मुकुलभट्ट ने इन परमाणुओ को चतुर्विध उपाधियो मे गुण के अन्तर्गत ही माना है किन्तु मम्मट के अनुसार

---

[1] -- सा लक्षकार्थानुपरक्तत्वात् तटस्थतया प्रतीयमाने लक्ष्येऽर्थे द्रष्टव्या। न हि तत्र लक्षकार्थोपरक्ततया लक्ष्यस्यार्थस्यावगति। (अ० वृ० मा० पृ० २०)।

[2] उभयरूपा चेय शुद्धा उपचारेणामिश्रितत्वात्। अनयोर्भेदयोर्लक्ष्यस्य लक्षकस्य च न भेदरूप तटस्थत्वम्- -। (श० व्या० वि०, पृ० ६)।

परमाणुत्वादि को गुण कहना मात्र पारिभाषिक ही है। जबकि मुकुलभट्ट के विचार मे जाति के समान नित्य होते हुए भी इन्हे जाति नही कहा जा सकता।[1]

[1] (क) येऽपि च नित्या परमाणुत्वादयो गुणास्तेषामपि सर्वेषा गुणजातीयत्वादेव प्रकारत्वमेव। (अ० वृ० मा० पृ० ५ - ६)।
(ख) परमाणुत्वादीना तु गुणमध्यपाठात् पारिभाषिक गुणत्वम्। (श० व्या० वि०, पृ० ४)।

परिशिष्ट 'क'

'अभिधावृत्तिमातृका' तथा 'शब्दव्यापारविचार' का प्रकाशन सर्वप्रथम निर्णय सागर प्रेस, बम्बई से हुआ। वहाँ से प्रकाशित पुस्तके अनुपलब्ध है। डॉ० वी० राघवन कृत 'New Catalogus catalogorum' मे 'अभिधावृत्तिमातृका' की विविध पाण्डुलिपियो का विस्तृत विवरण इस प्रकार दिया गया है -

अभिधावृत्तिमातृका alank On the significatory capacities of words, by Mukula Bhatta Alph List Beng Govt p 7 BORI 63 of 1873-74 224 of 1875-76 D pp 57 85 DAVCL 2940 H 168 Jesalmere p 37 Kh 86 L 2438 Luck Uni P 44 Oxf II 1157(2) (fr), 1164 R A Sastri I 54 RASB VI 4802 Report XV Stein 58

Edn N S *Press*

Alph List Beng Govt An alphabetical list of manuscripts purchased upto 1891 Printed at the end Notices of Sanskrit manuscripts by Haraprasada Shastri, Vol XI Calcutta, 1895 Manuscripts in this list are described in the volumes of the Descriptive Catalogue of Manuscripts in the Royal Asiatic Society of Bengal, by Haraprasad Shastri

BORI Manuscripts in the Bahandarkar Oriental Research Institute, Deccan Gymkhana, Poona 4 Quoted by manuscript numbers of the library A copy of the complete card index of the BORI manuscripts, prepared in 1940

D A Catalogue of the Collections of Manuscripts deposited in the Deccan College By Shridhar R Bahandarkar Bombay, 1888

DAVCL A hand-list of the manuscripts (under 'A') in the Lalchand Research Library, D A V College, Lahore 349 manuscripts

H Uber eiene Sammlung indischer Handschriften und Inschriften von E Hultzsch Printed in ZDMG Vol 40, 1 This collection of manuscripts has been purchased by the Bodleian Library, Oxford

Jesalmere A Catalogue of Manuscnpts in the Jain Bhandars at Jesalmere Gaekwad Onental Senes XXI

Kh Report on the search for Sansknt manuscnpts in Bombay the Presidency dunng the year 1880-81 By F Kielhorn Bombay, 1881

L Notices of Sansknt manuscnpts By Rajendralala Mitra Calcutta, 1871-90 11 volumes Volumes X and XI are by Haraprasada Shastn

Luck Uni There are about 200 manuscnpts in the Lucknow University R A Sastn sent names of a few select ones from this collection Now included in the pnnted Catalogue, 'Catalogue of Onental Manuscnpts in the Lucknow University Library', by Kali Prasad, Lucknow, 1951 See pp 32-75 here, for the Sansknt manuscnpts

Oxf II Catalogue of sansknt manuscnpts in the Bodleian Library Vol II, Begun by M Winternitz and completed by A B Keith Oxford, 1905

R.A Sastn Four parts of the Diary of Pandit R.A Shastn's tour in search of Sansknt manuscnpts handed over to the Catalogus Catalogorum work Quoted by pages

RASB A Descnptive Catalogue of the Sansknt Manuscnpts in the Goverment collection under the care of the Royal Asiatic Society of Bengal By Haraprasada Shastn

Vol VI Vyakarana 1931

Report Detailed report of a tour in search of Sansknt manuskripts made in Kashmir, Rajaputana and Central India By G Buhler Bombay, 1877

Stein Catalogue of the Sansknt manuscnpts in the Raghunatha Temple Library of His Highness the Maharaja of Jammu & Kashmir Prepared by M A Stein Bombay 1894

परिशिष्ट 'ख'

निर्णयसागर प्रेस के प्रकाशन के अनन्तर अभिधावृत्तिमातृका तथा शब्दव्यापारविचार दोनो ही पुस्तके हिन्दी अनुवाद सहित भी प्रकाशित हुई है। डॉ० रेवा प्रसाद द्विवेदी ने इनका पृथक्-पृथक् अनुवाद किया है तथा डॉ० ब्रह्ममित्र अवस्थी के 'वृत्तिसमुच्चय' नामक ग्रन्थ मे दोनो पुस्तको का हिन्दी अनुवाद सहित एक साथ प्रकाशन हुआ है।

उपर्युक्त दोनो प्रकाशनो मे मुकुलभट्ट के ग्रन्थ का नाम 'अभिधावृत्तमातृका' दिया गया है जबकि निर्णय सागर वाले मे 'अभिधावृत्तिमातृका' ही मिलता है। वस्तुत इस ग्रन्थ के नाम मे वृत्त के स्थान पर वृत्ति मानना ही युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है। मुकुलभट्ट ने अन्तिम कारिका मे लिखा भी है- सूरिप्रबोधनायेयमभिधावृत्तिमातृका।

इन्होने अभिधावृत्ति शब्द का प्रयोग एक बार ही किया है, वृत्त शब्द अनेक बार आया है। अभिधावृत्ति के दस वृत्त अर्थात् मण्डल का विवेचन इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य है। निश्चयात्मक ज्ञान समस्त व्यवहार के मूल मे रहता है। निश्चयात्मक ज्ञान शब्द एव अर्थ के विना नही हो सकता और शब्द विना व्यापार के अर्थबोध नही करा सकता। अभिधावृत्ति शब्द का ही व्यापार है जिसके मुख्य और लाक्षणिक रूप से प्रथमत दो भेद होते है[1] तथा इनके अवान्तर भेदो की सख्या दस होती है।

मुकुलभट्ट से पूर्व आचार्य आनन्दवर्धन ने शब्द के तीन व्यापार माने है- वाचकत्व, गुणवृत्ति तथा व्यञ्जकत्व। इनमे प्रथम दो के लिए इन्होने वृत्ति का प्रयोग करते हुए उन्हे मुख्यवृत्ति तथा गुणवृत्ति कहा है। स्पष्ट है यहाँ वृत्ति व्यापार अर्थ मे है। सम्भवत इसी से प्रेरित हो मुकुलभट्ट ने शब्दव्यापार के लिए वृत्ति शब्द का प्रयोग किया है।[2]

अभिधावृत्तिमातृका का समास-विग्रह करने पर इसका अर्थ होगा अभिधावृत्ति है माता जिसकी। इसका विग्रह इस प्रकार होगा- अभिधावृत्ति एव माता यस्या सा। देवमातृका देशा (देव पर्जन्य माता येषा देवमातृका वृष्ट्म्बुजीविनो देशा)[3] के समान यह भी अन्य पद का विशेषण है। विचार करने पर यह साहित्य-विद्या का विशेषण प्रतीत होता है। मुकुलभट्ट के अनुसार साहित्य से तात्पर्य काव्यशास्त्र है। इनका मानना है कि अभिधावृत्ति का दश-वृत्त पद,वाक्य एव प्रमाण मे तो प्रतिबिम्बित है ही साथ ही इसका उपयोग जो सम्पूर्ण व्यवहार के दर्पणभूत साहित्य मे

---

[1] पदार्थाना निश्चयमन्तरेण व्यवहारोपारोहिता नोपपद्यते। - - - - निश्चयश्च शब्दसभेदेनार्थ गोचरीकरोति। शब्दस्य च मुख्येन लाक्षणिकेन वाभिधाव्यापारेणार्थावगतिहेतुत्वमिति मुख्यलाक्षणिकयोरभिधाव्यापारयोरत्र विवेक क्रियते। अ० वृ० मा०, पृ० १ ।

[2] वाचकत्वगुणवृत्तिव्यतिरिक्तो व्यञ्जकत्वलक्षण शब्दव्यापारोऽस्तीत्यस्माभिरभ्युपगतम्। ध्व०, तृ० उ०, पृ० ३६१ ।

[3] किरातार्जुनीयम्, १/१७ । टीका ।

करता है उसकी वाणी प्रसन्न होती है अर्थात् वह वागीश्वर हो जाता है।[1] वाणी के अनेक अर्थों[2] मे यदि सरस्वती अर्थ ले तो उसका अर्थ होगा सरस्वती प्रसन्न होती हे और यदि भाषा अर्थ ले तो वाणी की प्रसन्नता का अभिप्राय होगा उसका पुष्ट होना।

इस प्रकार मुकुलभट्ट ने साहित्यविद्या के लिए अभिधा की उपयोगिता को सिद्ध कर दिया है। स्पष्ट है कि यह अभिधावृत्ति साहित्यविद्या के लिए माता के समान हे। माता के भी अनेक अर्थो मे यहॉ जननी तथा भूमि ये दो अर्थ लिये जा सकते है।[3] वाणी के पुष्टिकरण के अभिप्राय से माता का अर्थ जननी हुआ क्योंकि जननी का कार्य पोषण करना भी होता है। इसके अतिरिक्त भूमि जिस प्रकार प्राणियो के लिए आधारस्वरूपा होती है उसी प्रकार अभिधावृत्ति भी सम्पूर्ण सहित्यविद्या के लिए आधारभूमि हे।

इस दृष्टि से इस ग्रन्थ का नाम अभिधावृत्तिमातृका सर्वथा सार्थक ही है। मकुलभट्ट के पूव आचार्य शालिकनाथमिश्र, जो कि प्रभाकरमिश्र के शिष्य थे, के ग्रन्थ का नाम भी 'वाक्यार्थमातृका' मिलता है।

---

[1] पदवाक्यप्रमाणेषु तदेतत् प्रतिबिम्बितम्
यो योजयति साहित्ये तस्य वाणी प्रसीदति। (अ० वृ० मा०, पृ० ७२)।

[2] ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग्वाणी सरस्वती। (अ० को०, पृ० ६२)।

[3] माता गौर्दुर्गा जननी मही मातरश्च ब्रह्माण्याद्या। इति हैम २/१८१।

परिशिष्ट 'ग'

निर्णयसागर प्रेस से प्रकाशित 'अभिधावृत्तिमातृका' तथा डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी कृत अनुवाद सहित प्रकाशित ग्रन्थो मे पाठ-भेद भी मिलता है। दोनो सस्करणो मे मिलने वाले पाठ-भेदो की सूची इस प्रकार है-

१ (क) निर्णयसागर प्रेस -

क्रियाविशेषास्तत्समवेत सामान्यमेव वाच्यम्।

(ख) डॉ० रेवाप्रसादद्विवेदी द्वारा सम्पादित -

क्रियाविशेषा तत्समवेत तासा सामान्यमेव वाच्यम्। (पृ० ८)

२ (क) यत्र वस्त्वन्तरे उपचर्यते।

(ख) यत्र वस्त्वन्तर वस्त्वन्तरे उपचर्यते। (पृ० ११)

३ (क) अत्रापि च वितर्कानिव धारयतोऽपि पयोधे वितर्कधारणोपनिबन्धात्- - -।

(ख) अत्रापि च वितर्कानधारयतोऽपि पयोधे वितर्कधारणोपनिबन्धात् - - -। (पृ० ३४)

४ (क) अच्प्रत्ययस्याभाव इत्यप्रत्यय - - - ।

(ख) अण्प्रत्ययस्याभाव इति अच् प्रत्यय - - - । (पृ० ३८)

५ (क) तथा त्रिकभेदाश्च- - - - ।

(ख) तथा तत्त्रिकभेदाश्च - - - । (पृ० ४०)

६ (क) विभक्तन्यम्भागे निवेश्य- - - -।

(ख) विभक्तव्यभागे निवेश्या - - - -। (पृ० ४८)

७ (क) वाच्यस्य विवक्षितत्वाविवक्षितत्वेन तस्यात्यन्त तिरस्कार।

(ख) वाच्यस्य विवक्षितत्वाविवक्षितत्वेन तस्य नात्यन्त तिरस्कार। (पृ० ५६)

८ (क) तथाहि तत्र विवक्षितान्यपरता सहृदयै काव्यवर्त्मनि निरूपिता। लक्षणे तु वाच्यस्यविवक्षितता अर्थान्तरसक्रमितत्वात्।

(ख) तथाहि तत्र विवक्षितान्यपरता सहृदयै काव्यवर्त्मनि निरूपिता वाच्यस्यार्थान्तसक्रमितत्वात्। (पृ० ६०)

६ (क) लक्षणात्मिकयोस्तु तयोर्वाच्यस्य विवक्षा नत्वत्यन्त तिरस्कार - - - ।

(ख) लक्षणात्मिकयोस्तु तयोर्वाच्यस्याविवक्षित्व नत्वत्यन्त तिरस्कार - - - (पृ० ६३)

१० (क) इदानी सकलशब्दविषयविभागात्मकस्य- - - - ।

(ख) सकलशब्दाविभागात्मकस्य- - – ।(पृ० ६६)

११ (क) भट्टमुकुलविरचिता अभिधावृत्तिमातृका- - – ।

(ख) भट्टमुकुलविरचिता अभिधावृत्तमातृका- - - - – ।(पृ० ७३)

सहायक ग्रन्थ-सूची

अभिधावृत्तिमातृका - मुकुलभट्ट, हिन्दीभाष्य सहित, डॉ० रेवाप्रसादद्विवेदी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९७३ ।

अमरकोष - रामाश्रमी टीका सहित, चौखम्बा सस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, १९९७ ।

अलङ्कारमहोदधि नरेन्द्रप्रभसूरि, ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, बडौदा, १९४२ ।

अलङ्कारसर्वस्वम् - रूय्यक, 'सञ्जीवनी' व्याख्या सहित, मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, दिल्ली, १९९५ ।

आचार्य मम्मट - प्रो० धुडिराजगोपालसप्रे, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, १९७१ ।

आनन्दवर्धन - डॉ० रेवाप्रसादद्विवेदी, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, १९७२ ।

ऐतेरेय ब्राह्मण (भाग १) - अनुवादक डॉ० सुधाकरमालवीय, तारा बुक एजेन्सी, वाराणसी, १९९६ ।

कवि ओर काव्यशास्त्र - डॉ० सुरेशचन्दपाण्डे, राका प्रकाशन, इलाहाबाद, १९८१ ।

काव्यानुशासनम् - हेमचन्द्र, मेहरचन्द्र, लक्ष्मणदास पब्लिकेशन्स, दिल्ली, १९८६ ।

काव्यालङ्कार - भामह, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, १९८५ ।

काव्यालङ्कारसूत्राणि - वामन, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, १९९५ ।

काव्यालङ्कारसारसग्रह - उद्भट, ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बडौदा, १९३१ ।

काव्यालङ्कारसारसग्रह एव लघुवृत्ति की व्याख्या - व्याख्याकार डॉ० राममूर्तित्रिपाठी, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९९६ ।

काव्यलक्षणम् - दण्डीकृत काव्यादर्श पर आधारित - रत्नश्रिया टीका सहित, मिथिलाविद्यापीठ, दरभगा, १९५७ ।

काव्यादर्श - दण्डी, व्याख्याकार - आचार्यश्रीरामचन्द्रमिश्र, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९९६ ।

काव्यतत्त्वसमीक्षा- नरेन्द्रनाथशर्माचौधरी, मोतीलाल बनारसीदास, बैग्लो रोड जवाहर नगर, दिल्ली,१९५६ ।

काव्यप्रकाश- मम्मट, डॉ० श्रीनिवासशास्त्री, साहित्यभण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ, १९८५ । (उद्धरण इसी से दिये गये है) ।

काव्यप्रकाश- मम्मट - बालबोधिनी टीका झलकीकरवामनभट्ट विरचित, भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९८३ ।

काव्यप्रकाश (१६ टीकाओ सहित) - मम्मट - डॉ० ज्योत्स्ना मोहन, नाग प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम खण्ड - १९९५, द्वितीय खण्ड - १९९७ ।

काव्यप्रकाश - मम्मट- आचार्यविश्वेश्वरकृत हिन्दी टीका, ज्ञान-मण्डल लिमिटेड, वाराणसी, १९९० ।

किरातार्जुनीयम्- भारवि, मल्लिनाथ की टीका सहित, (प्रथम अध्याय) अक्षयवट प्रकाशन, बलरामपुर हाउस, इलाहाबाद, १९८३ ।

जैमिनिसूत्रवृत्ति- सुबोधिनीनामिका, मुद्रण- मेडिकल हाल, वाराणसी, १९५६ ।

तत्त्वसग्रह- आचार्यश्रीशान्तरक्षित, (प्रथम भाग), बौद्ध भारती, वाराणसी, १९८१ ।

तर्कभाषा - केशवमिश्र, १ साहित्यभण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ, १९८७ (उद्धरण इसी से दिये गये हैं)।

२ आचार्यविश्वेश्वरकृत हिन्दी व्याख्या, चौखम्बा सस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी, १९९३ ।

दशरूपक - धनञ्जय (धनिककृत अवलोक टीका सहित) १ साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ, १९८६-८७ ।

२ 'चन्द्रकला' हिन्दी व्याख्या सहित, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १९९० ।

ध्वन्यालोक - आनन्दवर्धन

१ लोचन सहित (भाग १ - ३) -मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली। प्रथम भाग-१९८६ , द्वितीय भाग- १९८६, तृतीय भाग-१९८१ । उद्धरण इसी से दिये गये है।

२ आचार्यविश्वेश्वर की हिन्दी व्याख्या- ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, २०४२ वि० सवत् ।

३ दीपशिखा टीका सहित, आचार्यचण्डिकाप्रसादशुक्ल, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, १६८३ ।

ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त (भाग-१) - डॉ० भोलाशङ्करव्यास, नागरीप्रचारिणी सभा, काशी, २०१३ वि० सवत् ।

ध्वनिप्रस्थान मे आचार्य मम्मट का योगदान- डॉ० जगदीशचन्द्रशास्त्री, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, १६७७ ।

ध्वनिसिद्धान्त तथा तुलनीय साहित्य चिन्तन- डॉ० बच्चूलालअवस्थी 'ज्ञान', मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल, १६७२ ।

ध्वनिसिद्धान्त विरोधी सम्प्रदाय, उनकी मान्यताएँ - डॉ० सुरेशचन्द्रपाण्डे, वसुमती प्रकाशन, इलाहाबाद, १६७२ ।

न्यायभाष्य- वात्स्यायनमुनि, सुधी प्रकाशन, वाराणसी, १६८६ ।

न्यायमञ्जरी - जयन्तभट्ट, चौखम्बा सस्कृत सीरिज ऑफिस, वाराणसी, १६३६ ।

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली- श्री विश्वनाथपचाननभट्टाचार्य, चौखम्बा सस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, १६६१ ।

निरुक्त - यास्क, पाँच अध्याय सहित (१-४, ७), १ अनुवाद-पण्डित श्रीशिवनारायणशास्त्री, इण्डोलॉजिकल बुक हाउस, वाराणसी, १६७२ । (उद्धरण इसी से दिये गये हे) ।

२ मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास पब्लिकेशन्स, १६८७ ।

परमलघुमञ्जूषा- नागेशभट्ट, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, १६८५ ।

प्रकरणपञ्चिका - शालिकनाथमिश्र, चौखम्बा सस्कृत बुक डिपो, बनारस, १६०३ ।

प्रतापरुद्रीय - विद्यानाथ, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, १६८१ ।

प्राचीन भारत- डॉ० राजबलीपाण्डेय, नन्दकिशोर एण्ड सन्स, वाराणसी, १६७६-७७ ।

भारतीयदर्शन - डॉ० राधाकृष्णन् (भाग १ - २), राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, १६८६ ।

भारतीय दर्शन का सर्वेक्षण - श्रीसगमलालपाण्डेय, सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, १६७६ ।

भारतीय साहित्य-शास्त्र- गणेशत्रयम्बकदेशपाण्डे, नागपुर ।

भारतीय साहित्यशास्त्र-कोष- डॉ० राजवशसहाय 'हीरा', बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, १६७३ ।

महाभाष्य - प्रदीपोद्योत टीका सहित भाग १ - ४ चौखम्बा सस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, भाग १ - १६६२, भाग २ - १६६१, भाग ३ - १६६१, भाग ४ - १६६१ ।

मीमासा-दर्शन - जैमिनि, पाँच टीकाओ सहित (भाग १ - ३), तारा प्रिटिग वर्क्स, वाराणसी, १६८४ ।

मीमासा-दर्शनम् - शाबरभाष्य, तन्त्रवार्तिक तथा टुप्टीका सहित (भाग १-७), आनन्दाश्रम सस्था, पुणे, भाग १ - १६७६, भाग २- १६८१, भाग ३- १६८०, भाग ४- १६८४, भाग ५ - १६८४, भाग ६- १६८४, भाग ७- १६८५ ।

मीमासा-दर्शन का विवेचनात्मक इतिहास- डॉ० गजाननशास्त्रीमुसलगाँवकर, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १६६२ ।

रसगङ्गाधर - पण्डितराजजगन्नाथ (भाग १ - ३) चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, भाग १- १६६०, भाग२ - १६८७, भाग३ - १६८७ ।

राजतरङ्गिणी - कल्हण, चौखम्बा सस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, १६८५ ।

व्यक्तिविवेक- महिमभट्ट, चौखम्बा सस्कृत सीरिज आफिस वाराणसी, १६६३ ।

व्यञ्जनाविमर्श - डॉ० रविशङ्करनागर, वन्दना प्रकाशन, दिल्ली, १६७७ ।

व्याकरण-तन्त्र का काव्यशास्त्र पर प्रभाव - डॉ० हरिराममिश्र, ईस्टर्न बुक लिकर्स, दिल्ली, १६६४ ।

वाक्यपदीय- भर्तृहरि

१ ब्रह्मकाण्ड - चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १६६० ।

२ वाक्यकाण्ड- सम्पूर्णानन्द -सस्कृत-विश्वविद्यालय, वाराणसी, १६८० ।

३ पदकाण्ड (जाति-द्रव्य-सम्बन्ध समुद्देशात्मक), सम्पूर्णानन्द-सस्कृत-विश्वविद्यालय, वाराणसी, १६६१ ।

४ पदकाण्ड (भूयोद्रव्य - गुण- दिक्- साधन - क्रिया- काल- पुरुष- सया - उपग्रह - लिङ्ग समुद्देशात्मक) ।

वाक्यार्थमातृका - शालिकनाथमिश्र, हिन्दी व्याख्या- डॉ० ब्रह्ममित्र अवस्थी, इन्दु प्रकाशन, दिल्ली, २०३६ वि० सवत् ।

विधिशास्त्र का साहित्य पर प्रभाव, मालाचन्द्रा, मित्तल पब्लिकेशन्स, दिल्ली ।
वेदान्तसार - सदानन्द, पीयूष प्रकाशक, इलाहाबाद, १६८३ ।
वेदान्तपरिभाषा - धर्मराजाध्वरीन्द्र, चौखम्बा सस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी, १६६२ ।
वैदिक कोष - हसराज एव भगवद्दत्त, विश्वभारती अनुसन्धान परिषद्, ज्ञानपुर, वाराणसी, १६२६ ।
वैयाकरणसिद्धान्तमञ्जूषा - नागेशभट्ट, सम्पूर्णानन्द सस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १६७७ ।
वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा - नागेशभट्ट, चौखम्बा सस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी, १६६३ ।
वृत्तिदीपिका - श्री कृष्णभट्ट, चौखम्बा सस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी।
वृत्तिसमुच्य - १ (प्रथमगुच्छके प्रथमो भाग) डॉ० ब्रह्ममित्रअवस्थी, इन्द्र प्रकाशन, दिल्ली, १६७७ ।
२ (प्रथम गुच्छके द्वितीयो भाग) - डॉ० ब्रह्ममित्रअवस्थी, इन्द्र प्रकाशन, दिल्ली १६७८ ।
वृत्तिमीमासा - डॉ० श्रीकृष्णशर्मा, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, १६६१ ।
श्लोकवार्तिक - कुमारिलभट्ट - (न्यायरत्नाकर व्याख्या सहित), रत्ना पब्लिकेशन्स, कमच्छा, वाराणसी, १६६३ ।
शक्तिवाद- श्रीगदाधरभट्टाचार्य, चौखम्बा सस्कृत सीरिज, वाराणसी, १६८६ ।
शब्दव्यापारविचार - मम्मट, हिन्दी व्याख्या- डॉ० रेवाप्रसादद्विवेदी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १६७४ ।
शब्दशक्ति- (आचार्य मम्मट के काव्यप्रकाश पर आधारित), डॉ० पुरुषोत्तमदासअग्रवाल, रोशनलाल जैन एण्ड सन्स, जयपुर, १६७० ।
शब्दशक्तिप्रकाशिका- जगदीशभट्टाचार्य, चौखम्बा सस्कृत सीरिज, वाराणसी ।
शब्दार्थमीमासा - डॉ० गौरीनाथशास्त्री, अनुवादक - श्री मिथिलेश चतुर्वेदी, सम्पूर्णानन्द सस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १६६२ ।
शाब्दबोधविमर्श - डॉ० बद्रीनाथसिह, डी० ४३/२० गोदौलिया, वाराणसी ।
साहित्यदर्पण- विश्वनाथ, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १६८३ ।
साहित्यमीमासा- मङ्खक - सम्पूर्णानन्द सस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, १६८४ ।
सिद्धान्तकौमुदी- (तत्त्वबोधिनी टीका सहित) चौखम्बा सस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, १६६७ ।
सस्कृत कवि-दर्शन- डॉ० भोलाशङ्करव्यास, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, १६८३ ।
सस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास- डॉ० सुशीलकुमारडे, हिन्दी अनुवाद- श्री मायारामशर्मा, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी पटना, १६८८ ।
सस्कृत काव्यशास्त्र का इतिहास- पी० वी० काणे, हिन्दी अनुवाद डॉ० इन्द्रचन्द्रशास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १६६४ ।
सस्कृत काव्यशास्त्र पर भारतीय दर्शन का प्रभाव - डॉ० अमरजीतकौर, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली, १६७६ ।
सस्कृत काव्यशास्त्र मे तात्पर्य एव व्यञ्जनाशक्ति - एक विवेचन- डॉ० दामोदररामत्रिपाठी, प्रकाशक- डॉ० लखनप्रसादजायसवाल, सस्कृत विभाग, डी० ए० वी० डिग्री कालेज, वाराणसी, १६८८ ।
सस्कृत काव्यशास्त्र मे लक्षणा का उद्भव तथा विकास - ठाकुरदत्तजोशी, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, १६८६ ।
सस्कृत ध्वनिविज्ञान - डॉ० हरिशङ्करत्रिपाठी, शारदा पुस्तक भवन, इलाहाबाद १६८६ ।
सस्कृत सुकवि-समीक्षा - आचार्यबलदेवउपाध्याय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १६८७ ।
सस्कृत-हिन्दी-कोष - वामनशिवरामआप्टे, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १६८७ ।
सस्कृत-हिन्दी- इंग्लिश कोष - सूर्यकान्त, ओरिएण्ट लॉगमैन लिमिटेड, दिल्ली, १६६५ ।
हिन्दी काव्यमीमासा - राजशेखर, हिन्दी व्याख्या-डॉ० गङ्गासागरराय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १६८२ ।
हिन्दी काव्यालङ्कार - रुद्रट, व्याख्याकार श्रीरामदेवशुक्ल, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १६८६ ।
हिन्दी वक्रोक्तिजीवित - कुन्तक, हिन्दी व्याख्याकार - आचार्यविश्वेश्वर, आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, १६५५ ।
हिन्दी सर्वदर्शन सग्रह - माधवाचार्य, हिन्दीभाष्यकार, डॉ० उमाशङ्करशर्मा 'ऋषि', चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १६६४।

Abhınavagupta - An Hıstorıcal and Phılosophıcal Study, by Dr K C Pandey, Chowkhmba Sanskrıt Serıes Office, 1963
Bhoja's Srıngar Prakasha by V Raghavan, Srı Krıshnapuram street, Madras, 1963
Phılosophy of Word and Meanıng by Dr Gaurı Nath Shastrı, Calcutta Sanskrıt College research serıes 5) 1949
Number of Rasas by V Raghvan (Adyar Lıbrary)
Hıstory of Sanskrıt Poetıcs, by S K Dey, 2nd Ed 1960
Dhvanvaloka Theory of Suggestıon ın Poetry - by K Krıshnamoorthy (OBA Poona, 1955)
New Catalogus Catalogorum, An Alphabatıcal Regıster of Sanskrıt and Allıed Works and Authors, Vol 1, Unıversıty of Madras, 1969

पत्र - पत्रिकाएँ

Englısh

Annals of Bhandarkar Orıental Research Instıtute
Allahabad Unıversıty Studıes, Allahabad,
Journal of Ganganath Jha Instıtute, Allahabad
Journal of Andhra Hıstorıcal Research Socıety
Indıan Hıstorıcal Quarterly, Calcutta
Journal of Indıan Phılosophy, Boston, U S A
Tattvaloka, Journal of Vedanta, Banglore
Rıtam (ऋतम) Journal of Akhıl Bhartıya Sanskrıt Parıshad, Lucknow

हिन्दी

प्रज्ञा, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय पत्रिका, वाराणसी।
सगमनी (सस्कृत त्रैमासिकी पत्रिका) सस्कृत साहित्य-परिषद्, दारागज, प्रयाग ।
अजस्रा (सस्कृत त्रैमासिकी) अखिल भारतीय सस्कृत-परिषद्, लखनऊ ।